Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

a Samaj Foundation Chenna

PRAMRSH

Vol. 12 1990 No. 1-4

G. K. V.
HARDWAR

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

११९०८.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

111908

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

111908

परामर्श

(हिंदी)

111908

खण्ड १२ अंक १

दिसम्बर, १९९० / मार्गशीर्ष–पौष, २०४७

1990
56

संपादक

सुरेन्द्र बारलिंगे — राजेन्द्र प्रसाद

आनन्दप्रकाश दीक्षित — मो. प्र. मराठे

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिन्दी)

☐ पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तनपरक त्रैमासिक पत्रिका

☐ नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान–मंदिर' हिन्दी)

संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ☐ राजेन्द्र प्रसाद ☐ आनन्दप्रकाश दीक्षित ☐ मो. प्र. मराठे

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल ☐ रमाकान्त सिनारी ☐ विजयकुमार भारद्वाज ☐ शारदा जैन संगमलाल पांडे ☐ आर्. बालसुब्रमणियन् ☐ अशोक रा. केळकर ☐ के. जे. शहा ☐ नारायणशास्त्री द्राविड ☐ के. सच्चिदानंद मूर्ति ☐ जी. सी. नायक ☐ ग. ना. जोशी ☐ मोहनलाल मेहता ☐ जे. फाईस ☐ सुमन गुप्ता ☐ रा. स्व. भटनागर

कार्यकारी संपादक : चन्द्रकान्त बांदिवडेकर ☐ सु. ए. मेलके ☐ मीना अ. केळकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें; संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिंड, पुणे ४११००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या डिमांड ड्राफ्ट के द्वारा इस पते पर भेजा जाए : संपादक, परामर्श (हिंदी), दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७ अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने के भीतर कार्यालय में मिल जाए, तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१) संस्थाओं के लिए	रु. ४०–००
(२) व्यक्तियों के लिए	रु. ३०–००
(३) छात्रों के लिए	रु. २०–००
एक प्रति	रु. ८–००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १२५०–००
व्यक्तियों के लिए रु. ३००–००

☐ राशि मनिऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट के माध्यम से ही भेजें।

आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिन्दी)

पंजीकरण सं. 39883/79

मधु कपूर	अर्थ-एकवाक्यता-व्युत्पत्तिवाद के परिप्रेक्ष्य में	१
मो. प्र. मराठे	अनुसन्धान की दिशाएँ : जैन-विद्या के सन्दर्भ में	२५
हरिहरप्रसाद गुप्त	षड्ऋतु-वर्णन-(पद्मावत) के दो छन्द : काव्यमर्म	३५
राममूर्ति त्रिपाठी	काव्य में ऊर्मि-धर्म-भाव का विचार	४५
प्रभा शर्मा	सौन्दरनन्द महाकाव्य में विभावों की अभिव्यक्ति	५०
बलिराम शुक्ल	नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (१७) विषयता (iii)	५५
	प्रतिक्रिया	६४
	ग्रन्थ-समीक्षा	६८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जाएगा। जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है; अत: विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक मॉडर्न प्रिंटिंग प्रेस, पुणे ४११००५ में छपवाकर प्रकाशित किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिन्दी)

पंजीकरण सं. 39883/79

राममूर्ति त्रिपाठी	पूर्वरंग की व्याप्ति और पाठ्यप्रयोग	७३
चन्द्रप्रकाश श्रीवास्तव	मानवीय नियति और सत्य	८१
सीमा मुन्शी	अभिधर्मकोश (प्रथमकोशस्थान) में स्कन्ध की परिभाषा	८७
ज़रीना रहमत	हिन्दी मसनवियों में इस्लामी धर्म-दर्शन	९५
हरनामसिंह अलरेजा	सांख्य की मूल प्रकृति की संकल्पना	९९
छाया राय	प्रोफेसर देवराज का व्यक्ति-सबंधी सिद्धान्त : एक समीक्षा	१०७
बलिराम शुक्ल	नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (१८) विषयता (iv)	११७
	ग्रन्थ-समीक्षाएँ	१२७
	प्रतिक्रियाएँ	१३५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशनार्थ लेखों की **दो टाईप की हुई प्रतियाँ** भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यतः ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जाएगा। **जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें।** जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है; अतः विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। **पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।**

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक मॉडर्न प्रिंटिंग प्रेस, पुणे ४११००५ में छपवाकर प्रकाशित किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिन्दी)

पंजीकरण सं. 39883/79

म सनेहीलाल शर्मा	हिन्दी नवगीत में मिथकीय सन्दर्भ : प्रयोग और औचित्य	१४५
धावल्लभ त्रिपाठी	साहित्य का प्रामाण्य	१५७
रिहर प्रसाद गुप्त	'पद्मावत' का उपसंहार : पाठ और अर्थ	१६५
ौस्तुभानन्द पाण्डे	बौद्धव-मत में प्रत्यक्ष प्रमाण का विचार	१७३
धु कपूर	व्यक्तिवाची संज्ञायें और उनके अर्थ	१८१
लिराम शुक्ल	नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (१९) विषमता (४)	२०९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे
अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के
में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जाए
जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों
पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें। जिस लेखनसामग्री का हम उप
नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वा
किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है; अत: विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत हो
यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित ले
के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्
तानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामि
अधिकार पत्रिका का होगा।

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान
अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक मॉडर्न प्रिंटिंग
पुणे ४११००५ में छपवाकर प्रकाशित किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिन्दी)

पंजीकरण सं. 39883/79

राधावल्लभ त्रिपाठी	रसस्वरूपविचार	२१७
ब्रजनारायण शर्मा	'भगवान्' तथा 'ईश्वर' पदों का विश्लेषण	२३५
रज्जन कुमार	जैन दर्शन में जीव द्रव्य की विशिष्टता	२४१
शोभा निगम	वल्लभ–सम्प्रदाय में ब्रह्म–सम्बन्ध की अवधारणा	२५३
कुसुम कुमारी	बौद्ध–धर्म : मानवीय मूल्यों का धर्म	२५७
देवेन्द्रनाथ तिवारी	संख्या का विचार : वाक्यपदीय के संन्दर्भ में	२६४
बलिराम शुक्ल	नव्य–न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (२०) विषयता (vi)	२८१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यतः ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जाएगा। जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है; अतः विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक मॉडर्न प्रिण्टिंग प्रेस, पुणे ४११००५ में छपवाकर प्रकाशित किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

11908

अर्थ-एकवाक्यता : व्युत्पत्तिवाद के परिप्रेक्ष्य में

न्याय मत में वाक्यार्थ-बोध एक विशेष प्रकार के बोध के रूप में स्वीकृत है। इस वाक्यार्थ-बोध की सामग्री है – पद-ज्ञान, पदार्थ-स्मरण और शक्ति-ज्ञान (अथवा पद-पदार्थ का सम्बन्ध ज्ञान)। वाक्यार्थ-बोध के पूर्व श्रोता को प्रत्येक पद के साथ प्रत्येक अर्थ का सम्बन्ध-ज्ञान शक्ति या लक्षणा के द्वारा प्राप्त होता है। न्याय मत में ईश्वर-संकेत या ईश्वर-इच्छा ही शक्ति है। ईश्वर-इच्छा का आकार कभी पदविशेष्यक अर्थ प्रकारक रूप से होता है और कभी अर्थविशेष्यक पद प्रकारक रूप से होता है। गदाधर शक्तिबाद ग्रन्थ में कहते हैं —

> इदम्पदमिमर्थं बोधयत्विति; अस्माच्छब्दादयमर्थो
> बोद्धव्य इति वेच्छा। (पृष्ठ ५)

अर्थात् 'यह पद इस अर्थ का बोधक है' और 'इस पद के द्वारा इस अर्थ का बोध हो'-ऐसी ईश्वर-इच्छा ही शक्ति है। वैसे गदाधर आधुनिक संकेत या अस्मदादि इच्छा में भी शक्ति स्वीकारते हैं। लेकिन ऐसे पदों को वाचक न मान कर पारिभाषिक ही मानते हैं। यथा –

तत्राधुनिकसंकेतः परिभाषा; तया चार्थ बोधकं पदं पारिभाषिकं, यथा शास्त्रकारादि संकेतितनदीवृद्ध्यादिपदम्। (पृष्ठ ५)

जिसे पद-पदार्थ के सम्बन्ध का ज्ञान हो चुका है ऐसा श्रोता जब उन उन पदों को सुनता है तो उनसे सम्बन्धित पदार्थ का स्मरण भी उसे हो जाता है। शब्द और अर्थ दो सम्बन्धी हैं और सम्बन्ध के किसी एक सम्बन्धी का ज्ञान हो जाने से अपर सम्बन्धी का स्मरण हो जाता है। अन्त में वे सभी स्मरण-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदार्थ परस्पर सम्बन्धित हो कर वाक्यार्थ–ज्ञान को उत्पन्न करते हैं। जैसे–'गौरश्व: पुरुषो हस्ती' इस वाक्य के अन्तर्गत प्रत्येक पद के द्वारा एक–एक पदार्थ का स्मरण होता है। पर इनमें परस्पर सम्बन्ध न होने के कारण वाक्यार्थ–बोध नहीं होता है, क्योंकि इनमें आकांक्षा का अभाव है। लेकिन 'घटमानय' इस वाक्य में निहित 'घट' पद के द्वारा घटत्व–विशिष्ट घट पदार्थ, 'अम्' पद के द्वारा (द्वितीया विभक्ति) कर्मत्व पदार्थ, आङ् पूर्वक 'नी' धातु के द्वारा आनयन पदार्थ एवं आख्यात के द्वारा कृति–अर्थ उपस्थित होता है। मध्यम पुरुष एकवचन के द्वारा चेतन व्यक्ति के रूप में 'त्वं' पद का अध्याहार करते हैं। फिर इनका परस्पर सम्बन्ध हो कर 'घटकर्मक आनयनानुकूल कृतिमान् त्वम्' ऐसा वाक्यार्थ–बोध होता है। यहाँ सवाल यह है कि इन पदार्थों का सम्बन्ध तो किसी वृत्ति के द्वारा उपस्थित नहीं होता है; फिर इस सम्बन्ध का बोध कैसे होता है? नैयायिक इसके उत्तर में कहते हैं कि यह सम्बन्ध 'संसर्ग मर्यादा' के द्वारा उपस्थित होता है। ऐसी संसर्ग–मर्यादा वृत्ति–सापेक्ष नहीं है, वरन् आकांक्षा–भास्य है। गदाधर कहते हैं ...

> शाब्दबोधे चैकपदार्थे अपरपदार्थस्य
> संसर्ग: संसर्गमर्यादया भासते। (पृ. २)

(विस्तृत जानकारी के लिये देखें व्युत्पत्तिवाद) ऊपर बतलाये हुए क्रम से वाक्यार्थ–बोध उत्पन्न होता है।

पद सर्वदा ही शक्ति सम्बन्ध के द्वारा अर्थ का बोधक होता है ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि कभी कभी पद शक्यार्थ के द्वारा शक्यार्थ सम्बन्धी लक्ष्यार्थ की प्रतीति का उत्पादन करता है तो इसे लक्षणा–रूप सम्बन्ध कहते हैं। यह सम्बन्ध शक्ति (शक्य) सम्बन्ध की तरह साक्षात् या मुख्य सम्बन्ध नहीं कहलाता है। इसे परम्परा सम्बन्ध कहते हैं। जैसे–'गंगायां घोष:' स्थल में 'गंगा' पद के द्वारा शक्ति-रूप संबन्ध है प्रवाह में। इस शक्य प्रवाह का संयोग या सामीप्य सम्बन्ध तीर में है। अत: 'गंगा' पद के साथ तीर रूप अर्थ में 'स्व शक्य संयोग रूप परम्परा सम्बन्ध' है जिसे लक्षणा कहते हैं। इस तरह पदों के द्वारा पदार्थों का स्मरण शक्ति या लक्षणा के द्वारा होता है। अन्त में उनका परस्पर सम्बन्ध–ज्ञान होता है जिसे वाक्यार्थ–बोध या शाब्द–बोध कहते हैं।

अब यहां यह प्रश्न उठता है कि यह जो वाक्यार्थ–बोध की प्रक्रिया दिखलायी गयी है वह बिना वाक्य सुनें तो संभव नहीं है। अतएव पहले यह जानना आवश्यक है कि वाक्य का लक्षण क्या है? न्याय ग्रंथों में विविध प्रकार से इसका लक्षण किया है। जैसे–

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) पद समूहो वाक्यमर्थपरिसमाप्ताविति ।
(ऐसा पद–समूह वाक्य कहलाता है जो एक परिपूर्ण अर्थ का ज्ञापक हो ।)

– न्यायसूत्रभाष्य,२.१.५५

(२) आकांक्षायोग्यतासत्तिमत्पदकम्बकं वाक्यम् ।
(आकांक्षा, योग्यता, आसतियुक्त पदसमूह वाक्य कहलाता है ।)

– न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका परिशुद्धि, १.१.७.

(३) वाक्यत्वं च विशिष्टार्थपरशब्दत्वम् ।
(एक विशिष्टार्थ का प्रतिपादक वाक्य होता है)

– तत्त्वचिन्तामणि

(४) अर्थप्रतिपादनद्वारा श्रोतुः पदान्तरविषयामर्थान्तरविषयां वा आकांक्षां जनयतां प्रतीयमान परस्परान्वययोग्यार्थ प्रतिपादकानां सन्निहितानां पदानां समूहो वाक्यम् ।
(अपने अर्थ के प्रतिपादन के द्वारा श्रोता को अन्य पदविषयक अथवा अन्य अर्थविषयक आकांक्षा को उत्पन्न करने वाले, परस्पर में प्रतीत होने वाले सम्बन्ध के योग्य अर्थों का प्रतिपादन करने वाले एवं एक पुरुष के द्वारा अविलम्ब उच्चरित होने वाले पदों के समूह का नाम वाक्य है ।) **— तर्कभाषा**

(५) मिथः साकांक्षशब्दस्य व्यूहो वाक्यम् ।
(परस्पर आकांक्षा–युक्त शब्द–समूह वाक्य कहलाता है ।)–

–शब्द शक्ति प्रकाशिका, कारिका १३.

(६) यादृश शब्दानां यादृशार्थविषयिताकबोधं प्रति अनुकूला परस्पराकांक्षा तादृश शब्दस्तोम एव तथाविधार्थे वाक्यम् ।
(जो शब्दसमूह किसी विशेष अर्थविषयक शाब्दबुद्धि के प्रति अनुकूल होता है वह शब्द समूह उस अर्थ के प्रति वाक्य कहलाता है ।)–**(तदेव, व्याख्या)**

उपरोक्त सभी लक्षणों से एक बात स्पष्ट होती है कि वाक्यान्तर्गत पदों में परस्पर आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि का रहना अति आवश्यक है । प्रस्तुत प्रसंग में आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि की पृथक् रूप से आलोचना करना यहां अभीष्ट नहीं है, क्योंकि यह निबन्ध एकवाक्यता की समस्या पर केन्द्रित है । दूसरी बात जो उभर कर सामने आती है वह यह है कि वाक्यान्तर्गत पद समूहों के श्रवण के द्वारा उत्पन्न ज्ञान का विषय भी एक विशिष्ट वस्तु होनी चाहिए । क्योंकि एक साथ अनेक विषयों की चर्चा यदि एक वाक्य में की जाय तो उसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर्गत विशेष्य–विशेषण भाव में विशृंखला उत्पन्न हो जायेगी। फलतः कोई भी ज्ञान सही ढंग से नहीं हो सकेगा।

प्रस्तुत निबन्ध के विषय 'एकवाक्यता' को समझाने के पहले एक बात और जान लेनी चाहिये कि न्याय मत से वाक्यार्थ–बोध की जो प्रक्रिया ऊपर बतलाई गई है–उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वाक्यार्थ–बोध एक विशिष्ट–बोध है जिसमें विशेषण–विशेष्य का रहना सुनिश्चित है। साधारणतः न्याय मत से शाब्द–बोध यह परोक्ष ज्ञान होने के कारण विशिष्ट बोध ही होता है। यद्यपि रघुनाथ शिरोमणि पद के द्वारा निर्विकल्पक पदार्थ–बोध स्वीकार करते हैं, तथापि यह बात सब के द्वारा स्वीकृत नहीं है। न्याय मत में साधारणतः प्रथमान्त पद के द्वारा उपस्थाप्य पद ही मुख्य विशेष्य और बाकी सभी उसके विशेषण होते हैं। जैसे–'चैत्रः तण्डुलं पचति' (चैत्र भात पकाता है।) इस वाक्य से वाक्यार्थ–बोध का आकार होगा–'तण्डुलकर्मक पाकानुकूल कृतिमान् चैत्रः'। इसमें 'चैत्र' पद मुख्य विशेष्य है, बाकी सभी इसके विशेषण हैं। यह वाक्यार्थ–बोध भी न्याय मत से दो प्रकार से होता है– खंड वाक्यार्थ–बोध और अखंड वाक्यार्थ-बोध। जैसे– 'घटमानय' स्थल में ही 'घट' पद का अर्थ है घटत्व विशिष्ट घट। द्वितीया विभक्ति 'अम्' पद का अर्थ है कर्मत्व। 'आङ्' पूर्वक 'नी' धातु का अर्थ है आनयन। एवं आख्यात का अर्थ है कृति। मध्यम पुरुष एक वचन के द्वारा चेतन व्यक्ति के रूप में 'त्वं' पद का अध्याहार करते हैं। पहले ऐसा खंडशः बोध होता है। द्वितीय प्रकार में– घटकर्मक–आनयनानुकूल–कृतिमान्–त्वं–ऐसा अखंड बोध होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि पहले खंड–वाक्य के द्वारा पृथक् पृथक् बोध हो कर फिर पूर्ण वाक्य के द्वारा 'घटमानय' यह बोध होता है। यहां यह बात ध्यातव्य है कि न्याय मत में 'घट' एवं 'आनय' प्रत्येक पद यहां एक एक वाक्य है। अतएव समग्र 'घटमानय' को एक बृहत्वाक्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। परस्पर आकांक्षा विशिष्ट बहुपद घटित वाक्य को न्याय मत में 'महावाक्य' कहा जाता है जो कभी 'विशिष्ट–वैशिष्ट्य' रीति से होता है और कभी 'विशेष्ये विशेषणं' इस रीति से होता है। इसकी विस्तृत आलोचना यहां लक्ष्य नहीं है। इसकी संक्षिप्त व्याख्या प्रसंग क्रम से आगे की जायेगी।

मूल समस्या के बारे में यदि थोडी गम्भीरता से सोचें तो प्रश्न उठता है 'एकवाक्यता' का क्या अर्थ है? गदाधर इसके उत्तर में कहते हैं–

'एकवाक्यत्वं साकांक्षत्वे सति एकार्थप्रतिपत्तिपरत्वं।

– गादाधारी (अनुमिती प्रकरणे)

'एकवाक्यत्वं च विशिष्टैकार्थप्रतिपादकत्वम्,
तदुत्थाप्याऽऽकांक्षानिवर्तकत्वं तन्निवर्तनीयाऽऽकांक्षोत्थापकत्वाऽन्यतरवत्वं वा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

— गादाधरी (अवयव प्रकरणे पृष्ठ २५)

कहने का अर्थ है कि जिन दो वाक्यों में परस्पर आकांक्षा रहती है एवं एक विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन करना ही जिनका तात्पर्य होता है, ऐसे वाक्यद्वय में एकवाक्यता रहती है। किन्हीं दो वाक्यों को साकांक्ष कब कहा जाता है ? जब 'तदुत्थाप्य आकांक्षा का निर्वतक' और 'तन्निवर्तनीय आकांक्षा' का उत्थापक इन दोनों धर्मों में से कोई भी धर्म उपस्थित रहे तो किन्ही दो वाक्यों को साकांक्ष कहा जा सकता है। 'एकवाक्यता' के लक्षण में यदि सिर्फ 'एकार्थ प्रतिपादकता' का ही निवेश किया जाय तो 'घटोऽस्ति' तथा 'कलशोऽस्ति' इन दो वाक्यों में एकवाक्यता प्रतिष्ठित हो जाती, क्योंकि दोनों वाक्य एक ही अर्थ के प्रतिपादक हैं। परन्तु ये दोनों वाक्य परस्पर साकांक्ष न होने के कारण 'एकवाक्य' नहीं हैं। इसलिए लक्षण में 'साकांक्षत्व' पद का निवेश किया गया है। जैसे, प्रत्यक्ष ग्रंथ के द्वारा उत्थाप्य 'किमस्य उपजीवकम्' आकांक्षा की निवर्तकता अनुमान परिच्छेद में है। एवं अनुमान परिच्छेद के द्वारा निवर्तनीय जो आकांक्षा है (किमस्य उपजीवकम्) उसकी उत्थापकता प्रत्यक्ष परिच्छेद में है। एवं उभय में ही 'चत्वारि प्रमाणानि' इस प्रमाण चातुर्विध्य रूप अर्थ-निर्णय की उपयोगिता है। अतः उनमें एकवाक्यता है।

एकवाक्यता के लक्षण में 'एकार्थ प्रतिपादकता' यह पद अत्यधिक देने की क्या आवश्यकता है? ऐसी शंका होने पर गदाधर कहते हैं कि 'भूतलं घटवत्' इस वाक्य से उत्थापित 'कः घटः' इस आकांक्षा का निर्वतक है 'कम्बुग्रीवादिमान् घटः' यह वाक्य। और 'कम्बुग्रीवादिमान् घटः' इस वाक्य के द्वारा निर्वतनीय 'कः घटः' यह आकांक्षा है जो उसकी ('कम्बुग्रीवादिमान घटः' इस वाक्य की) उत्थापक थी। अतएव 'भूतलं घटवत्' और 'कम्बुग्रीवादिमान् घटः' ये दोनों वाक्य परस्पर साकांक्ष होने पर भी एकार्थ प्रतिपादक न होने के कारण 'एकवाक्यता' के बाधक नहीं हुए। 'एकार्थ प्रतिपादकत्व' इस विशेषण के अभाव में उक्त वाक्य-द्वय एकवाक्यता के बोधक न हो जाते। इसलिये लक्षण में 'एकार्थ प्रतिपादकत्व' इस पद का निवेश किया गया है। यद्यपि इन वाक्य-द्वय में किसी न किसी प्रकार की एकार्थता अवश्य है परन्तु 'विशिष्टैकार्थ प्रतिपादकता' न होने के कारण उनमें एकवाक्यता नहीं है।

गदाधर के उपर्युक्त एकवाक्यता के लक्षण में मीमांसा-सूत्रकार के लक्षण की सम्पूर्ण छाया नजर आती है। मीमांसा-सूत्रकार कहते हैं—

अर्थैकत्वत्वादेकं वाक्यं, आकांक्षा चेद् विभागे स्यात् – मी. सू. २।१।४७

अर्थात् जो पद-समष्टि किसी एक समग्र अर्थ को प्रकाशित करती है या एक प्रयोजन का निर्वाह करती है और उनमें विभाग करने पर वे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पद परस्पर आकांक्षा से युक्त होते हैं वह एक वाक्य है। यहां यह बात ध्यातव्य है कि यजुमंत्र की एक-वाक्यता के विचार के प्रसंग में उक्त सूत्र की रचना की गई है। इस सूत्र में दो प्रधान बातें कही गई हैं। अर्थैकत्वम् = एक प्रयोजन और विभागे सति साकांक्षत्वम् = पृथक् करने पर असम्पूर्ण रह जाना या साकांक्ष रह जाना। अर्थात पहली शर्त के द्वारा अर्थ प्रकाश और दूसरी शर्त के द्वारा शब्द-रचना का सम्बन्ध है। जैसे—देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे, अश्विनोर्बाहुभ्यां पुष्णोहस्ताभ्याम्', 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' यह मन्त्र एक सम्पूर्ण यजुः है। कारण इसके द्वारा एक सम्पूर्ण अर्थ का प्रकाश होता है एवं 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' इस अंश को यदि निकाल दिया जाय तो 'देवस्य त्वा' इत्यादि पदसमूह साकांक्ष हो जाते हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि जिस पद-समष्टि से क्रिया अर्थात् अनुष्ठेय कर्म के अर्थ के स्मरण से उपकार साधित होता है वही एकवाक्य है। अतः 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यम्' —अर्थैकत्व का अर्थ है एकाधिक मुख्य विशेष्य का न रहना। मीमांसकों के अनुसार वाक्यार्थ-बोध में भावना ही प्रधान या मुख्य विशेष्य होती है। अतः कहा जा सकता है कि जिस पद-समष्टि से एक भावना का बोध होता है वही एक वाक्य है। युधिष्ठर मीमांसक ने कहा है—

यावन्ति पदान्येकप्रयोजनमभिनिर्वतयन्ति तावन्त्येक वाक्यम्।

कात्यायन श्रौतसूत्र १।२।३

इसके अलावा जहां सभी वाक्य परस्पर निरपेक्ष और भिन्नार्थक होते ह उन स्थलों में वाक्य परस्पर भिन्न ही रहते हैं। जैसे 'इषेत्वा' एवं 'ऊर्ज्जेत्वा' इन मन्त्रवर्णों के द्वारा अनुष्ठेय पदार्थों का स्मरण न होने पर भी 'ईषे त्वेति'; 'छिनत्ति', ऊर्ज्जे त्वेति' कह कर पलाश की शाखा का छेदन करें एवं 'ऊर्ज्जेत्वा' कह अनुमार्जन करें—इस प्रकार विनियोग-वचन रहने पर 'छिनत्ति' एवं 'अनुमार्ष्टि' इन दो क्रियापदों का अध्याहार कर दोनों मंत्र दो विभिन्न अनुष्ठेय पदार्थों का स्मरण कराते हैं। अतः ये विभिन्न वाक्य ही हैं। मीमांसा-सूत्रकार कहते हैं—

समेषु वाक्यभेदः स्यात्।

— मी सू. २।१।४७

उपरोक्त प्रसंग में यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि मीमांसकों के अनुसार वैदिक वाक्यों का मुख्य उद्देश्य विधि निरूपण करने में निहित है। इसलिए अर्थवाद-वाक्य किसी विधि का विवेचन न करने के कारण व्यर्थ हो जाएंगे। ऐसा पक्ष मीमांसकों को स्वीकार्य नहीं हो सकता। मीमांसक अर्थवाद वाक्यों के साथ एकवाक्यता प्रदर्शित कर के उनकी सार्थकता मानते हैं। विधिवाक्य प्रशंसा-सापेक्ष हैं एवं अर्थवाद-वाक्य प्रयोजन सापेक्ष हैं। अतः अर्थवाद—वाक्य, विधि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाक्य के साथ एक–वाक्य अर्थात् मिलित हो कर विधि–विहित कर्मों की प्रशंसा रूप प्रयोजन के द्वारा प्रयोजनवान् अर्थात् सार्थक या सफल होने से प्रमाण हैं। उनके मतानुससार वेद का एक अक्षर भी निष्प्रयोजन नहीं हो सकता है। जैसे 'वायव्यं श्वेतमालभत पशुकामः' (तै. सं. २।१।१। १) 'अभ्युदय की कामना रखने वाला व्यक्ति वायु देवता के उद्देश्य से श्वेत छाग का वध करें' इस विधि-वाक्य को सुन कर प्रथमतः पुरुष की क्रिया में प्रवृत्ति अवश्य होती है किन्तु अनन्तर अनिष्ट की आशंका से वह उक्त प्रवृत्ति से निवृत्त हो जाता है। अर्थात्, अनभिप्रेत यागानुष्ठानरूप दुःख में उक्त क्रिया का अवसान सम्पन्न होगा ऐसा सोच कर निष्प्रभ हो जाता है। अतः बाद की श्रुति में कहा है 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' वायु अति क्षिप्र शीघ्रगामी देवता है। अर्थात्, वायु जिस यज्ञ का देवता होता है, उस यज्ञ का फल भी अति क्षिप्र या शीघ्र ही प्राप्त होता है। इस अर्थवाद वाक्य को सुनने पर अनिष्ट की आशंका से रुकी हुई प्रवृत्ति पुनः तीव्र हो जाती है। इसलिए विधिवाक्य वैध विषय में पुरुष की प्रवृत्ति को उत्पन्न करता है, और अर्थवाद-वाक्य स्वयं निरर्थक होने पर भी विधि विहित प्रयोजनों के द्वारा अपनी प्रयोजनीयता का निर्वाह करने के लिये विधि की अपेक्षा करते हैं। इस प्रकार विधि–वाक्य और अर्थवाद-वाक्य परस्पर मिल कर एक प्रयोजन का निर्वाह करते हैं। अतः दोनों में एक–वाक्यता है। मीमांसा-सूत्रकार कहते हैं –

विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधिनां स्युः।

मी. [सू. १।२।७.

एक–वाक्यता 'पदैकवाक्यता' और 'वाक्यैकवाक्यता' नामक दो प्रकार की है। इनमें से अर्थवाद–वाक्यों में पदैकवाक्यता होती है, क्योंकि विधि एवं निषेधों को प्रशस्तत्व तथा निन्दितत्व की अपेक्षा रहती है और समग्र अर्थवाद–वाक्य, विहित का प्राशस्त्य या निन्दित के निन्दितत्व के अर्थ का ही बोध कराते हैं। इसलिये समस्त वाक्य से लक्षणा के द्वारा जितने अर्थों का ज्ञान होता है, उतने ही अर्थों का ज्ञान प्रशस्त अथवा निन्द्य पदों से भी होता है। इस कारण प्राशस्त्यादि अर्थ पदार्थ–रूप ही समझा जाता है। अतः अर्थवाद भी पदरूप है। और विधि के साथ एकवाक्यता हो कर उसका जो बोध होता है वह 'पदैक वाक्यता' कहलाता है। यहां अर्थवाद वाक्यों से प्रथम प्रतीत अर्थ ही मूल विधि-वाक्यों के साथ अन्वित होने के समय परित्यक्त हो जाता है एवं समग्रवाक्यों से लक्षित एक निंदा या प्रशंसा–रूप अर्थ विधि–वाक्यार्थ में प्रविष्ट हो जाता है।

(यद्यपि अर्थवाद-वाक्य के साथ विधि–वाक्य की 'पदैक–वाक्यता' की स्वीकृति में सभी दार्शनिक एक मत नहीं हैं।)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके अलावा जहां भिन्न भिन्न अर्थ–प्रतिपादक दो वाक्यों को परस्पर आकांक्षा के कारण महावाक्यार्थ–बोधकत्व होता है वहां 'वाक्यैकवाक्यता' होती है। जैसे 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' 'स्वर्गेच्छु पुरुष दर्शपूर्णमास नामक याग करे'– इस विधि–वाक्य को सुनते ही 'दर्शपूर्णमास याग' स्वर्ग का साधन है–ऐसा अर्थ ज्ञात होता है। इसी प्रकार 'समिधो यजति' 'समिध संज्ञक याग करे'–इत्यादि विधिवाक्य से समिध याग का विधान भी प्रतीत होता है। परन्तु दर्शपूर्णमास याग से स्वर्ग कैसे संपादन किया जाय? इस प्रकार अंगीभूत याग को अंगों की अपेक्षा होती है। उसी प्रकार 'समिधो यजति' इत्यादि प्रयाज-रूप यागों का प्रत्यक्ष फल कुछ भी न बतलाने के कारण इस याग से क्या साध्य है? ऐसी साध्य (अंगी) की आकांक्षा होती है। इस प्रकार पहले स्व–स्व अर्थ को बतला कर पुनः दोनों प्रकार के वाक्यों का परस्पर अन्वय हो कर समिधादि रूप अंगों का अनुष्ठान कर, 'दर्शपूर्णमास याग से स्वर्ग को पाना चाहिये' इस प्रकार से जो अंगांगिभाव रूप महावाक्यार्थ निष्पन्न होता है– उसी को 'वाक्यैक वाक्यता' कहते हैं। यहां एक वाक्यार्थ का दूसरे वाक्यार्थ के साथ अन्वय होता है। और उन दो वाक्यों से मिल कर एक–रूप तात्पर्य निश्चित होता है, इसलिए इसे 'वाक्यैकवाक्यता' कहते हैं। कुमारिल यह कहते हैं –

स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वाद्यपेक्षया।
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते।

— तन्त्रवार्तिक १।४

इतने विस्तार में मीमांसा मत प्रदर्शित करने का एकमात्र उद्देश्य यह है कि स्वयं गदाधर 'अनुमिति' ग्रंथ में **मीमांसा सूत्र** २।१।४७ को 'एकवाक्यता' के प्रसंग में उपस्थित करते हैं। और वे स्वयं 'एकवाक्यता' का उल्लेख करते समय 'वाक्यैकवाक्यता' को दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत करते हैं। प्रत्यक्ष ग्रन्थ के साथ अनुमिति ग्रंथ की संगति निश्चय ही 'वाक्यैकवाक्यता' का जबरदस्त उदाहरण है। 'अवयव प्रकरण' में भी गदाधर जब प्रतिज्ञादि पंच वाक्यों की एक–वाक्यता स्वीकार करते हैं तो वह 'वाक्यैकवाक्यता' का ही उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। दीधितिकार कहते हैं –

प्रतिज्ञादिपंचवाक्यैरेकवाक्यतया स्वार्थं विशिष्टज्ञानं जन्यते।

गदाधर इस पर अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हैं —

एकवाक्यत्वं च विशिष्टैकार्थं प्रतिपादकत्वम्।

– अवयव प्रकरणे (पृष्ठ २५)

गदाधर के मत को पुनः द्वितीय परिच्छेद में उत्थापित किया जायेगा। प्रसंगतः वैयाकरणों के मत का भी उल्लेख करना वांछनीय होगा। मीमांसकों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाक्य-लक्षण व्याकरण दर्शन में स्वीकार नहीं किया गया है। वार्तिककार कात्यायन वाक्य का लक्षण करते हैं –

आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्।
सक्रियाविशेषणं च।
एकतिङ्।

वार्तिक २।१।१ – १०, ११, १२

अर्थात् जिसमें क्रिया हो तथा उसके साथ अव्यय, कारक और विशेषण तथा क्रिया-विशेषण में से एक या सभी रह सकते हों, उसे वाक्य कहते हैं। जैसे– 'उच्चैः पठति' (ऊंची ध्वनि से पढ़ता है) 'ओदनं पचति' (भात पकाता है।) 'ओदनं मृदु विशदं पचति' (भात को मृदु और स्वच्छता से पकाता है।) 'सुष्ठु पचति' (अच्छी प्रकारसे पकाता है।)इन वाक्यों में क्रिया के साथ क्रमशः अव्यय, कारक, विशेषण तथा क्रिया-विशेषण अन्वित हुए हैं। अन्त में कहते हैं कि वाक्य का संक्षिप्त लक्षण है जहां एक तिङ् (तिङ् धातु या क्रिया का बोधक है) हो वही वाक्य है, जैसे—ब्रूहि, ब्रूहि (बोलो, बोलो)।

मीमांसकों के अनुसार वाक्य में प्रयोजन की एकता पर जोर दिया गया है। यदि अर्थ की एकता है तो एक से अधिक तिङन्त पद से युक्त को भी एकवाक्य कहना पड़ेगा। परन्तु कात्यायन ने अनुदात्त आदि की व्यवस्था के लिए एक वाक्य में एक ही तिङन्त का होना ठीक बतलाया है। इसका परिणाम यह होता है कि जहां एक से अधिक तिङन्त पद होगें, वहां उतने ही विभिन्न वाक्य माने जायेगें। जैसे –' अयं दण्डो हरानेन' अथवा 'ओदनं पच तव भविष्यति' इत्यादि स्थलों में प्रयोजन में ऐक्य होने के कारण मीमांसक एक-वाक्यता मानते हैं। कात्यायन के मत से वहां दो वाक्य हैं, क्योंकि दो तिङन्त पद हैं। प्रथम वाक्य में 'अयं दण्डः' के बाद 'अस्ति' क्रिया का अध्याहार कर लेते हैं क्योंकि 'अस्ति' क्रिया का कर्ता 'दण्ड' है लेकिन 'दण्ड' अन्य शब्द 'हरानेन' से सम्बन्धित हो कर करण बन जाता है। इसी तरह द्वितीय वाक्य में भी दो वाक्य हैं। 'ओदनं पच, तव भविष्यति'। (भोजन पका, तेरा (भला) होगा।)

भर्तृहरि एक अन्य दृष्टान्त दे कर कात्यायन के मत से समाधान करने का प्रयास करते हैं। 'पूर्वं स्नाति पचति ततो व्रजति' (पहले स्नान करता है, खाना पकाता है, फिर जाता है।) यहां पर कात्यायन के मत से एक वाक्य नहीं हो सकता है, क्योंकि तीन तिङन्त पद हैं। मीमांसकों के अनुसार यहां अर्थ की एकता के कारण एक-वाक्यता मानी जाती है। भर्तृहरि ने यहां पर यह समाधान दिया है कि यह वाक्य-भेद का उदाहरण नहीं है। 'जाता है'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह क्रिया यहाँ पर मुख्य है, अन्य क्रियायें 'स्नान करता है', 'खाना पकाता है' उसके विशेषण अर्थात् गौण क्रियायें हैं। कात्यायन के 'एक तिङ्' का भाव यह नहीं है कि एक वाक्य में एक से अधिक तिङन्त पद या क्रियाएँ नहीं रहनी चाहिऐ, अपितु यह भाव है कि एक वाक्य में एक मुख्य तिङन्त पद के साथ कितने ही क्त्वा प्रत्यय वाले क्रिया-पद रह सकते हैं। उक्त वाक्य क्त्वा: प्रत्यय लगा कर कहें तो यह होगा-पहले स्नान करके, खाना पका कर फिर जाता है।

वाक्यपदीय २।६

यहाँ भर्तृहरि ने पाणिनि का अनुसरण किया है कि एक वाक्य में अनेक तिङन्त पद भी रह सकते हैं। अतएव पाणिनि ने 'तिङ्ङतिङः' (८।१।२८) सूत्र में अतिङ् पद रखा है। यदि एक वाक्य में अनेक तिङन्त पद रह ही नहीं सकते तो 'अतिङ्' पद रखना व्यर्थ था, क्योंकि वे दो विभिन्न वाक्य हो जाते। भर्तृहरि का कथन है कि बहुत से तिङन्त पदों में भी परस्पर अर्थ की आकांक्षा होती है इसलिए उनमें एक वाक्यता होती है-

बहुष्वपि तिङन्तेषु साकांक्षेष्वेकवाक्यता।

—वा. प. २।४४२

पुण्यराज लिखते हैं कि आकांक्षादि के कारण एक-वाक्यता के बोधक (शब्द समूह) को वाक्य कहते हैं-

वस्तुतस्त्वाकांक्षायोग्यतासंन्निधिवशादेकवाक्यतां गतं वाक्यं बोद्धव्यम्।

— वा. प. २।३५३

अब तक वाक्य के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा गया है उसके आधार पर यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वाक्य का उपर्युक्त लक्षण निर्दोष है। क्योंकि वाक्य का यह लक्षण विवादग्रस्त है। पतंजलि ने महाभाष्य में (१-१-४४) इस बात पर ध्यान आकृष्ट किया है कि प्रसिद्धि आदि के आधार पर वाक्य के स्थान पर वाक्य के एक अंश को तथा पद के स्थान पर पद के एक अंश का प्रयोग किया जाता है। जैसे 'प्रविश' (घुसो) 'पिण्डीम्' (एक ग्रास को) 'तर्पणम्' (तर्पण) वाक्यांश 'घर में घुसो' 'ग्रास को खाओ' 'तर्पण करो' वाक्यों के लिये क्रमशः आए हैं। इनमें यथायोग्य क्रिया और कर्म आदि का आक्षेप कर लिया जाता है। कैय्यट कहते हैं-

दृश्यन्ते हि वाक्येषु वाक्यैकदेशान्
प्रयुञ्जानाः, पदेषु पदैकदेशान्।

भर्तृहरि ने इस बात पर भी ध्यान दिलाया है कि यदि पद के अन्दर ही क्रिया का अर्थ भी छिपा हो तो वह पद भी वाक्य ही माना जायेगा। जैसे 'द्वारं' पद के गर्भ में ही 'पिधेहि' या 'उद्घाटय' पद छिपा हुआ है। अतः इस एक पद को ही वाक्य कहा जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाक्यं तदपि मन्यन्ते, यत्पदं चरितक्रियम् ।

— वा. प. २।३२६.

पाणिनि ने तद्धित प्रकरण में ऐसे बहुत से नियम दिये हैं जिनके कारण क्रिया का अर्थ पद में आ जाता है। जैसे 'वैयाकरण' शब्द में व्याकरण को पढने या जानने की क्रिया का अर्थ भी समाविष्ट है। (अष्टाध्यायी ४।२।५८) यदि क्रिया का अर्थ ज्ञात है या हो सकता है तो व्यावहारिक वाक्यों में उसका प्रयोग नहीं भी किया जा सकता है। अर्थ-ज्ञान के समय उसका अध्याहार कर लिया जाता है।

जगदीश ने शब्दशक्ति प्रकाशिका ग्रंथ में इस बात को दूसरे रूप में प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि प्राचीन आचार्यों का यह कथन है कि क्रिया के बिना वाक्य नहीं होता है। यह युक्तिसंगत न होने से अश्रद्धेय है-

क्रियारहितं न वाक्यमस्तीत्यादिकस्तु प्राचांप्रवादो निर्युक्तिकत्वादश्रद्धेयः ।

— श. श. प्रकाशिका

(१३ की व्याख्या)

जैसे 'घटः' यह पद भी वाक्य है। 'कुतो भवान्' में क्रिया नहीं है। लेकिन फिर भी यह वाक्य है। वैयाकरणों के अनुसार यहां क्रिया गुप्त है। 'अस्ति' तथा 'आगच्छति' क्रिया का अध्याहार करने से ही इनका अर्थ पूर्ण होता है।

एकवाक्यता का लक्षण करते समय वैयाकरण आकार-रचना पर जोर देते हैं, जबकि नैयायिक अर्थ-प्रकाश पर बल देते हैं। इसलिये वैयाकरण क्रिया गुप्त रहने पर उसका अध्याहार करना उचित समझते है, क्योंकि उसके बिना वाक्य सम्पूर्ण नहीं होगा; जबकि नैयायिक यह मानते हैं कि बिना क्रिया के भी यदि अर्थ-ज्ञान हो जाए तो इसमें कोई दोष नहीं है। इतना होने के बावजूद भी नैयायिक और वैयाकरण दोनों ही यह मानते हैं कि एक-वाक्यता का आधार विशेष्य-विशेषण भाव है। वैयाकरण धात्वर्थ को मुख्य विशेष्य रूप में ग्रहण करते हैं। याने क्रिया या व्यापार ही मुख्य विशेष्य होता है। लेकिन नैयायिक प्रथमा विभक्ति के द्वारा उपस्थित अर्थ को ही मुख्य विशेष्य रूप से स्वीकार करते हैं। मीमांसकों के अनुसार वाच्यार्थ-बोध में आख्यातार्थ आर्थी-भावना = पुरुष प्रवृत्ति ही मुख्य विशेष्य होती है। अन्य पदार्थ आख्यातार्थ को विशेषण के रूप में उपलब्ध होते हैं। लेकिन यहां पर इसकी विस्तृत आलोचना करना लक्ष्य नहीं है।

पुनः एक-वाक्यता के ही प्रसंग में गम्भीरता से सोचें तो प्रश्न उठता है कि एकवाक्यता कहां कहां स्वीकार की जानी चाहिये ? जहां पर एक तिङन्त पद हो अथवा जहां पर प्रयोजन एक हो ? यदि 'एक तिङ्' को ही वाक्य-लक्षण माना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाय तो 'पचति, भवति' तथा 'पश्य, मृगो धावति' स्थल में एकवाक्यता कैसे होगी? लेकिन वैयाकरण यहां एकवाक्यता की रक्षा के लिये कहते हैं कि 'पचति' तथा 'भवति' पद परस्पर साकांक्ष होने के कारण एकवाक्य हैं। इसी तरह 'पश्य' और 'मृगो धावति' भी परस्पर साकांक्ष होने के कारण एकवाक्य हैं। मीमांसकों का वाक्य-लक्षण अनायास ही यहां प्रविष्ट हो जाता है। वैयाकरण भी 'एक तिङ्' की जिद को छोड़ कर एकवाक्य स्वीकार नहीं कर लेते हैं।

इसी तरह नैयायिकों के मत से भी 'पचति भवति' में प्रथमान्त पद न होने के कारण वाक्य-बोध नहीं हो सकता है तथा 'पश्य मृगो धावति' में कार्यतः दो प्रथमान्त पद होने के कारण एकवाक्यता का निर्वाह कैसे होगा? नैयायिक यहां वैयाकरणों की तरह ही सारे नियमों को एक ताक पर रख कर तात्पर्य-बोध को ही महत्त्व देते हैं। 'पचति भवति' स्थल में प्रथमान्त पद के बिना ही 'पाकः भवनाश्रयः' रूप से एकवाक्य तथा 'पश्य मृगो धावति' स्थल में 'त्वं' प्रथमान्त पद को ही मान कर 'धावनानुकूलकृतिमान् मृग कर्मक दर्शनाश्रयः त्वम्' रूप से एकवाक्य स्वीकार कर लेते हैं। यहाँ श्रूयमाण 'मृग' पद प्रथमान्त होने पर भी मुख्य विशेष्य रूप से स्वीकृत नहीं है।

ऊपर की पूरी आलोचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि एकवाक्यता का निर्धारण किसी बंधे नियम से सम्बन्धित नहीं है—यह तो वक्ता के अभिप्राय और श्रोता की ग्रहण-बुद्धि पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिये पिता आदि पुत्र से कहता है 'कागज और कलम ले आओ' तो यहां पर पुत्र दोनों ही वस्तुएँ एक साथ ले आता है। अर्थात् 'ले आओ' क्रिया का अन्वय दोनों ही वस्तुओं के साथ एक साथ करके व्यवहार में प्रवृत्त होता है। यहाँ एकवाक्यता भी रह जाती है। लेकिन यदि उसने किसी कारणवश 'कागज' शब्द सुना ही न हो तो स्वाभाविक है कि वह 'कलम' शब्द के ही साथ 'ले आओ' क्रिया का अन्वय करेगा और पुनः आदेश प्राप्त होने पर 'कागज' शब्द के साथ भी अन्वय कर लेगा जो कि निश्चित रूप से वाक्य-भेद ही प्रदर्शित करता है, जब कि दोनों ही स्थलों में प्रयोजन एक ही था। लेकिन पहले उदाहरण में प्रयोजन वाक्य के साथ ही गृहीत हो गया और दूसरे स्थल में प्रयोजन दिग्भ्रमित हो गया।

अब एक तीसरा दृष्टान्त लेते हैं। पिता पुत्र को आदेश देता है – 'मेज और कुर्सी यहां रख दो'। पुत्र को वाक्यार्थ-बोध एक झटके में ही हो जाता है। 'मेज यहां रख दो' और 'कुर्सी यहां रख दो' ऐसा वाक्य-भेद उसे नहीं होता है। पर प्रवृत्ति के समय देखा जाता है कि वह एक एक करके ही वस्तुएँ रखता है। याने दोनों वस्तुएँ एक साथ लाने में असमर्थ होने पर वह पहले मेज या कुर्सी और बाद में अन्य वस्तु लाता है। यहाँ 'बोध' में एक-वाक्यता ही रक्षित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती है, व्यवहार में वह भले ही न हो। इससे स्पष्ट होता है कि एकवाक्यता के नियम नैयायिक या वैयाकरण जैसे चाहें बना सकते हैं, पर उसका बोधवक्ता और श्रोता के मध्य एक समझौते की स्थिति है जो किसी नियम में बांधी नहीं जा सकती है, जहां थोडी बहुत स्वतंत्रता उन्हें देनी ही पडेगी।

इसलिए 'अस्ति स मे रोचते' 'नास्ति इमे' 'भवेदपि भवेत्' 'स्यादपि स्यात्' इत्यादि वाक्य विचार-भेद से एक वाक्य भी हैं और नाना वाक्य भी हैं। अनेक क्रिया-पद होने से नाना वाक्य हैं। परस्पर साकांक्ष होने से. क्रिया में परस्पर लक्ष्य-लक्षण भाव होने से अथवा काल-विशेष के लक्षण होने से एक वाक्य भी हैं। जो लोग वाक्य-भेद का आधार बुद्धि में अन्य का उल्लेख मानते हैं उनके मत में भी उपर्युक्त वाक्यों में एकवाक्यता हैं। भोज भी शृंगार प्रकाश में कहते हैं –

तत्र हि खलु वाक्यभेद उपेयते चात्रासौ
परामृश्यमानः अन्या बुद्धिरुल्लिखति।

इस संदर्भ में समूहालंबन शाब्द-बोध के साथ एकवाक्यता का पृथक्त्व उल्लेखनीय है। समूहालम्बन-ज्ञान स्थल में एकाधिक पदार्थ मुख्य विशेष्य रूप से प्रतीत होते हैं। जैसे 'घट पटौ' अथवा 'घट : पटश्च' यहां पर क्रमशः 'घटत्व निष्ठ प्रकारता-निरूपित घटनिष्ठ विशेष्यता शालि' एवं 'पटत्वनिष्ठ प्रकारता निरूपित पटनिष्ठ विशेष्यताशालि' ज्ञान होता है। अत एव घट एवं पट दोनों ही मुख्य विशेष्य रूप से प्रतीयमान होते हैं। समूहालम्बन-ज्ञान का अर्थ है –

'प्रकारत्वानवच्छिन्न विशेष्यता विशिष्ट
ज्ञानत्वं समूहालम्बनत्वम्'

अर्थात् समूहालंबन ज्ञान में प्रत्येक प्रकारता निरूपित पृथक्, पृथक् विशेष्यता रहती है, जब कि एकवाक्यता में नाना प्रकारता निरूपिता एक विलेष्यता अथवा नाना विशेष्यता निरूपिता एक प्रकारता रहती है।

II

उपर्युक्त आलोचना की पृष्ठभूमि पर, गदाधर इस समस्या का समाधान व्युत्पतिवाद ग्रंथ में किस प्रकार से करते हैं, यह जानना ही इस निबन्ध का मुख्य उद्देश्य है। गदाधर इस समस्या का बीजारोपण इस प्रकार करते हैं-पद में निहित विभक्ति के द्वारा उत्थापित संख्या का अन्वय प्रकृत्यर्थ के साथ किस सम्बन्ध से होता है ? चूंकि संख्या गुण है। अतः उसका सम्बन्ध संख्येय पदार्थ से समवाय सम्बन्ध से ही होना चाहिये। लेकिन समवाय सम्बन्ध से संख्या का अन्वय स्वीकार करने पर आकाशादि एक व्यक्ति स्थल में भी द्विवचन, बहुवचन का प्रयोग होने लगेगा। अर्थात् 'आकाशौ, आकाशा :' यह प्रतीति भी होने लगेगी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकि समवाय सम्बन्ध तो एक ही है। समवाय सम्बन्ध से जैसे एकत्व आकाश में है वैसे ही द्वित्व और बहुत्व भी आकाश में रहेगा। परन्तु 'आकाशौ' 'आकाशा:' यह प्रतीति तो अप्रमा है। अतएव उक्त दोनों प्रतीतियों का निवारण करने के लिये ही संख्या का अन्वय प्रकृत्यर्थ के साथ समवाय सम्बन्ध से न स्वीकार करके पर्याप्ति सम्बन्ध से स्वीकार किया जाता है। पर्याप्ति सम्बन्ध का अर्थ है।

पर्याप्तिश्च अयमेको घटः इमौ द्वाविति
प्रतीतिसाक्षिकः स्वरूप सम्बन्ध विशेष एव।
– अवच्छेदक निरुक्ति (दीधिति)

(पृष्ठ ३५)

अर्थात् 'एको घटः' 'द्वौ घटौ' इत्यादि स्थल में घट में जो एकत्व और द्वित्व की प्रतीति होती है वह पर्याप्ति सम्बन्ध से है। द्वित्व की प्रतीति किसी एक घट में नहीं होती है, बल्कि दोनों घटों में समुदित रूप से होती है। क्योंकि नियम है कि

'उभयत्वमुभयत्रैव पर्याप्तं न त्वेकत्रेति।

– मथुरानाथ (व्याप्तिपंचके)

उभयत्व उभय पदार्थों में ही पर्याप्त है, किसी एक में नहीं। अत: पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्व घट और आकाश उभय में ही रह सकता है, किसी एक में नहीं। फिर 'आकाशौ' यह प्रतीति कैसे होगी? अर्थात् नहीं हो सकती। आकाश में तो सिर्फ एकत्व की ही पर्याप्ति रहती है।

इस पर आशंका होती है कि पर्याप्ति सम्बन्ध से भी 'आकाशौ' यह प्रतीति होने में कोई बाधा नहीं है। क्योंकि नियम है –

प्रत्येकमुभयत्र पर्याप्तिसम्बन्धेनासतोऽव –
च्छेदकत्वस्य उभयत्र पर्याप्ति सम्बन्धेन सत्त्वायोगात्।

– सिद्धान्तलक्षणम् (जागदीशी)

अर्थात्, उभयत्व प्रत्येक में पृथक् रूप से वर्तमान रह कर ही एकत्र रूप से उभय में रहता है। यदि द्वित्व पर्याप्ति सम्बन्ध से पहले घट और आकाश में पृथक् पृथक् न रहता हो तो घट और आकाश उभय में कैसे रह सकता है? अतएव 'आकाशौ' यह प्रतीति प्रमा होने में कोई बाधा नहीं है।

गदाधर इस आशंका का उत्तर देते हैं कि यद्यपि शुद्ध पर्याप्ति सम्बन्ध से लेने पर 'आकाशौ' यह प्रतीति प्रमा हो जाती है तथापि 'उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्य–पर्याप्तद्वित्व' सम्बन्ध स्वीकार करने पर 'आकाशौ' यह प्रतीति प्रमा नहीं हो सकेगी, क्योंकि यहां पर उद्देश्यतावच्छेदक = आकाशत्व है, उसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याप्य = एकत्व है, द्वित्व नहीं है। अतः उद्देश्यतावच्छेदक–व्याप्य पर्याप्त एकत्व' सम्बन्ध से 'आकाशः' यह प्रतीति होगी, किन्तु 'उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्य-पर्याप्तद्वित्व' सम्बन्ध यहां संभव ही न होने के कारण 'आकाशौ' यह प्रतीति हो ही नहीं सकती।

हमारी मूल समस्या यहां से प्रारंभ होती है कि उद्देश्यतावच्छेदक-व्याप्य-पर्याप्तिद्वित्व' सम्बन्ध से अगर द्विवचनान्त विभक्ति का अन्वय प्रकृत्यर्थ के साथ स्वीकार किया जाय तो 'धवखदिरौ छिनत्ति' स्थल में वाक्यार्थबोध कैसे होगा? साधारणतः यहां एक धव (वृक्ष का नाम) और एक खदिर (वृक्ष का नाम) के तात्पर्य से ही 'धवखदिरौ' कहा गया है। पर द्वन्द्वसमास कर के यहां पर द्विवचन हुआ है। अतः द्विवचन का अन्वय किस प्रकार से होगा? चूंकि वक्ता का तात्पर्य एक-एक धव और खदिर में है इसलिए 'छिनत्ति' (छेदन करता है) क्रिया का अन्वय धव और खदिर उभयनिष्ठ द्वित्वाश्रय धव और खदिर के साथ ही होना चाहिये। पर जैसा कि पहले कहा जा चुका है 'उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्यपर्याप्तद्वित्व' सम्बन्ध यदि स्वीकार किया जाय तो यहां उद्देश्यतावच्छेदक = धवत्व और खदिरत्व है। अतः 'धवत्वव्याप्य-पर्याप्तिद्वित्व' तथा 'खदिरत्वत्वव्याप्यपर्याप्तिद्वित्व' सम्बन्ध दो हो गये, जिनका अन्वय क्रमशः धव और खदिर से होगा, जिससे 'धवखदिरौ' में प्रकारता रूप से दो 'द्वित्व' का बोध होने लगेगा – फलतः दो धव और दो खदिर की ही उपपत्ति होगी। इस तरह वक्ता का तात्पर्य भंग हो जायेगा।

वस्तः के तात्पर्य की रक्षा के लिये भी मीमांसक इसका समाधान इस प्रकार करते हैं। 'धव खदिरौ' स्थल में इतरेतर द्वन्द्व समास होने के कारण धव और खदिर उभय में निहित द्वित्व एक ही है किन्तु उसका (द्वित्व का) आश्रय दो हैं—धव और खदिर। अतः साहित्याश्रय (धव तथा खदिर) में एक वचनान्त क्रिया का अन्वय होता है। साहित्य का अर्थ है जब दो वस्तुएँ एक साथ रहती हैं तो उसे साहित्य कहते हैं (सहितत्व)। मीमांसक समास–स्थल में अन्तिम पद में 'साहित्याश्रय' में लक्षणा स्वीकार करते हैं तथा पूर्वपद तात्पर्य का ग्राहक मानते हैं। यदि साहित्याश्रय में लक्षणा स्वीकार न की जाय तो 'धवखदिरौ' स्थल में साहित्य का अवच्छेदक धवत्व और खदिरत्व होगा, तथा द्वित्व का सम्बन्ध धवत्व विशिष्ट धव और खदिरत्व विशिष्ट खदिर से होने के कारण दो धव और दो खदिर का बोध होने लगेगा जो कि इष्ट नहीं है। अतः मीमांसक साहित्याश्रय में लक्षणा स्वीकार करते हैं। वैसा करने से धव और खदिर का अवच्छेदक साहित्य होगा। द्वित्व का सम्बन्ध साहित्य के आश्रय से होगा जो धव और खदिर दोनों हैं, इनमें से कोई एक नहीं है। उभय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में एक व्दित्व की प्रतीति होने के कारण व्दित्वव्दय की आपत्ति नहीं हो सकती हैं। अत: एक घव और एक खदिर के तात्पर्य से ही उक्त प्रयोग किया गया है। लक्ष्मीकान्त व्युत्पत्ति वाद की टीका में लिखते हैं –

मीमांसका हि घवखदिरावित्यादावितरेतरव्दन्द्वस्थले उत्तरपदे घवखदिरादि साहित्याश्रये लक्षणाऽतो व्दिवचनादेः प्रकृत्यर्थतावच्छेदकवत्येव पर्याप्तिसम्बन्धेन स्वार्थव्दित्वाद्यनुभावकत्वेऽपि घवखदिरावित्यतो न घवद्वयस्य खदिरव्दयस्य च प्रतीतिरित्याहुः ।

—पृष्ठ ११०

न्यायमत में उपर्युक्त मीमांसक समाधान रुचिकर नहीं है, कारण साहित्याश्रय में लक्षणा स्वीकार करने पर भी दो घव और दो खदिर की आपत्ति हो ही जायेगी। साहित्य का तात्पर्य है– 'तुल्यवदेकक्रियान्वयित्वं' (एक जातीय क्रिया के साथ अन्वय होना) या "बुध्दिविशेषविशेष्यत्वम्" (नाना प्रकारक बुद्धि का एक विशेष्यत्व होना)। साहित्याश्रय में यदि लक्षणा स्वीकार की जाय तो जैसे साहित्य का आश्रय 'अयं घवः' 'अयं खदिरः' इत्यादि बुद्धि–विशेष्य–रूप एक घव और एक खदिर हो सकता है वैसे ही 'इमौ घवौ', 'इमौ खदिरौ' इत्यादि बुध्दि–विशेष का विशेष्यत्व घवद्वय और खदिरद्वय भी हो सकता है। अतएव इतरेतर व्दन्व्द समास के स्थल में जहां घवत्व और खदिरत्व दो धर्म प्रकृत्यर्थतावच्छेदक रूप से भासमान होंगे वहां प्रत्येक धर्मविशिष्ट जो पदार्थव्दय है उसके समुदाय में व्दिवचनार्थ व्दित्व संख्या का अन्वय पर्याप्ति सम्बन्ध से होगा। "औ" प्रभृति विदवचन एक धर्म का साकांक्ष नहीं है वरन् उभय धर्म में ही साकांक्ष है। इस प्रकार साकांक्षत्व मानने के पश्चात् घवखदिरौ स्थल में घवव्दय खदिरव्दय का बोध नहीं होगा। ऐसा जगदीश भी कहते हैं–

यत्र नानाधर्माणां प्रकृत्यर्थतावच्छेदकत्वं तत्र तत्द्धर्मावच्छिन्ने समुदित एव पर्याप्तिसम्बन्धेन द्वित्वादि बोधने द्विवचनादिकं साकांक्षं न तु तादृक्धर्मावच्छिन्नं परित्यज्य तथाविधापर धर्मावच्छिन्ने; यतो घवखदिरावित्यादितो घवयोः खदिरयोश्च बोधप्रसंग इति तत्त्वम्।

– श. श. प्र. (पृष्ठ १६२–१६३) तृतीय खंड

गदाधर के अनुसार 'उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्य पर्याप्तिद्वित्व' सम्बन्ध स्वीकार न करके शुद्ध पर्याप्ति या समवाय द्वित्व सम्बन्ध स्वीकार किया जाय तो भी उक्त तात्पर्य भंग नहीं होगा। 'उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्य पर्याप्तिद्वित्व' सम्बन्ध वहीं पर स्वीकार किया जाता है जहां एक ही धर्म उद्देश्यतावच्छेदक होता है। जैसे—'घटौ'। किन्तु जहां पर धर्मद्वय उददेश्यतावच्छेदक होते हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वहां शुध्दपर्याप्ति या समवाय व्दित्व सम्बन्ध स्वीकार करेंगे। क्योंकि वहां पर उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्य पर्याप्ति द्वित्व संभव नहीं है। यथा– 'घवख-दिरौ' स्थल में उद्देश्यतावच्छेदक = घवत्व और खदिरत्व है। व्याप्यत्व का लक्षण है तव्ददन्यावृत्तित्व। अर्थात् यहां पर तव्दत् = घवत्व और खदिरत्व है। तव्ददन्य = घवत्ववदन्य = खदिरत्व है। तव्ददन्य = खदिरत्ववदन्य = घवत्व है। इस प्रकार तव्ददन्यावृत्तित्व = खदिरत्व और घवत्व में व्दित्वपर्याप्ति रह जाती है। अतः उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्य पर्याप्ति व्दित्व नहीं हुआ। फलस्वरूप 'उद्देश्यता-वच्छेदक व्याप्त पर्याप्ति व्दित्व' सम्बन्ध संभव न होने से 'घवखदिरौ' स्थल में शुद्ध पर्याप्ति या समवाय ही व्दित्व सम्बन्ध स्वीकार करना पडेगा ऐसा कहने से एक घव और एक खदिर के तात्पर्य से ही 'घवखदिरौ' कहा गया है ऐसा भान हो जाता है। घव और खदिर में उभय को ले कर ही अन्वयितावच्छेदक व्दित्व का क्रिया–पद से अन्वय किया जाता है। जिससे एक घव और एक खदिर का तात्पर्य–बोध होता है। शुद्ध पर्याप्ति सम्बन्ध से उभयनिष्ठ व्दित्व ही अन्वयिताव-च्छेदक होगा।

(क्रियापद 'छिनत्ति' का अन्वय घव और खदिर से होता है। इस अन्वय सम्बन्ध के अन्वयी हुए घव और खदिर। तथा उनके अवच्छेदक या दूसरे शब्दों में कहें तो अन्वयितावच्छेदक हुवा व्दित्व)

यहां पर एक और आशंका होती है कि यदि नानाधर्मावच्छिन्न स्थल में (घवखदिरौ) शुद्ध पर्याप्ति सम्बन्ध स्वीकार किया जायेगा तो 'घवौ', 'खदिरौ' इस समूहालम्बन शाब्दबोध के स्थल में भी नाना धर्म होने के कारण शुध्द पर्याप्ति सम्बन्ध क्यों नहीं माना जाना चाहिये? गदाधर इसका समाधान करते हैं कि समूहालम्बन स्थल में (घवौ, खदिरौ) शुध्द पर्याप्ति सम्बन्ध मानने से यह कठि-नाई होगी कि घव और खदिर दोनों के समुदाय में व्दित्व का भान होगा और व्दित्व का अन्वय प्रत्येक घव और खदिर में होने से एक घव और एक खदिर का ही बोध होगा। किन्तु 'घवौ', 'खदिरौ' यह प्रयोग एक घव और एक खदिर के उद्देश्य से किया ही नहीं गया है। यहां तो दो घव और दो खदिर का तात्पर्य है।

अतः गदाधर मानते हैं कि एक–वाक्यता के स्थल में ही शुद्ध पर्याप्ति सम्बन्ध स्वीकार करना चाहिये। अर्थात् 'घवखदिरौ छिनत्ति' स्थल में 'नाना-धर्मावच्छिन्न निरूपिता एका व्दित्वनिष्ठप्रकारता' होने के कारण शुद्ध पर्याप्ति सम्बन्ध स्वीकारने से कोई मुश्किल नहीं होगी। किन्तु 'घवौ', 'खदिरौ' समूहा-लम्बनात्मक शाब्दबोध के स्थल में 'नानाधर्मावच्छिन्न विशेष्यता निरूपिता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नानाद्वित्वादिनिष्ठ प्रकारता ' होने के कारण ' उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्य विशिष्ट पर्याप्ति ' सम्बन्ध को ही स्वीकारना पड़ेगा। ' धवौ ' में धव पद के अनन्तर द्विवचन होने के कारण द्वित्वनिरूपिता विशेष्यता पृथक् है और ' खदिरौ ' में खदिर पद के अनन्तर द्विवचन होने के कारण द्वित्वनिरूपिता विशेष्यता पृथक् है। अतः, एक धव और एक खदिर के तात्पर्य से ' धवौ ', ' खदिरौ ' नहीं कहा गया है। लेकिन ' धव-खदिरौ ' में धव खदिर उभयगत द्वित्व प्रत्येक में रहने पर भी द्वित्व पर्याप्ति नहीं है, अतः प्रत्येक में पृथक् पृथक् द्वित्व की प्रतीति नहीं होती है। फिर वहां दो धव और दो खदिर की प्रतीति कैसे होगी ?

इस पर भी यदि कोई आपत्ति करे कि ' धवखदिरौ ' में समूहालम्बन शाब्द-बोध ही स्वीकार कर लेने में क्या हानि है ? वहां एक-वाक्यता भी नहीं मानेंगे; तो ' धवखदिरौ ' वाक्य से दो धव और दो खदिर का बोध हो सकता है। इस पर गदाधर कहते हैं कि ' धवखदिरौ ' समास पद है। इस समास पद के अनन्तर द्विवचन भी है। अतः यहाँ नानाविशेष्यतानिरूपितैकद्वित्वादिप्रकारता-शालिज्ञान ' उत्पन्न होता है। अर्थात् विशेष्य भिन्न भिन्न होने पर भी प्रकारता में भेद होने के कारण यह समूहालम्बन शाब्दबोध नहीं है। इसी तरह से 'खड्गी चैत्रः कुण्डली ' स्थल में नाना प्रकारता निरूपित एक चैत्रनिष्ठ विशेष्यता होने के कारण समूहालम्बन शाब्द बोध नहीं होगा। यहां चैत्र मुख्य विशेष्य है; जिसमें नाना प्रकार है खड्गधारी, कुण्डलधारी होना। पहले ही कहा जा चुका है कि समूहालंबन शाब्दबोध स्थल में नाना प्रकारता निरूपित नाना मुख्य विशेष्यता होती है।

यदि समासघटक ' धवखदिरौ ' विषयक ज्ञान भी समूहालंबन शाब्दबोध ही होता तो समूहालंबन वाक्य ' धवौ ' ' खदिरौ ' से इसका वैलक्षण्य ही नहीं रहता। इसके साथ ही ' धवखदिरौ ' समासघटक वाक्य की एक-वाक्यता भी समाप्त हो जाती। यदि यहां पर विशेष्यता-भेद से प्रकारता-भेद भी रहता तो धव खदिर पद में परस्पर एक-वाक्यता नहीं रहती, और एक-वाक्यता न रहने से समास भी नहीं होता। ' धवखदिरौ छिनत्ति ' स्थल में समास होने के कारण ही एकवाक्यता मानी गई। यदि समास न होता तो एक-वाक्यता मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती।

विशेष्यता-भेद और प्रकारता-भेद से एक-वाक्यता क्यों नहीं होती है ? इसके उत्तर में गदाधर एक-वाक्यता का लक्षण करते हैं –

तत्प्रयोज्यविषयतया साक्षात् परम्परया वा निरूपिता विषयता तत्प्रयोजकत्वस्यैव तदेकवाक्यता पदार्थत्वात्।

व्युत्पत्तिवाद (पृष्ठ २०५)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् दो पदों में प्रयोज्य-प्रयोजक भाव साक्षात् या परम्परा रूप से यदि हो तो उनमें एक-वाक्यता मानी जाती है। (यद्यपि यहाँ पर यह संदेह मन में रह ही जाता है कि पदों के द्वारा उपस्थित अर्थों में प्रयोज्य-प्रयोजक भाव रहना चाहिये। उदाहरण के लिए 'राजपुरुषः'। यहां पर 'राज' 'पद' प्रयोज्य प्रकारताख्य विषयता साक्षात् रूप से पुरुषनिष्ठ विशेष्यताख्याविषयता का प्रयोजक है, वह 'पुरुष' पद में है। इसी तरह से 'पुरुष' पद प्रयोज्य विशेष्यताख्याविषयता साक्षात् रूप से जो राजनिष्ठ प्रकारताख्य विषयता का प्रयोजक है वह 'राज' पद में है; अतएव परस्पर प्रयोज्य-प्रयोजक-भाव रूप एक-वाक्यता रहने के कारण 'राजपुरुषः' समास पद हुआ तथा 'राज' और 'पुरुष' पद में परस्पर निरूप्य-निरूपक भाव हुआ।

(जिसके द्वारा जिसका निरूपण होता है उसे उसका निरूपक कहते हैं। यह ज्ञापक भी होता है। विशेष्यता की निरूपक प्रकारता है, प्रकारता की निरूपक विशेष्यता है। किसी पदार्थ में प्रकारता का भान नहीं होने पर, दूसरे किसी पदार्थ में विशेष्यता का भान नहीं हो सकता है, और किसी पदार्थ में विशेष्यता का भान न होने पर किसी अन्य पदार्थ में प्रकारता का भान नहीं हो सकता है। इसलिए विशेष्यता से निरूपित प्रकारता और प्रकारता से निरूपित विशेष्यता कही जाती है। वे परस्पर सापेक्ष हैं।)

इस प्रकार 'धवखदिरौ' स्थल में धवपदप्रयोज्य विशेष्यता निरूपिता, खदिरपद प्रयोज्य विशेष्यता निरूपिता द्वित्वनिष्ठ प्रकारता परम्परा रूप से है, क्योंकि धव और खदिर दोनों का द्वित्व के साथ निरूप्यनिरूपक भाव है। किन्तु धव का खदिर के साथ, या खदिर का धव के साथ निरूप्य-निरूपक भाव न होने के कारण यहां परम्परा सम्बन्ध लेना पड़ता है। यदि धवनिष्ठ विशेष्यता निरूपिता द्वित्व प्रकारता खदिरनिष्ठ विशेष्यता निरूपिता द्वित्व प्रकारता से भिन्न होती तो समास नहीं होता; उनमें प्रयोजक भाव भी नहीं होता तथा एक-वाक्यता भी नहीं होती। अतः धवखदिरोभयनिष्ठ विशेष्यताद्वयनिरूपित द्वित्वनिष्ठा एकैव प्रकारता यहाँ स्वीकृत है।

यह नियम है कि एक-वाक्यता यदि स्वीकृत न हो तो समास भी स्वीकृत नहीं होता है। यथा 'अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' इस स्थल में 'राज' पद और 'पुरुष' पद में समास नहीं हो सकता है क्योंकि पाणिनि सूत्र है 'समर्थ पदविधिः' (२।१।१)। समर्थ पदों में ही समास होता है। समर्थ का अर्थ है पदों में एकार्थभान या व्यपेक्षा-भाव का होना। (विशेष व्याख्या के लिये सूत्र देखें) राज और पुरुष पद परस्पर समर्थ न होने के कारण समासबद्ध नहीं हो सकते हैं। वे समर्थ इसलिए नहीं हैं क्योंकि 'राज' पद 'पुत्र' की अपेक्षा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रखता है जो समास का अघटक पद है। और 'पुरुष' पद भी 'अपसार्यताम्' पद की अपेक्षा रखता है जो कि समास का अघटक पद है। अतः 'राज' और 'पुरुष' पद दोनों ही परस्पर असमर्थ होने के कारण समासबद्ध नहीं हो सकते हैं। यहाँ वाक्य-भेद स्वीकार करना पड़ेगा। समास यहां असाधु है, अतः एक-वाक्यता नहीं होगी।

इसी विधि के कारण 'ऋद्धस्य राजमातङ्गा' स्थल में भी 'राज' पद के साथ 'ऋद्ध' पद का समास नहीं होता है क्योंकि 'राज' पद समास के अघटक ऋद्ध पद की अपेक्षा रखने के कारण असमर्थ है। लेकिन यहां पर आशंका होती है कि फिर 'मातङ्गा' पद को क्यों न असमर्थ माना जाय? इसके उत्तर में कहते हैं कि ऐसा नहीं किया जा सकता है क्योंकि यह अनुभव-सिद्ध नहीं है।

गदाधर पुनः एक नवीन दृष्टान्त दे कर समस्या को एक नया मोड़ देते हैं। यथा 'जलपृथिव्योः स्नेहगन्धौ' (जल और पृथिवी में स्नेह और गंध हैं)। यहां 'जले स्नेहः पृथिव्यां गन्धः' (जल में स्नेह और पृथिवी में गन्ध है) - इत्याकारक समूहालंबन बोध होना चाहिये - ऐसी आपत्ति की जा सकती है।

किन्तु गदाधर इसे समूहालंबन से विलक्षण ज्ञान स्वीकारते हैं। वे इसे भी एक-वाक्यता के ही उदाहरण रूप में लेते हैं। 'जलपृथिव्योः' और 'स्नेहगन्धौ' दो पृथक् पृथक् समास हैं। जल और पृथिवी उभय में ही व्दिवचनान्त होने के कारण व्दित्वनिष्ठ प्रकारता निरूपित विशेष्यता है। इसी तरह से स्नेह और गन्ध में भी व्दिवचनान्तता के कारण व्दित्वनिष्ठ प्रकारता निरूपिता विशेष्यता है। जिस तरह 'जलनिष्ठ विशेष्यता निरूपिता' तथा 'पृथिवीनिष्ठ विशेष्यता निरूपिता' एक व्दित्व निष्ठ प्रकाकता है, उसी तरह से 'स्नेहनिष्ठ विशेष्यता निरूपित' और 'गन्धनिष्ठ विशेष्यता निरूपित' एक व्दित्वनिष्ठ प्रकारता है। विशेष्यताभेद से प्रकारता-भेद न होने के कारण एक-वाक्यता भंग नहीं हुई है। यह शाब्दबोध ठीक उसी तरह से है जैसे कोई कहें, 'राम और श्याम मथुरा और वृन्दावन में रहते हैं'। यहां श्रोता अनायास ही तात्पर्य व्दारा यह समझ लेता है 'राम मथुरा में और श्याम वृन्दावन में रहता है।' इस तरह इसको एक-वाक्यता भी नष्ट नहीं होती है।

गदाधर यहां पर पुनः एक विवादास्पद दृष्टान्त दे कर समस्या के चक्रव्यूह में घूसने का प्रयास करते हैं। यदि यह निर्विवाद रूप से मान लिया जाय कि विशेष्यता-भेद से प्रकारता-भेद न हो तो भी एक-वाक्यता होती है और समास भी होता है तो 'चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः' यहां पर चैत्र और मैत्र में परस्पर समास क्यों नहीं होता है? यहां पर चैत्र मैत्रनिष्ठ विशेष्यता भेद से व्दित्वनिष्ठ प्रकारता तो एक ही है। इसलिए चैत्र और मैत्र में परस्पर प्रयोज्य-प्रयोजक-भाव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

 111908

बोध भी है। अत: एक-वाक्यता भी है। चैत्र और मैत्र पद में समास न होने पर भी प्रयोज्य-प्रयोजक भाव स्वीकृत है क्योंकि 'चैत्रपदे प्रयोज्यविषयता, निरूपित व्दित्व विषयता निरूपित विषयता' का प्रयोजकत्व मैत्र में है। अत: एक-वाक्यता भी स्वीकृत है। परन्तु यहां पर व्यभिचार स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। पूर्व के दृष्टान्त 'धवखदिरौ छिनत्ति' में समासबध्दता के कारण एक-वाक्यता स्वीकार की गई है, तथा 'चैत्रो मैत्रश्च गच्छत:' बिना समास के ही एक-वाक्यता स्वीकार की गई है।

इसके उत्तर में गदाधर कहते हैं कि यद्यपि यहां पर एक-वाक्यता स्वीकृत है, तथापि समास-विधि में विकल्प के कारण यहां पर समास नहीं हुआ है। अर्थात् यहां समास हो भी सकता है, और नहीं भी हो सकता है। समास होने पर वाक्य का आकार होता-'चैत्रमैत्रौ गच्छत:'।

इस पर यदि कोई आशका करे कि यहां पर एक-वाक्यता ही नहीं माननी चाहिये, फलत: यहां समास मानने की आवश्यकता ही नहीं है। यह समूहालंबन शाब्द-बोध का उदाहरण है, अर्थात चैत्रनिष्ठ विशेष्यता निरूपिता-द्वित्वनिष्ठ प्रकारता से भिन्न मैत्रनिष्ठ विशेष्यता-निरूपिता द्वित्वनिष्ठ प्रकारता है। ऐसी अवस्था में समूहालम्बन शाब्द-बोध होने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये।

इस पर गदाधर कहते हैं कि समूहालम्बन शाब्द-बोध स्वीकार करने पर चैत्रमैत्रोभयनिष्ठ एक द्वित्व की प्रतीति न होने के कारण चैत्रनिष्ठ पृथक् द्वित्व और मैत्रनिष्ठ पृथक् व्दित्व की प्रतीति होने के कारण चैत्रद्वय और मैत्रद्वय का बोध होने लगेगा, जो इष्ट नहीं है। क्योंकि उक्त प्रयोग एक चैत्र और एक मैत्र के तात्पर्य से ही किया गया है। समूहालम्बन शाब्दबोध मानने से उक्त तात्पर्य की अनुपपत्ति हो जायेगी। अर्थात् कहने का मतलब है कि एक-वाक्यता यहां माननी पडेगी, समास चाहे मानो या न मानो।

पूर्व के परिच्छेद में गदाधर के मत को बिना किसी आलोचनात्मक टिप्पणी के ज्यों का त्यों प्रस्तुत किया गया है। इससे हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि पद-समूह में एक-वाक्यता है अथवा नहीं यह पदों के आपसी रिश्तों के ऊपर निर्भर करता है। यदि उनके द्वारा किसी 'एकार्थ' की प्रतीति होती है या उनमें परस्पर प्रयोज्य-प्रयोजक भाव है तो इनमें एक-वाक्यता मानी जायेगी।

इसके अलावा यदि ऐसे पदसमूह में प्रथमान्त मुख्य विशेष्य एक ही है तो बाकी सभी विशेषणों का पतन उसी में आकर होगा, 'खले कपोत न्याय की तरह' अथवा 'विशिष्ट वैशिष्टय रीति' से। उदाहरण के लिये-'छत्री कुन्डली वासस्वी देवदत्त:' स्थल में देवदत्त रूप विशेष्य में छत्र, कुण्डलादि विशेषण युगपत् ही भासमान होते हैं। एक विशेष्य में युगपत् एकाधिक विशेषण भासमान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होने से 'खले कपोत न्याय' के अनुसार वाक्यार्थ-बोध होता है। इसमें कोई क्रम नहीं होता है।

दूसरे प्रकार में 'छत्रविशिष्ट देवदत्त' 'कुन्डलविशिष्ट देवदत्त', तथा 'वासविशिष्ट देवदत्त' इत्यादि खडवाक्यार्थ-बोध होता है, पश्चात् महावाक्यार्थ बोध होता है। खण्डवाक्यार्थ बोध विशेषणतावच्छेदक प्रकारक विशेषण का ज्ञान होने के कारण, उससे जो महावाक्यार्थ बोध होता है वह 'विशिष्टस्य वैशिष्टच' विषयक होता है। (विशेष आलोचना के लिए मुक्तावली द्रष्टव्य।) उक्त दोनों ही रीतियों का वर्णन यहां विस्तार के भय से नहीं किया गया है।

लेकिन प्रश्न उठता है कि क्या ये सभी नियम सर्वत्र लागू किये जा सकते हैं? क्या हमारे सभी दृष्टान्त इस एक-वाक्यता के ढांचे में यथावत् बैठ पाते हैं? उदाहरण के लिये 'चैत्रो मैत्रश्च गच्छत:' इस दृष्टान्त को ही लिया जाय। नाना मुख्यविशेष्यक तथा नाना धर्मप्रकारक होने के उपरान्त भी, नाना विशेष्यता-निष्ठ संख्या में क्रिया-पद का अन्वय होता है। समास न मानने पर भी एक-वाक्यता यहां माननी पड़ती है, क्योंकि वक्ता का तात्पर्य ही बलवान् है।

दूसरा उदाहरण लें- 'जल पृथिव्यां स्नेहगन्धौ' यहां पर हमें यह बोध है कि 'जल में स्नेह और पृथिवी में गंध है' इसका कारण है कि हमें पूर्व से ही ज्ञात है कि जल का गुण स्नेह है और पृथिवी का गुण गन्ध है। जिस श्रोता को न्याय के पदार्थों के सम्बन्ध में जरा भी ज्ञान नहीं है उसे यह बोध कैसे होगा, यह विचारणीय है। क्या उसे ऐसा बोध नहीं हो सकता है कि जल और पृथिवी दोनो में ही स्नेह और गन्ध है। पर यदि ऐसा हो गया तो वक्ता का तात्पर्य बिल्कुल ही भंग हो जायेगा।

तीसरा उदाहरण लें- 'अयमेति पुत्रो राज्ञ: पुरुषोऽपसार्यताम्' स्थल में भी 'राज' और 'पुरुष' पद में समास का वारण करने के लिये ही पदों में परस्पर समर्थता को आवश्यक कहा गया है। पर बिना तात्पर्य समझते हम यह कैसे कह सकते हैं कि 'राज' और 'पुरुष' पद समासबद्ध होने पर परस्पर असमर्थ हैं। 'ऋद्धस्य राजमातंगा' स्थल में 'ऋद्ध' पद का 'राज' पद के साथ समास नहीं हो सकता है क्योंकि यह तात्पर्य-बोध पर ही निर्भर करता है। यहां पर तात्पर्य है 'धनवान् व्यक्ति का राजहाथी'। किन्तु यदि 'ऋद्ध' पद का 'राज' पद के साथ समास हो गया तो अर्थ होगा 'धनवान् राजा का हाथी' जो यहां इष्ट नहीं है।

इसलिये एक बात बिलकुल निश्चित जान पड़ती है कि वाक्य-भेद हो या एक-वाक्यता-यह इस बात पर निर्भर करता है कि हमारी उस भाषा में पैठ कितनी है। यदि उस भाषा के नियम, उसकी संस्कृति, बोलने वालों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

111208
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक आचारण इत्यादि हमें ज्ञात नहीं है तो भाषा का रसास्वादन असंभव हो जाता है। भाषा न ही किताबों से सीखी जाने वाली कोई विद्या है और न ही नियमों से बंधी हुई कोई थाती, जो जब चाहे किताब खोल कर नियम सीख लें और भाषा का पंडित हो जाय। भाषा हमारे व्यवहार पर निर्भर करती है। इसलिए समय के साथ-साथ भाषा में परिवर्तन वांछनीय हो जाता है। समय से पिछडी हुई भाषा रुके हुए पानी की तरह सड़ांध उत्पन्न करने लगती है। अतः आवश्यकता है भाषा की गहरी समझ की जिसके अभाव में हमारी अवस्था कुछ वैसी ही होगी कि किसी ने कहा 'कौवा तुम्हारा कान ले गया' तो हम बजाय इसका अर्थ समझे या तो कान को पकड़ कर देखने लगें या कौवे की तरफ दौड़ने लगे।

१, जतीन्द्र मोहन एवेन्यू **मधु कपूर**
दूसरी मंझिल
कलकत्ता – ७००००६

ग्रंथ-सूची

१) व्युत्पत्तिवाद (गदाधर)– शिवदत्तमिश्रकृत दीपिका टीका – भारतीय विद्या प्रकाशन (वाराणसी)

२. शक्तिवाद (गदाधर) – विवृत्ति टीका सह – काशी संस्कृत सीरिज आफिस, विद्या विलास प्रेस, वाराणसी।

३. शब्दशक्ति प्रकाशिका –जगदीश तर्कालङ्कार, संस्कृत कालेज, कलकत्ता (बंगला में)

४. न्याय-दर्शन – अनन्तलाल ठाकुर सम्पादित, तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी

५ तर्कभाषा – केशवमिश्र – श्री बदरीनाथ शुक्ल व्याख्याकार (मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी)

६. मीमांसा दर्शनम् – (भाष्य-तन्त्रवार्तिक)– श्री महाप्रभुलाल गोस्वामी सम्पादित (तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी)

७. अनुमिति (गादाधरी)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

८. अवयव प्रकरण (गादाधरी)– श्री. पं. ज्वाला प्रसाद गौड़ कृत टीका, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

९. वाक्यपदीय (द्वितीय मार्ग) – वाक्यकाण्ड – भर्तृहरि, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी.

१०. वाक्यार्थ निरूपणेर दार्शनिक पद्धति -- डॉ. योगेन्द्र नाथ बागची – संस्कृत बुक डिपो प्राइवेट लिमिटेड, कलकत्ता (बंगला में)

११. अर्थ–विज्ञान और व्याकरण दर्शन – कपिलदेव द्विवेदी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद)

१२. संस्कृत व्याकरण दर्शन – राम सुरेश त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.

१३. पाणिनीय व्याकरण महाभाष्यम् – निर्णयसागर मुद्रित ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुसन्धान की दिशाऐं : जैन-विद्या के परिप्रेक्ष्य में

भगवान् महावीर की २५०० वीं जन्मशती के सुअवसर पर अन्यान्य विश्वविद्यालयों में जैनविद्या से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर अनुसन्धान किया जाय, उसके अभी तक अनुद्घाटित पक्षों को जिज्ञासुओं के सामने प्रस्तुत किया जाय, उक्त विद्या के अध्ययन के लिये उचित मात्रा में प्रोत्साहन मिले इस उद्देश्य से एक ओर अध्यासनों की स्थापना हुई तो दूसरी ओर अन्यान्य संस्थाओं का निर्माण किया गया। जैन विद्या के विकास की दृष्टि से किये इस प्रकार के सारे प्रयास – चाहे वे वैयक्तिक, सामूहिक या सरकारी आदि जिस स्तर पर भी किये गये हों – एक हद तक उचित ही माने जायेंगे। तथापि इस प्रकार के सराहनीय प्रयासों के बावजूद जैनविद्या के सम्बन्ध में – अन्य भारतीय विद्याओं के अध्ययन के बारे में भी दुर्भाग्यवशात् भिन्न प्रकार की स्थिति नहीं है– अध्ययन–अध्यापन तथा अनुसन्धान के क्षेत्र में जिस प्रकार के ठोस, गम्भीर एवं व्यापक प्रयास किये जाने चाहिये थे वैसे नहीं किये गये। इसके कई कारण हैं। उन सारे कारणों की विस्तृत मीमांसा प्रस्तुत करना प्रस्तुत लेख का उद्देश्य नहीं है। लेकिन उसके कई कारणों में से एक ओर जैसे दिन–ब–दिन अध्ययन, अध्यापन, गम्भीर चिन्तन एवं मनन तथा अनुसन्धान की ओर घटती जाने वाली रुचि एवं निष्ठा एक है वैसे ही दूसरी और जैनविद्या से सम्बन्धित–अध्ययन–अध्यापन तथा अनुसन्धान की कौनसी दिशाऐं हो सकती हैं, उनमें समन्वय और परस्पर सम्बंध किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनकी स्वीकार्यता तथा वरीयता का आधार क्या हो सकता है, तथा इस प्रकार के अध्ययन, अध्यापन एवं अनुसन्धान का समसामयिक महत्त्व क्या होना चाहिये इनके सम्बन्ध में राष्ट्रीय स्तर पर किये जाने वाले चिन्तन का अभाव भी एक महत्त्वपूर्ण कारण है। इस प्रकार की दिशाहीन स्थिति में कुछ परिवर्तन लाया जाय, जैनविद्या के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण तथा गम्भीर चिन्तन एवं अनुसन्धान हो इस उद्देश्य से उससे सम्बन्धित पहलुओं के अनुसन्धान को कुछ दिशाएँ प्रस्तुत करना और उनको स्वीकार्यता का समर्थन करना इस लेख का उद्देश्य है।

मुख्य रूप से देखा जाय तो जैनविद्या के क्षेत्र में अनुसन्धान करने के चार महत्त्वपूर्ण स्तर दिखायी देते हैं। उनमें हर एक स्तर पर एक से अधिक दिशाओं से गम्भीर अनुसन्धान किया जा सकता है। इसका यह मतलब नहीं है कि ये सारे स्तर एक–दूसरे जैसे ही महत्त्वपूर्ण हैं। जैसा कि आगे बताया जायगा उनमें से कुछ साधन–रूप हैं, तो अन्य साध्य–रूप। लेकिन उनमें इस प्रकार का भेद होते हुए भी उनकी आवश्यकता में यह स्थिति बाधाकारक नहीं हो सकती। जिन चार स्तरों की आगे चर्चा की जायगी उनमें से प्रथम तथा द्वितीय स्तर संपूर्णतः तो तृतीय स्तर कम–से–कम अंशतः साधन रूप हैं। इन में परस्पर तुलना करने पर दिखायी देगा की तृतीय तथा चतुर्थ स्तर का अनुसन्धान मुख्यतः साध्य–रूप है, यद्यपि उनमें भी होने वाला साधनांश का हिस्सा नजर-अन्दाज नहीं किया जा सकता।

इस पृष्ठभूमि पर हम आगे जैनविद्या से सम्बन्धित अनुसन्धान के चार महत्त्वपूर्ण स्तरों को जिज्ञासुओं के गम्भीर चिन्तन के लिये अपनी सीमित दृष्टि से प्रस्तुत करना चाहते हैं। साथ-साथ-उनकी आवश्यकता, स्वीकारार्हता तथा युक्ति-युक्तता के बारे में भी अपने विचार प्रस्तुत करेंगे।

१) भाषा, व्याकरण, शब्दव्युत्पत्ति, कोशवाङ्मय, भाषान्तर के स्तर पर पर किया जा सकने वाला अनुसन्धान – किसी भी वैचारिक परम्परा का चिन्तन भाषिक स्तर पर ही प्रस्तुत किया जा सकता है, चाहे वह भाषा मौखिक हो या लिखित हो। जैनविद्या से सम्बन्धित अन्यान्य बातों के बारे में किया गया चिन्तन प्राकृत भाषा के स्तर पर लगभग पूर्णरूपेण मौखिक, तो अपभ्रंश भाषा के स्तर पर मौखिक तथा लिखित दोनों रूपों में, और संस्कृत के स्तर पर संभवतः पूर्णरूपेण लिखित रूप में प्रस्तुत हुआ। इन भाषाओं में विचार का प्रस्तुतीकरण किये जाने के साथ अन्यान्य नूतन शब्दप्रयोग किये गये तथा तकनीकी शब्दप्रयोग भी प्रयुक्त हुए, उनके अर्थ तथा व्युत्पत्ति के बारे में चर्चा हुई और कालान्तर में उनके अर्थों के बारे में यथासम्भव एकवाक्यता लाने का भरसक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयास किया गया गया। तथापि इसका मतलब यह नहीं लिया जा सकता कि जैनविद्या के क्षेत्र में विचार करने वाले मनीषियों में मतवैभिन्न्य का अभाव रहा। मत-मतान्तरों का स्वागत यह तो भारतवर्ष की एक उज्ज्वल परम्परा रही है, तो जैन–विद्या का क्षेत्र इसका अपवाद कैसे होता? आज इस विद्या के क्षेत्र में अनुसन्धान, अध्ययन तथा अध्यापन करने वाले बहुसंख्य लोगों की दुर्भाग्यवशात् यह स्थिति हुई है कि उनका इन भाषाओं के साथ जीवन्त संपर्क नहीं रहा है। इस दिशा में प्रयास करने वाले युवा पीढी के व्यक्तियों की स्थिति तो इससे भी चिन्तनीय है। इसलिये जिज्ञासुओं के उपयोगार्थ, अध्ययन-अध्यापन तथा अनुसन्धान में साधनभूत सिद्ध होने वाले साहित्य के निर्माण में अभ्यासकों को अपना उचित सहयोग और योगदान देना चाहिये। इस दृष्टि से देखते हुए इन भाषाओं में जैनविद्या से सम्बन्धित प्रयुक्त शब्द, तकनीकी शब्दप्रयोग आदि के कोश तथा उक्त शब्दों की व्याकरणिक संरचना तथा शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि से चर्चा होनी चाहिये। ऐसा करते समय **जैनेंद्र व्याकरण** जैसा अलग व्याकरण संस्कृत भाषा में लिखा गया था इसका भी उचित ख्याल रखना चाहिये। उसी तरह अन्यान्य जैन भण्डारों में पडे हस्तलिखित ग्रन्थों की विस्तृत सूचियाँ भी उपलब्ध करानी चाहिये, ताकि कम-से–कम इस बात का पता चले कि कौनसे ग्रन्थ कहाँ उपलब्ध हैं और उनमें कौनसे विषयों की चर्चा की गयी है। साथ ही जैनविद्या से सम्बन्धित अन्यान्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अंगरेजी, फ्रेंच, जर्मन आदि युरोपीय, जापानी जैसी पूर्वी भाषाओं में सुव्यवस्थित भाषान्तर प्रस्तुत किये जाने चाहिये, उसी तरह हिन्दी, मराठी, गुजराती, कन्नड, बंगला आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी। लेकिन इस प्रकार के साहित्य का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी दो बातों का ध्यान अवश्य रखना चाहिये, नहीं तो आनुसन्धानिक प्रयासों के बारे में गलतफहमियाँ फैलने की नितराम् सम्भावना है। एक तो यह कि इस प्रकार का सारा प्रयास अपने आप में साध्य के रूप में आनुसन्धानिक महत्त्व नहीं रखता। याने, इस प्रकार का अनुसन्धान करना स्वयं में उसका उद्देश्य नहीं हो सकता। व्याकरण, सूचि, कोश शब्दव्युत्पत्ति, आदि महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अनुसन्धान के साधन हैं, तो भाषान्तर जैसे प्रयास पहले से ही एक भाषा में उपलब्ध वैचारिक सामग्री को अन्य भाषा में प्रस्तुत करने के या उसका अधिक व्यापक प्रसार–प्रचार करने के। दूसरे, अनुसन्धान के साधनों की हैसियत से यद्यपि इनका अपना महत्त्व और औचित्य है तथापि मात्र इन्हीं के द्वारा अनुसन्धान की गम्भीरता अपने आप नहीं बढती। इसलिये कोश, भाषान्तर आदि के स्तर तक ही अनुसन्धान को सीमित रखने से साधन–रूप तथा सतही स्तर पर ही उसे बांध कर रखने जैसा है। इसलिये अनुसन्धान की अन्यान्य दिशाओं तथा उसके महत्त्व के बारे में सोचते समय उसके विस्तार तथा गहराई का जिस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार ख्याल रखना आवश्यक है उसी तरह यह भी आवश्यक है कि वह मात्र चर्वित-चर्वण तक ही सीमित न रहे। साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि मात्र संस्कृत, प्राकृत जैसी भाषाऐं अवगत होने से जैनविद्या से सम्बन्धित अन्यान्य पक्षों में गम्भीर अनुसन्धान नहीं हो पायेगा। क्यों कि अगर यही अच्छा अनुसंधान किये जाने की एकमेव शर्त होती तो अंगरेजी भाषा जानने वालों से ही भौतिकी, गणित, दर्शन आदि विषयों में गम्भीर अनुसन्धान किया जाना चाहिये था, क्योंकि उक्त भाषा में उन विषयों पर सैकडों ग्रन्थ उपलब्ध हैं। सारांश रूप में यह स्वीकार करने में कठिनाई नहीं होनी चाहिये कि भाषिक या सूचि तथा कोश के स्तर पर किया जाने वाला अनुसन्धान संपूर्णतः महत्त्वहीन न होते हुए भी आनुसन्धानिक प्रयास का एकमेव उद्देश्य नहीं हो सकता।

(२) दशकों या सदियों पहले प्रकाशित लेकिन अब अनुपलब्ध एवं अब तक अप्रकाशित ग्रन्थों के स्तर पर किया जा सकने वाला अनुसन्धान-जैनविद्या के के अन्यान्य पहलुओं से सम्बन्धित कई ग्रन्थ भण्डारों, ग्रन्थालयों में तथा व्यक्तियों के पास अप्रकाशित तथा हस्तलिखित रूप में पडे हैं। उनमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश जैसी भाषाओं में रचित ग्रन्थ हैं उसी तरह आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी अनेक ग्रन्थ हैं। इस प्रकार के ग्रन्थों का यथासम्भव प्रकाशन होना चाहिये। साथ साथ ऐसे भी कई ग्रन्थ हैं जो दशकों या सदियों पहले प्रकाशित हुए थे और आज सर्वथा अप्राप्य या दुष्प्राप्य हैं। इस प्रकार के ग्रन्थों का पुनर्प्रकाशन किया जाना चाहिये। लेकिन ऐसा करते समय जहाँ तक हो सके दो बातों का ख्याल रखना चाहिये। एक तो यह कि प्रकाशित पुस्तकों का दाम ऐसे रखा जाय कि उन्हें जिज्ञासु व्यक्ति भी आसानी खरीद सकें। दूसरे, आज तक प्रकाशित या अप्रकाशित ग्रन्थों के बारे में अनुसन्धान की दृष्टि से कई त्रुटियाँ दिखायी देती हैं। पहले सारा ग्रन्थ पढा-पढाया जाता था। आज वह परम्परा नष्ट हो गयी है। आज-कल कम-से-कम समय में अधिक-से-अधिक सन्दर्भ कैसे प्राप्त किये जायें इसकी ओर दृष्टि रहती है। अतः यह देखना आवश्यक हो जाता है कि प्रत्येक प्रकाशनीय ग्रन्थ सम्पादन की दष्टि से त्रुटिपूर्ण न हो। जैनविद्या से सम्बन्धित ऐसे सैकडों ग्रन्थ हैं जिनमें अनुक्रमणिका, प्रकरणों या अध्यायों के शीर्षक (प्रथमाध्याय, द्वितीयाध्याय इस प्रकार के नहीं) परिच्छेदों या उपपरिच्छेदों के शीर्षक, उध्दरणों के उचित सन्दर्भ, ग्रन्थों तथा ग्रन्थकर्ताओं के सन्दर्भ, नाम-सूची, विषय-सूची आदि का अभाव है। कई उध्दरण उनमें 'उच्यते', 'कथ्यते', 'आह', 'उक्तं च' इस प्रकार प्रस्तुत किये गये हैं जिनसे यह पता नहीं चलता कि उक्त उध्दरण किसके तथा किस ग्रन्थ से लिया गया है, और जैसा वह दिया गया है वैसा ही वह उक्त ग्रन्थ में उपलब्ध है या इससे अन्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप में । इस प्रकार की त्रुटियां प्राचीन काल में त्रुटियां नहीं गिनी जाती थीं क्योंकि उस समय हर एक ग्रन्थ समग्र पढ़ा जाता था और बहुत से ग्रन्थ समग्र रूप में व्यक्तियों के स्मृति–पटल पर उपस्थित रहा करते थे । इसके फलस्वरूप उद्धरण दिये जाने के साथ ही वह किस ग्रन्थ से है इसकी खोज करने के लिये पाठकों या श्रोताओं को महत्प्रयास नहीं करना पड़ता था । आज की स्थिति में इस दृष्टि से इतना विस्तृत एवं गम्भीर परिवर्तन हुआ है कि न हमने उक्त ग्रन्थ पढ़े हैं, न ही उनमें से अनेक हमारे पास आज उपलब्ध हैं । इसलिये आज कल उनका प्रकाशन / सम्पादन करते समय उनमें इस प्रकार की त्रुटियाँ न रहने पाये इस पर उचित एवं पर्याप्त ध्यान देना चाहिये । नहीं तो ग्रन्थों के प्रकाशन के बावजूद उनसे जो आनुसन्धानिक लाभ होना चाहिये वह नहीं हो पायेगा । ग्रन्थों के सुयोग्य सम्पादन तथा प्रस्तुतीकरण के तीन अच्छे उदाहरण देना इस सन्दर्भ में उचित होगा – (१) स्वामी योगीन्द्रानन्द जी के द्वारा सम्पादित भासर्वज्ञ का न्यायसार तथा न्यायभूषण यह ग्रथ । (२) पण्डित डॉ. दलसुख मालवणिया जी के द्वारा सम्पादित धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक का स्वार्थानुमानपरिच्छेद तथा उसके ऊपर की उनकी स्वोपज्ञवृत्ति । (३) पण्डित मुनी जम्बुविजय जी के द्वारा तीन खण्डों में सम्पादित श्री मल्लिवादी क्षमाश्रमण का द्वादशारनयचक्र – तथा उसके ऊपर की श्रीसिंहसूरी की वृत्ति । ग्रन्थों का इस प्रकार सम्पादन करने में अत्यधिक श्रम तो अवश्य करना पड़ता है, लेकिन सम्पादित ग्रन्थ की अर्थवत्ता और आनुसन्धानिक महत्ता भी उससे कई गुना बढ़ जाती है । ग्रन्थों का इस प्रकार सुव्यवस्थित सम्पादन तथा प्रकाशन करते समय राष्ट्रीय स्तर पर इसका भी ख्याल रखाना चाहिये कि एक ही ग्रन्थ का अन्यान्य व्यक्तियों या संस्थाओं के द्वारा संपादन तथा प्रकाशन कर उसी प्रकार के काम को आवश्यकता न होने के बावजूद दुहराया न जाय और इस प्रकार श्रम, शक्ति, बुद्धि तथा धन का अपव्यय न हो । एक दृष्टि से देखा जाय तो इस प्रकार का अनुसन्धान भी साधनात्मक ही गिना जाना चाहिये, साध्यात्मक नहीं । इस प्रकार पहले तथा दूसरे प्रकार का आनुसन्धानात्मक प्रयास यद्यपि साधनात्मक ही होता है, साध्यात्मक नहीं, तथापि तुलनात्मक दृष्टि से दूसरे प्रकार का आनुसन्धानिक प्रयास पहले की तुलना में अगले अनुसन्धान के लिये अधिक उत्प्रेरक होता है ।

(३) **ग्रन्थों में चर्चित विषयों के स्तर पर संभाव्य अनुसन्धान**–इस स्तर पर किया जा सकने वाला अनुसन्धान एकाधिक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हो सकता है, विशेष रूप से यदि वह किस ग्रन्थ में क्या कहा गया है यह संक्षेपतः बताने तक ही सीमित न रहे । इस प्रकार के वर्णनात्मक तथा सतही परिचयात्मक प्रस्तुतीकरण का छात्रों की दृष्टि से यद्यपि महत्त्व है तथापि सारे आनुसन्धानिक प्रयास इसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्तर तक सीमित रखने से उन्ही बातों को अलग अलग शब्दों में दुहराया जाने का खतरा इससे उदभूत होता है, जिससे एक गलतहफमी यह उत्पन्न हो जाती है कि यद्यपि उक्त ग्रन्थों में चर्चित विषयों का ऐतिहासिक महत्त्व था, तथापि न वर्तमान स्थिति में उनकी कोई सार्थकता है न ही भविष्य की दृष्टि से कोई उपादेयता। इस प्रकार सतही स्तर पर किये गये सामान्य परिचयात्मक तथा वर्णनात्मक प्रस्तुततीकरण से और भी एक धोखा पैदा होने की सम्भावना रहती है। इस प्रकार के धोखे के हम सदियों से लगातार शिकार होते आये हैं जिससे ऐसा प्रतीत होने लगता है कि अन्यान्य ग्रन्थों में चर्चित विविध विषय, विचारकों में होने वाले मतभेद—चाहे वे एक ही पक्ष के समर्थक हों या विभिन्न तात्त्विक पक्षों के–एक तो पूर्णतः महत्त्वहीन थे या कम-से-कम नगण्य। इस प्रकार समान सूत्रों को पकड़ कर सतही स्तर पर लगभग हर एक तात्त्विक परम्परा के स्वीकार्य सिद्धान्तों के प्रस्तुती करण की परम्परा माधवाचार्य के द्वारा रचित **सर्व-दर्शन-संग्रह** जैसे या हरिभद्र सूरि के व्दारा रचित **षड्दर्शनसमुच्चय** जैसे ग्रन्थों से उदभूत हुई और उसी परम्परा में तथाकथित सारे भारतीय दर्शनों के इतिहासों की रचना की गयी है – – चाहे वे पश्चिमी लेखकों के द्वारा लिखे गये हों या भारतीय। साथ–साथ धार्मिक, तात्त्विक, सभ्यताविषयक, सांस्कृतिक, सामाजिक, नीतिविषयक तथा अन्यान्य ग्रन्थों में चर्चित भिन्न भिन्न बातों, संकल्पनाओं, प्रश्नों, मुद्दों का एक दूसरे से इस प्रकार घपला किया गया है कि हमारे पूर्वजों के सामने कोई तात्त्विक, नीतिविषयक, सामाजिक आदि प्रकार का प्रश्न शुद्ध रूप में प्रस्तुत हुआ था या नहीं इसकी गम्भीर आशंका बनी रहे। दुर्भाग्यवश स्वतन्त्रता के बाद भी इस प्रकार की वैचारिक स्थिति में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं दिखायी देता और हम न केवल उसी प्रकार की वैचारिक दासता के शिकार होते आये हैं जिसे हमने परतन्त्रता के परिप्रेक्ष्य में स्वीकार किया था, अपितु इसी प्रकार की वैचारिक दासता के शिकार होते रहने में हम तथा–कथित स्वाधीनता के परिप्रेक्ष्य में भी-गर्व का अनुभव करते हैं। इसलिये पश्चिम में उदभूत नयी-नयी वैचारिक परम्पराओं को हम जिस अधीरता के साथ अपनाते चले हैं, उसे देख कर ऐसा लगता है कि मानों हमारे मन में यह विश्वास तथा आस्था साधार (?) दृढमूल हो गयी है कि हमारे पूर्वजों के पास न कुछ विचारणीय था और न ही हमें उसके प्रति सतर्क रहने की कोई आवश्यकता है। इस प्रकार के धोखे की तथा उससे उद्भूत होने वाले परिणामों की मौखिक एवं लिखित रूप में अनेक बार अन्यान्य मञ्चों से हमने चर्चा की है। इसलिये उक्त बातों को दुहराना नहीं चाहते।

जैनविद्या से सम्बन्धित अन्यान्य ग्रन्थों में चर्चित विविध विषयों, संकल्प-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाओं, प्रश्नों, मुद्दों के परिप्रेक्ष्य में तीन प्रधान स्तरों पर अनुसन्धान किया जा सकता है और उनका अपना अपना अलग-अलग महत्त्व भी है। इस निबन्ध में उनकी दिशाओं का संक्षिप्त परिचय देने के अलावा और कुछ कर पाना कष्टसाध्य ही होगा। उक्त तीन स्तर इस प्रकार होंगे-(अ) **सभ्यता, संस्कृति एवं धर्म के स्तर पर किया जा सकने वाला अनुसन्धान**-विशाल भारतीय सभ्यता के परिवेश में अन्यान्य सांस्कृतिक परम्परायें पनपीं तथा विकसित हुईं, यद्यपि उनमें से किसी ने भी समान सभ्यता से होने वाला अपना सम्बन्ध तोडने में कभी भी गर्व का अनुभव नहीं किया। श्रामणिक सांस्कृतिक परम्परा ऐसी ही एक वैशिष्टयपूर्ण सांस्कृतिक परम्परा रही है जिसके परिवेश में जैन तथा बौद्ध परम्पराएँ विकसित हुईं। सभ्यता-विषयक एकता के बावजूद इस प्रकार विभिन्न सांस्कृतिक परम्पराएँ क्यों और कैसे विकसित हुईं, उनके आपस में मतभेद कौनसे थे, उन्होंने अपने-अपने पक्षों का समर्थन कैसे किया, दूसरों के मतों का प्रतिवाद कैसे किया, उनकी स्वीकार्यता या अस्वीकार्यता किस आधार पर अधिष्ठित है, देवताविज्ञान के विकास या परिवर्तन में उनका क्या योगदान था, इस प्रकार के उनके विचारों का सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, तथा सम-सामयिक महत्त्व क्या है आदि बातों का निशीथचूर्णि जैसे ग्रन्थों के आधार पर गम्भीर अध्ययन होना आवश्यक है। इस प्रकार के कुछ प्रयास अवश्य किये गये हैं और उनमें से कुछ सराहनीय भी हैं। तथापि उतने मात्र से आत्मसंतुष्टि का अनुभव करना आत्मघाती ही गिना जायेगा। आज हमारे सामन उठने वाले कई प्रश्न और उनके उलझन भरे समाधान कई पैमाने में हमें अपनी सभ्यताविषयक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक पहचान ठीक न होने से तथा उनके बारे में हमारी विपरीत धारणाओं से सम्बन्धित हैं। इस स्थिति में अगर परिवर्तन लाना हो और हमें अपनी सभ्यताविषयक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक पहचान ठीक तरह से करनी हो तो अन्यान्य ग्रन्थों में चर्चित इन विषयों से संबंधित प्रश्नों, संकल्पनाओं, तथा मुद्दों का आनुसंधानिक विचार-मंथन किया जाना चाहिये, ताकि इन विषयों के बारे में हमारी धारणा उनके ठीक परिप्रेक्ष्य में बन सके और वह उनके सम-सामयिक महत्त्व में बाधक न हो।

(ब) **दार्शनिक स्तर पर किया जा सकने वाला अनुसन्धान**-जैन-विद्या के संदर्भ में इस स्तर पर जिस प्रकार का अनुसन्धान किया जा सकता है उसके कई पहलू हो सकते हैं। ऐसा नहीं है कि इस स्तर पर आज तक कुछ भी अनुसन्धान हुआ नहीं है। लेकिन जो कुछ हुआ है वह आम तौर पर सतही, सामान्य परिचयात्मक, या गलतफहमियाँ फैलाने वाले या उन्हें दृढमूल कराने वाले तुलनात्मक पक्ष तक ही सीमित रहा है। इसके परिणामस्वरूप उन्हीं बातों को शुष्कता से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुहराते रहने के सिवा उसका गम्भीर तथा व्यापक अनुसन्धान की दृष्टि से न कोई फायदा हुआ, न ही इस प्रकार का अध्ययन किसी अगले अनुसन्धान का उत्प्रेरक ही बना। दर्शन के स्तर पर (अ) सत्ताशास्त्र, (ब) न्याय एवं तर्कशास्त्र, (क) प्रमाण तथा ज्ञानमीमांसा, (ड) आचार–विज्ञान, (इ) राजनीति एवं विधिविज्ञान, (फ) समाज–रचना और उसका नियन्त्रण, (ग) परिवेश–रक्षण आदि अनेकों विषयों के सम्बन्ध में जैन विचारकों ने भिन्न समय पर अपने विचारों की चर्चा करने वाले ग्रन्थ लिखे, उनके अन्य जैनियों के साथ तथा बौद्धों, नैयायिकों, वेदान्तियों, मीमांसकों आदि के साथ दशकों ही नहीं सदियों तक वाद–विवाद हुए, और इस प्रकार विचार के विकास में उन्होंने अपना सहयोग प्रदान किया। इस प्रकार के मुख्य ग्रन्थों में चर्चित विषयों का, भिन्न विचारकों के द्वारा प्रस्तुत सांकल्पनिक ढांचों का, विवादों का, विभिन्न मतों के खण्डन–मण्डन का तथा उनके पीछे होने वाली तत् तत् भूमिकाओं का एवं उनकी वरीयता तथा उपादेयता का दुर्भाग्यशात् अभी तक गभीर अध्ययन ही नहीं हुआ है, उनमें नयी दिशा दिखाने वाले और अगले अनुसन्धान को उत्प्रेरित करने वाले अनुसन्धान की बात तो और भी दूर की है। आचार–विज्ञान, समाज–रचना तथा परिवेश–रक्षण आदि से सम्बन्धित बातों की चर्चा के बारे में तो दुस्थिति अत्यधिक शोचनीय बन गयी है। वह इस दृष्टि से कि जो लोग जैनविद्या के अन्यान्य पक्षों के सम्पर्क में आये हुए होने का दावा करते हैं और जो जैन परम्परा में पले हैं उन्हीं के द्वारा इन बातों को अत्यधिक मात्रा में दुर्लक्षित किया जाता है। यह एक सौभाग्य की बात है कि कम–से–कम कुछ लोगों को आज-कल ऐसी बातों के बारे में सतर्क रहने की आवश्यकता महसूस होने लगी है। दूसरे, कमसे–कम इस सदी के अन्त तक संस्कृत, प्राकृत जैसी प्राचीन भाषाओं में लिखे दार्शनिक ग्रन्थों को ठीक तरह से समझने वाले तथा दूसरों को उनमें चर्चित विषयों को समझाने की क्षमता रखने वाले कुछ व्यक्ति हैं और रहेंगे भी। उनसे अगर हमने यथोचित लाभ नहीं उठाया तो अन्य विद्याओं के समान ही जैनविद्या एवं जैनदर्शन के बारे में भी ऐसी स्थिति पैदा होगी कि हमारे पास ग्रन्थ होते हुए भी हम उन्हें पढ़ कर समझ ही नहीं पायेंगे, उनको लेकर गंभीर अनुसंधान किये जाने की बात तो दूर रहेगी।

(क) **ऐतिहासिक स्तर पर सम्भाव्य अनुसन्धान**– इस स्तर पर किया जा सकने वाला अनुसंधान दो दृष्टियों से किया जा सकता है। एक तो वह वर्णनात्मक एवं परिचयात्मक हो सकता है। इसमें कहाँ, कब और क्या घटित हुआ यह बताने पर बल दिया जाता है। इस प्रकार का इतिहास भाषिक, साहित्यिक, दार्शनिक, श्रामणिक, सांस्कृतिक, विशिष्ट पंथ या उपपंथ का हो सकता है। उसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तरह वह जैनविद्या से सम्बन्धित स्थापत्य, चित्रकला, मूर्तिकला, उत्खनन आदि का हो सकता है। इस दृष्टि से यद्यपि संस्कृत में प्रस्तुत जैन साहित्य का इतिहास संभवतः लिखा जा चुका है, तथापि प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा का, उनमें प्रस्तुत साहित्य का, जैन दर्शन का, जैन श्रामणिक परम्परा का, जैन पंथों या उपपंथों का, तथा जैन कलाओं का बृहत् तथा स्वीकार्य इतिहास अभी तक शायद लिखा नहीं गया है। दूसरी दृष्टि से विकासात्मक इतिहास लिखा जा सकता है। इसमें कब, क्या घटित हुआ यही बताने तक चर्चा सीमित रहने के बजाय विशिष्ट क्षेत्र में विकास कैसे हुआ, उसके पीछे कौनसी दृष्टि थी, उसकी समर्थनीयता एवं वरीयता का आधार क्या था, विकास में कौनसी बातें अवरोधक बनी आदि बातों की चर्चा मुख्यतः की जाती है। पुनः, विकास को कालिक या ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जा सकता है या वैचारिक दृष्टि से। स्पष्ट ही है कि इस प्रकार के हर एक विकासात्मक इतिहास लिखे जाने के लिये विभिन्न प्रेरकों का तथा सामग्री का आधार लेना पड़ेगा। जैन दर्शन के क्षेत्र में भी जिस प्रकार जैन दर्शन का किसी भी प्रकार का मानक इतिहास अनुपलब्ध है उसी प्रकार जैन सत्ताशास्त्र या तर्कशास्त्र का या जैन आचार–विज्ञान का भी। इन विषयों से सम्बन्धित अन्यान्य मुद्दों की एक–दूसरे से असम्बन्धित रूप में चर्चा करना एक बात है, उनकी ऐतिहासिक और खास कर विकासात्मक इतिहास की दृष्टि से चर्चा करना सर्वथा दूसरे प्रकार की। इस प्रकार जैनविद्या से सम्बन्धित अन्यान्य ग्रन्थों में चर्चित विभिन्न विषयों को ले कर भिन्न भिन्न प्रकार के अनुसन्धान पर्याप्त गम्भीरता से किये जा सकते हैं और वे आगे किये जा सकने वाले अनुसन्धान के उत्प्रेरक भी हो सकते हैं।

(४) **जैनविद्या की समसामयिक उपादेयता–** जैनविद्या से सम्बन्धित अन्यान्य विषयों को लेकर किये जाने वाले अनुसन्धान का समसामयिक महत्त्व एक ओर इस बात में निहित है कि उसके आधार पर हमें जैन परम्परा, दर्शन, संस्कृति, धर्म, पंथ, उपपंथ, इतिहास तथा उनमें घटित अन्यान्य उथल–पुथल का, उनके पीछे निहित दृष्टियों का तथा उनकी समर्थनीयता एवं वरीयता का यथार्थ आकलन हो। इस आधार पर वर्तमान स्थिति के कई पहलुओं के बारे में हमारी अवधारणा ठीक होगी। क्योंकि जब तक हमारी अतीत काल से संबंधित याने इतिहास की समझ ठीक नहीं होगी तब तक वर्तमान विषयक समझ भी ठीक नहीं होगी, और जब तक भूत तथा वर्तमान की समझदारी ठीक न हो तब तक किसी भी बात के भविष्य के बारे में हमारी अवधारणा ठीक नहीं हो सकती, और ऐसी अवधारणा के अभाव में वर्तमान तथा भविष्य में किस प्रकार के सुधार लाने आवश्यक होंगे और उनकी स्वीकार्यता एवं वरीयता किस आधार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर अधिष्ठित है इसका भी पता लगाना दुष्कर होगा। लेकिन दूसरी ओर परंपरा की रक्षा, विकास एवं संवर्धन करने के लिये परंपरा को ठीक तरह से समझ लेना जिस तरह आवश्यक है उसी तरह परम्परा के बारे में दो दोषों से भी हमें बचना चाहिये – एक तो यह कि परंपरा के बारे में हमारी होने वाली रुचि और आस्था आदि-सिद्धान्तवाद में या मूल-सिद्धान्तवाद में परिणत न हो। याने, परम्परा को वह त्रुटिपूर्ण, अस्वीकार्य तथा वर्तमान से असंगत होने के बावजूद हम उसके परम्परा मात्र होने से स्वीकार न करें। दूसरी ओर हमें इसका भी ख्याल रखना चाहिये कि परम्परा का हम मात्र परम्परा होने के कारण से त्याग न करें। कई बार आधुनिकता के सतही और विवाद्य आधार पर परम्परा का विरोध किया जाता है, जो ठीक नहीं होता। इसलिये पारम्पारिक दुराग्रह, हठवादिता, दृष्टि की संकुचितता, समर्थन की आढ्यता, अंधश्रद्धाएँ, असमर्थनीय रूढ़िवादिता आदि का भरसक और डट कर ठोस विरोध करते हुए भी हमें इसका भी उचित ख्याल रखना चाहिये कि ऐसा करते समय हम अपनी स्थिति न तो त्रिशंकु की तरह बनायें, न ही धोबी के उस कुत्ते की तरह जो न घर का होता है और न ही घाट का। नहीं तो आधुनिकता, फैशन, अवसरवादिता, स्वार्थपरायणता आदि के प्रभाव के कारण हम अपनी पारम्पारिक नाभिरज्जु शीघ्रता से तोड देंगे और दूसरी किसी परम्परा को हम उसमें पले न होने की वजह से अपनाने में असफल होंगे। कहने का अभिप्राय यह है कि संस्कृति, परम्परा आदि की समसामयिक उपादेयता तभी सार्थक होती है जब वह न तो हठधर्मिता को बढावा दे और न हो संहारक तत्त्व बन कर उसका विनाश करे। इस प्रकार की अतिवादिता अथवा एकान्तता को छोड़ कर मध्यम मार्ग को अपनाने में जिस हद तक हम यशस्वी होंगे उसी हद तक जैनविद्या की समसामयिक उपादेयता बनाये रखने में भी सफल होंगे। ☆

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे–४११००७

मो. प्र. मराठे

टिप्पणी

☆ हाल ही में जैन दर्शन पर पुणे में आयोजित एक संगोष्ठि में प्रस्तुत निबन्ध। हम आयोजकों के आभारी हैं जिन्होंने इसे प्रकाशित करने की अनुमति दी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षड्ऋतु-वर्णन-पद्मावत के दो छन्द : काव्यमर्म

(१)

प्रथम बसंत नवल ऋतु आई। सुरितु चैत बैसाख सोहाई ॥
चंदनचीर पहिरि धनि अंगा। सेंदुर दीन्ह बिहँसि भरि मंगा ॥
कुसुम हार औ परिमल बासू। मलयागिरि छिरका कबिलासू ॥
सौर सुपेती फूलन्ह डासी। धनि औ कंत मिले सुखबासी ॥
पिउ सँजोग धनि जोबनबारी। भँवर पुहुप संग करहिं धमारी ॥
होइ फागु भलि चाँचरि जोरी। बिरह जराइ दीन्ह जसि होरी ॥
धनि ससि सियरि तपै पिउ सूरू। नखत सिंगार होंहि सब चूरू ॥
जेहि घर कंता रितु भली। आउ बसंता नित्तु।
सुख बहरावहिं देवहरै, दुक्ख न जानहिं कित्तु ॥ ३३५ ॥

उपर्युक्त प्रसंग में प्रयुक्त कुछ प्रयोगों एवं उनके अर्थों पर यहाँ विचार किया जायगा।

१. चंदनचीर- डॉ. अग्रवाल ने चंदनचीर और चंदनौटा (३२९) को एक ही माना है और अर्थ किया है 'चंदन के रंग का वस्त्र'। डॉ. गुप्त ने इसकी व्याख्या में बताया है : 'चंदनी रंग का (हल्का बादामी) चीर।' पर चंदन के रंग से मिलते रंग वाले वस्त्र की वसंत में क्या महत्ता थी ? 'चंदनचीर' और 'चंदनचोली' का उल्लेख अन्यत्र भी पद्मावत में है –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१. प्रथमहिं अंजन होइ सरीरू। पुनि पहरैं तन चंदनचीरू ॥ २९६ ॥
२. कैं मंजन तब किएहु अन्हानू। पहिरे चीर गएउ छपिभानू ॥ २९७ ॥
३. भा बैसाख तपनि अति लागी। चोलाचीर चंदन भा आगी ॥ ३५४ ॥

उपर्युक्त वर्णनों से यह लगता है कि चंदन चोला, चंदन चीर ग्रीष्मऋतु संबंधी शीतल वस्त्र थे। कालिदास ने ग्रीष्म और शीत ऋतु से संबंधित वस्त्रों की चर्चा की है। ग्रीष्म ऋतु वाले शीतलताकारक होते थे और शीतकाल के उष्ण। 'चंदन' ऐसे ही वस्त्र रहे होंगे।

'चीर' दक्षिण से आते थे, जैसा कि **मृगावती** में कहा भी है :–

'कछनी दखिन के चीर लै कीन्ही। चंदन चोली उर लै पुनि दीन्ही' ॥ २५१ ॥

चीर जड़ाऊ होता था (छंद ३२९) जिसके आगे सूर्य (रतनसेन) का प्रकाश मंद लगता था। (छंद २९७)।

२. **चोला : 'चोला चीर चंदन भौ आगी' (३५४)**

का अर्थ अग्रवाल जी ने किया है 'चंदन चीर का चोला आग हो गया।' पर 'चंदन चोला' (३२७) और चंदन चीर '(२९६) का उल्लेख अलग–अलग मिलता है। इसलिए उपर्युक्त पंक्ति का आशय है कि बैसाख की तपनि से चंदन-चोली और चंदनचीर भी तपने लगे। अर्थात् उनकी शीतलता चली गयी। डॉ. गुप्त ने अर्थ किया है : 'वैशाख आ गया और गर्मी अत्यधिक बढ़ गयी है, जिस कारण चोल और चीर का चन्दनपट्ट आग जैसा तप्त हो गया है।' पद्मावत में विरह का वर्णन करते हुए कहा गया है :–'दहै चाँद औ चंदनचीरू'। (१६८) अर्थात् विरह में शीतल वस्तुएँ दाहकारक हो जाती हैं।

पद्मावत में चोला छन्द सं. १८५ तथा ३५४ में और चोला–चोली ३४२ में प्रयुक्त हैं। अग्रवालजी ने 'पटुइन पहिरि सुरंग तन चोला' (१८५) में 'चोला' का अर्थ 'लहँगा' किया है। अन्य दो स्थलों पर उन्होंने चोला को चोला ही लिखा है। कवि ने ३४२ में चोला–चोली, दोनों का प्रयोग एक ही आशय में किया है – 'रक्त पसीजि मीजि तन चोली' तथा 'पौनु डोलावहिं सींचहिं चोला।'

मृगावती में है : 'राता चीर पहिरिहहु चोला।' (३६५)। डॉ. गुप्त ने यहाँ चोला का अर्थ 'वेष' किया है।

सं. **चोल नैषधचरित** में है। उड़िया में चोला–चोली समानार्थी हैं। कश्मीरी में चूली है। 'चोला–चीर' का सामाजिक प्रयोग **चाँदायन** में भी हुआ है। यथा, चोला–चीर पहिरि जउ चाली, जानउं जाइ उडाई।
देखत रूप देवता बिमोहे, कत हुतें आछरि आइ ॥ ८३ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मृगावती (३२७) में 'चोला-चीर' की जगह 'कंचु चीर' का प्रयोग है।

३. मलयागिरि छिरका कबिलासू : अर्थात् कबिलास पर मलयागिरि चन्दन के घोल का छिड़काव किया गया था। छिरका = छिड़का गया। छिरकना, छिड़कना, पंजाबी में छिड़कना, मैथिली में छिरब है। इसी का एक और रूप है। छींटना, छिटकना। कश्मीरी में 'छिरकाउन' = छिड़कना है। डॉ. अग्रवाल ने व्याख्या की है 'पद्मावती ने मलयागिरि छिड़का।' पर यह औचित्य से परे है।

४. सौर सुपेती फूलन्ह डासी : का अर्थ अग्रवालजी ने किया है 'सेज पर फूलों का बिछावन बिछाया गया था'। कवि का कथ्य है कि, सेज पर फूल बिछे थे, और सौर-सुपेती रखी हुई थी। सौर-सुपेती ओढ़ने के उपकरण थे। सौर = रजाई। सुपेती = यह भी कोई गरम ओढना, दुलाई की भाँति, है, क्योंकि जाडे में सौर-सुपेती के युग्म का बहुत प्रयोग है।

चित्रावली (४५३.४) में कहा गया है 'जैतिक ओढो सँवर सुपेती। हहलि हहलि उर कांपौं तेती'। और (२१३.७) में 'सौर' शब्द का प्रयोग करते हुए कहा गया है :— 'सौर माँह जिन बिनउर टोवा'। पद्मावत (३३६) में भी 'सौर-सुपेती' का वर्णन शय्या के सुखभोग के साथ है।

कवि 'सौर-सुपेती' का वर्णन वसंत और ग्रीष्म के सुखभोग में कर रहा है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'सौर-सुपेती' सुखवासी सेज का प्रमुख अंग था। इसीलिए जाडे और ग्रीष्म, सभी में 'सौर सुपेती' का वर्णन है।

'सौर' की व्युत्पत्ति चिंत्य है। दशकुमार चरित (७२) में 'औशीरम्' बिस्तरा (ओढ़ना-बिछौना) के अर्थ में प्रयुक्त है। 'औशीरे कामचारःकृतोऽभूत्।'

पद्मावत का यह प्रयोग भी देखने योग्य है।' कुश साँथरि भै सौर सुपेती'। (१३९ पद.)। साँथरि∠संस्तर=बिस्तर। अर्धकथा में है—' ऊढ़ सौर नहि ब्यापै सीत' ३०७। चांदायन में 'सउरि सुपेतहि' का वर्णन पूस के जाडे में है— 'घरघर' सउरि सुपेतिइं 'साजहिं' (३४८)। तथा 'सेज 'सउर' कर नांउं न 'जानउं'। कहाँ 'सेजि असि' काह बखानउं'। (४२) अतः सउर (सौर-सौरि) शय्योपस्कार हुआ। यही 'सउर' बीसल देब रास में २२ वें छन्द में 'सउड' है। मृगावती में पूस के जाडे में विरह के प्रकरण में आया है:— 'जाड़ सौर भा बिरह सुपेती। दुहुं दुरिजन बिच भइउँ अचेती ॥' (३२२)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुपेती : अग्रवालजी ने इसका संबंध तेलुगु के 'पत्ति' अर्थात् रूई से जोड़ा है। गुप्तजी ने 'सुपेती' का अर्थ 'श्वेत' किया है।

'सौर सुपेती' = श्वेत चादर। 'सुपेती' का विकास सं. 'सौप्तिक' से है। यह मृच्छकटिक (मार्ग ह्येष नरेन्द्रसौप्तिकवधे पूर्वं कृतो द्राणिन। अंक ३.११) में प्रयुक्त हैं। 'सुप्त' से 'सौप्तिक'। पुरानी मारवाड़ी में 'सौती' बिस्तर (बेडिंग) के आशय में है। सौती, सूपवती समानार्थी हैं।

जिस प्रकर औशीर शयनोपस्कर है उसी प्रकार 'सौप्तिक' भी। इसीलिए 'सौर सुपेती' का युग्म चल पड़ा।

५. सुखबासी :–अग्रवालजी ने सुखबासी का अर्थ 'शयनगृह' किया है। पर यह सेज के लिए है। यथा 'सेज सुखबासी' का पद्मावत में ही इस प्रकार प्रयोग हुआ है :–

(१) सात खंड ऊपर कबिलासू। तँह सोबनार सेज सुखबासू
॥ २९१। १॥

(२) तेहि महँ पलंग सेज सो डासी। का कहँ ऐसि रची सुखबासी
॥ २९१। ५॥

(३) मलै समीर बास सुख बासी। बेइलि फूल सेज सुख डासी
॥ ३३७। ६॥

सुखबासी सेज फूलों की पंखुडियों से रची जाती थी। गीत गोविंद (५१) में कहा गया है: 'रचयति शयनम् सचकित नयनम्।' सेज–रचना कामकला का प्रमुख अंग था। सुखबासी के सामानों की चर्चा भी स्वयं जायसी ने पद्मावत में ही की है –

दुहुँ दिसि गेंडुवा औ' गलसुई। काँचे पाट भरी धुनि रूई॥
फूलन्ह भरी ऐसि केहि जोगू। को तेहि पौढ़ि मान सुख भोगू॥
२९१। ६–७॥

फूलों से रचे–सजे सेज पर सुखभोग का महत्त्व है। पद्मावत में अन्यत्र भी वर्णित है – "बिसरा भोग सेज सुख बासू। जहाँ भँवर सब तहाँ हुलासू
॥ २२६। ३॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुखबासी सेज तभी है जब प्रेमी बगल में हो। कबिलास में नित्य भोग है, वहाँ विरह नहीं।

" तिन्ह पावा उत्तिम कबिलासू। जहाँ न मीचु सदा सुखबासू
॥ १४६ । ६ ॥

६. भँवर पुहुप संग करहिं धमारी –

" पिउ संजोग धनि जोवन वारी। भँवर पुहुपसँग करहिं धमारी
॥ ३३५ । ५ ॥

अग्रवाल जी की व्याख्या है : – " इधर उस बाला की यौवनरूपी वाटिका में प्रिय का संयोग हुआ। उधर भौंरे फूलों के साथ धमाचौकड़ी करने लगे।" पर यहाँ तो पद्मावती और रतनसेन की कामक्रीडा का वर्णन है। रतनसेन भँवर है और पद्मावती पुहुप। भ्रमर और पुष्प की रस-केलि बसंत में होती है। यही धमार बसंत के प्रकरण में वर्णित है। अन्यत्र कवि रतनसेन को 'रावण-राजा' और पद्मावती को 'पुहुप' के रूप में अंकित करते हुए केलि-धमार का इस प्रकार वर्णन करता है।

पुहुप सिंगार सँवारि जौं जीबन नवल बसंत।
अरगज जेउँ हियलाइ कै, मरगज कीन्हे कंत ॥ ३१८ ॥

नागमती बसन्त में पति-वियोग में इसी धमारी के लिए तरसती है।

(१) चैत बसता होइ धमारी। मोहि लेखे संसार उजारी ॥ ३५३ । १ ॥

(२) भर जोबन एहु नारँग साखा। सोवा बिरह अब जाइ न राखा
॥ ३५३ । ७ ॥

धमारि – (धमारी)-(धम)। तीव्र उथलपुथल, गतिशीलता, लोट-पोट, उठापटक। बोलचाल में आज भी बच्चों के शरारती केलिकलाप को 'धमारि' कहा जाता है। 'धमारि मचाना' = अशांत बैठना।

बसंत में ही फाग-होली-चाँचरि का उत्सव होता है। जायसी कहते हैं बिरह को, बसंत के मिलन-महोत्सव पर, होली की भाँति भस्म कर दिया है। अर्थात् इस मिलन में विरह का पता नहीं। धमार, फाग-होली-चाँचरि उल्लास के प्रतीक हैं। बसन्त में प्रकृति के कोने-कोने में नर-नारी का अद्वैतभाव, यौवन, बारी (वाटिका) में बसन्त की धमार (चहलपहल) स्वाभाविक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७) नखत सिंगार :

" घनि ससि सियरि तपै पिउ सूरू । नखतसिंगार होंहि सब चूरू ॥ "

– पद्मावत ३३५।७

पूरे काव्य में पद्मावती शशि (शीतल) है और रतनसेन सूर्य (तप्त) है। मिलन की प्रगाढ़ता के लिए, परस्पर आकर्षण के लिए यह विरोध अपेक्षित है। सूर्य की उपस्थिति में नक्षत्र का रहना संभव नहीं। पद्मावती के शृंगार और आभूषण ही ' नखत सिंगार ' हैं। कामकेलि में पति उन्हें विध्वंस करता है अथवा वे चूरचूर हो जाते हैं। अन्यत्र कहा भी है –

" सोरह करा सिंगार बनावा। नखतन भरे सूरूज ससि पावा ॥ "

शशि की सोलह कला सोलह शृंगार हैं। शृंगार के विध्वंस और चूर होने का वर्णन छंद ३१८ में विस्तार से है।

८. देवहरैं

बसंत में सेज–सुख के कारण रतनसेन तथा पद्मावती

" सुख बहरावहिं देवहरैं, दुक्ख न जानहिं कित्तु ॥ ३३५ ॥"

' देवहरैं ' को डॉ. अग्रवाल ने देवगृह मान लिया –

यथा, " बसंत में पति–पत्नी देवगृह में (मण्डप–पूजन के लिए) जाकर उद्यान में सुख से अपने आप को बहलाते हैं। (अथवा सुखपूर्वक बाहर आते हैं) कभी दुःख का अनुभव नहीं करते। "

पर देवहरै दिवस (दिव्) से व्युत्पन्न है। उदा. मृगावती में कहा गया है।

१. " जेउं जेउं बाढहिं देवहरै, तेउं तेउं अधिक सनेह ॥ ४१७ ॥

२. सम कहं मरन होइ एकबारी। मोहिं सखी मरन भयउ देवहारी ॥ १४२ ॥

३. ' तिलतिल सहरा मरन देवहारी ' ॥ १५१ ॥

बीसलदेवरास में भी कहा गया है :–

मास दिहाडउं दारुण तवइ। ७४।

इसी प्रकार मधुमालती में ' दिन बहरावहिं ' है :

' इन हुँ संघ मानहिं रस केली। भोग भुगुति औ ' प्रीति नवेली ॥

खाइ खेलि हँसि दिन बहरावहिं। रैनि सोइं सुख नींद बितावहिं ॥ ४६३ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पद्‌मावत के 'सुख बहरावहिं देवहरैं' का आशय है, उनका दिन सुख में बीतता है। अथवा दिनभर सुख में मन बहला रहता है। वे नहीं जानते कि दुःख क्या, कैसा, कितना होता है।

रीतिकालीन कवि नंदराम ने रात बहराने की बात उठाई है :–

'नागरि नवेली अलबेली चल नागर में
कैसे कै अकेली, तोसें राति बहिराति है।'

बहराना = १) बहलाना २) बिताना।

९. कित्तु– कियत्-कितना, कैसा, किन गुणों का।

'दुख न जानहिं कित्तु' अर्थात् पद्‌मावती-रतनसेन सुखविलास में इतने तन्मय हैं कि, उन्हें दुःख का अनुभव नहीं हो पाता। वे जानते ही नहीं कि दुःख कैसा होता है।

....

(२)

रितु ग्रीखम में तपति न तहाँ। जेष्ठ असाढ कंत घर जहाँ।
पहिरें सुरँग चीर घनि झीना। परिमल भेद रहै तन भीना।
पद्मावति तन सियर सुबासा। नैंहर राज कंत कर पासा।
अधर तँबोर कपूर भिवँसेना। चंदन चरिच लाव नित बेना।
ओबरि जूड़ि तहाँ सोवनारा। अगर पोति सुख नेत ओहारा।
सेत बिछावन सौर सुपेती। भोग करहिं निसि दिन सुख सेंती।
भा अनंद सिंघल सब कहूँ। भागिवंत सुखिया रितु छहूँ।
दारिबँ दाख लेहिं रस, बेरसहिं आँब सहार।
हरियर तन सुवटा कर, जो अस चाखनहार। ३३६।

अग्रवालजी की व्याख्या है :– 'गर्मी की ऋतु में भी वहाँ तपन नहीं होती जहाँ जेठ-आसाढ (अषाढ) में कन्त घर पर हों।' पर कवि का कथ्य है कि, जेठ-आषाढ (जो ग्रीष्म ऋतु के माह हैं) का ताप गृहिणी को नहीं सताता यदि पति घर पर हो। अर्थात्, यदि पत्नी को पति के साथ संयुक्त हो कर सुख-भोग का सुख मिले तो ताप कहाँ ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) सुरंग का अर्थ अच्छा रंग लेना चाहिए। संदर्भ लाल रंग का नहीं। ग्रीष्म में लाल रंग तपता है जबकि अग्रवाल जी की व्याख्या है- 'उस समय बालाएँ लाल रंग का झीना वस्त्र पहिनती हैं'।

यहाँ सारा वर्णन पद्मावती से संबंधित है, बालाओं से नहीं। परिमल-भेद से पद्मावती का तन सुवासित है, न कि बालाओं का।

(२) भीना-भिन्दति 'भिद् = टूटना) प्रा. भिदइ, हिं॰ भिनना, मराठी भींदणे, घुसना, सराबोर होना।

(३) पद्मावति तन सियर :-पद्मावती का शरीर शीतल था, ऐसा कहने का अभिप्राय क्या है? कथ्य है कि पद्मावती शशि है इसलिए शीतल भी। पति रतनसेन सूर्य था, इसलिए उसे तप्त कहा गया है। यह परंपरा से पुष्ट है।

(४) अधर तंबोर कपूर भिवँसेना। डॉ. अग्रवाल ने इसका अर्थ किया है 'उसका अधर तांबूल और भीमसेन-कपूर से लाल था।' डॉ. गुप्त की व्याख्या है:-'उसके अधरों पर तांबूल-राग और भीमसेनी कपूर लगे होते थे।' परन्तु कवि का संकेत है कि पद्मावती के अधर ताम्बूल से रागरंजित थे और उसका मुख कपूर से सुवासित था। ताम्बूल में भीमसेनी कपूर सुगंध के लिए डाला जाता था।

(५) भिवसेना-(सं. भीमसेन कर्पूर) यह सामान्य कपूर से, जो 'भीनिया' कहलाता था, अधिक शीतल, सुगंधित और दोषनाशक था। यह मुख्यत: नेत्र के अंजन में पड़ता था। पद्मावत में दोनों कपूर की चर्चा है। यथा, 'कीन्हेसि भींवसेन औ चेना।' ४।१

(६) चंदन चरित्र लाव नित बेना : अग्रवाल जी ने अर्थ किया है 'चन्दन लगा कर नित्य खस लगाती थी।' और उनके द्वारा दिया गया पाठ है: 'चंदन चरचि चाव नित बेना।'

चरचिच-चर्चित = लेप किया हुआ, यथा 'चन्दन चर्चित नीलकलेवर पीत- वसन वनमाली।' गीतगोविंद।

चर्चनम् = शरीर में उबटन लगाना। चंदन के साथ 'चर्चित' का प्रयोग होता आया है। सूर ने लिखा है: 'यह मृगमद चंदन चर्चित तन।' २।३५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(७) बेना -बीरणं = खस। बीरणं अथवा उशीर की जड़ खस कहलाती है - शीतलता प्रदान करने के लिये इसका प्रयोग बराबर होता रहा है। खस सुगंधित भी होती है। इसे 'गांडर' (घास) देहातों में बोलते हैं।

चंदन और अगुरु का लेप बसंत में अनुकूल कहा गया है। जायसी ने इसी परंपरा का अनुसरण किया है। आयुर्वेद में चन्दन और खस दोनों की गणना वर्ण्यगण में है, अर्थात् इनके प्रयोग से रंग निखरता है।

रामायण में 'चन्दन चर्चित' कामातुर व्यक्ति और संध्या की लालिमा से रंजित आकाश की समानता बताई गयी है।

ऋतुसंहार में आया है कि स्त्रियाँ कालीयक (एक प्रकारका चंदन) और केसर के साथ घोल में कस्तूरी मिला कर अपने गोरे-गोरे स्तनों पर चन्दन का लेप कर रही हैं। अत: 'चन्दन चरचि लाव नित बेना' से कवि का आशय है कि पद्मावती चन्दन-खस (बेना-बीरण) का लेप लगाती थी। दोनों का घोल एक में भी हो सकता था। इसके साथ अन्य सुगंधित द्रव्य भी रहते होंगे। जायसी का यह वर्णन परंपरा से पोषित है। यह मात्र जायसी-कालीन नहीं।

(८) दारिवँ दाख लेहिं रस, बेरसहिं आँब सहार।
हरियर तन सुबटा कर, जौ अस चाखनहार॥

अग्रवाल जी की व्याख्या है: 'वे अनार और अंगूर का रस लेते तथा आम और सहकार खा कर विलास करते थे। जो इस प्रकार के फल चखने वाला है उसके शरीर पर सुग्गे जैसी हरियाली दिखाई पड़ती है।' डॉ. गुप्त जी की व्याख्या भी इसी प्रकार है।

जायसी ने यहां परंपरा से प्राप्त प्रतीकों का प्रयोग किया है - दाडिम शुक को प्रिय है। उसका नाम ही 'दाडिम-प्रिय' है। दाडिम (अनार) कुच का बोधक भी है। सहार (सहकार) भी शुक को प्रिय है और वह (अर्थात् कलमी आम) सुभर कुच का प्रतीक है।

दाख रस, अधररस का बोधक है। 'दारिम-दाख' का सामाजिक प्रयोग 'कुच' के लिए भी है। पद्मावत में संख्या २५४ में पंक्ति है :- 'मिलै जो प्रीतम आइ कै, दाख बेलि रस चाख।'

'द्राक्षा बेलि' में द्राक्षा-फल कुच है। चांदायन में 'दाष बेलि फर रांयो' (३५२) है। द्राक्षावल्लरी नारी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'सहार' का प्रतीकात्मक प्रयोग चांदायन में भी है। मैना लौरिक के विरह में संदेश के रूप में कहती है।

'सेज पिरम रस सून्यौं आवत। अब सहरा (सिहारि) डार चरि रावत।
॥ ३५९ ॥'

जायसी का कथन है कि रतनसेन सुखभोग में शुक सदृश अनार, दाख, आंब–सहार का रस लेता है। वह शुकसमान हराभरा है।

१४७, त्रिवेणी रोड,
इलाहाबाद–२११००३
(उ प्र.)

–हरिहर प्रसाद गुप्त

टिप्पणी

लेखक ने मलिक मुहम्मद जायसी कृत पद्मावत के 'षड्ऋतु वर्णन खण्ड' के ३३५ तथा ३३६ चोपाई छंद के कुछ शब्दों के अर्थों पर विचार करते हुए अन्यान्य काव्य ग्रंथों के आधार पर डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल तथा डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त के द्वारा किये गये अर्थों से अपना मतभेद व्यक्त किया है और इस विषय में विद्वानों के विचार आमन्त्रित किये हैं। हम उन विचारों का स्वागत करेंगे।

–संपादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्य में धर्मधर्मिभाव का विचार

विशिष्ट उक्ति (शब्दार्थं) काव्य है। व्यवहार और शास्त्र के प्रसिद्ध प्रस्थान से उसमें व्यतिरेक है, कारण वह लोकोत्तर चमत्कारकारी वैचित्र्य से मण्डित है। तथाविधवैचित्र्य ही उक्ति का – काव्यात्मक उक्ति का–वैशिष्ट्य है। इसी 'वैचित्र्य' या 'वक्रता' से मण्डित (शब्दार्थोभयात्मक) उचित काव्य है। काव्य धर्मी है। और लोकोत्तर चमत्कारकारी वैचित्र्य धर्म। यह 'वैचित्र्य' – वर्ण्यवस्तु के 'स्वभाव' से भिन्न नहीं है। कुन्तक कहते हैं –

आञ्जसेन रूपेण स्वभावस्य निरूपणमेव
वक्रतायाः परं रहस्यम्।

इस वैचित्र्य या वक्रता का परम रहस्य 'स्वभाव' का ऋतुभाव से निरूपण ही है। वस्तु का 'स्पन्दात्मक' स्व-भाव–सर्वसामान्य की चर्मचक्षुओं का गोचर नहीं है – उसके लिए प्रातिभ चक्षु–शिव की तीसरी आंख – की अपेक्षा है। इसीलिए कुन्तक कहते हैं –

यत् किञ्चनापि वैचित्र्यन्ततसर्वं प्रतिभोद्भवम्।

काव्योचित वैचित्र्य मात्र प्रतिभा का कार्य है। प्रश्न है कि प्रतिभा वर्ण्यवस्तु के 'स्व-भाव' का अपरोक्षीकार मात्र करती है अथवा उसका निर्माण भी करती है? पर जो निर्मित होगा – वह 'स्व–भाव' कैसे होगा? 'स्वभाव' 'होता' है, 'किया' नहीं जाता। जो किया जाय वह 'परभाव' है, स्व–भाव नहीं। यहां 'स्व–भाव' की बात है। वर्ण्य वस्तु का 'स्वभाव' यहां सर्वसामान्य की बुद्धीन्द्रिय का गोचररूप नहीं है – 'सामान्य' स्वभाव नहीं है – और न ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रहण की दृष्टि से शब्दजन्य परोक्ष ज्ञानगोचर 'सामान्य' है – वह असाधारण 'स्वभाव' है – प्रातिस्विक वैशिष्ट्य है। महिम भी यही कहते है –

विशिष्टस्य यद्रूपं तत्प्रत्यक्षस्य गोचरः।
स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवाम्॥
रसानुगुण शब्दार्थ चिन्तास्तिमितचेतसः।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः॥
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात्करोत्येव भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः॥
इत्यादि प्रतिभातत्त्वमस्माभिरुपपादितम्।

अर्थात् 'वस्तु' मात्र का द्विविधरूप होता है – सामान्य और दूसरा असामान्य या विशिष्ट। पहला परोक्ष ज्ञान का और दूसरा अपरोक्ष ज्ञान का। अपरोक्ष ज्ञानगोचर 'विशिष्ट' रूप ही सत्कवि के द्वारा प्रयुक्त शब्द का विवक्षित अर्थ होता है। शास्त्र और काव्य के प्रसिद्ध प्रस्थान वाले शब्द से ऐसा अर्थ विवक्षित नहीं होता। कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा के समक्ष वर्ण्यवस्तु का जो 'स्वभाव' सामने आता है – वह 'विशिष्ट' है – इसी में काव्यात्मक उक्ति का वैशिष्ट्य निहित है। यही वैशिष्ट्य 'वैचित्र्य' या या 'वक्रता' है – यह वक्रता कवि का प्रातिभ व्यापार है 'वक्रत्वं कविव्यापारः।' कुन्तक इसी व्यापार की प्रधानता मानता है। ध्वन्यालोककार जब कहता है –

"वाच्यानांच काव्ये प्रतिभासमानानां यद्रूपं तत्तु विशेषभेदेनैव प्रतीयते"।

काव्य में जो 'वाच्य' प्रतिभासित होता है – जिस रूप से प्रतिभासित होता है – वह ग्राह्य 'विशेष' से [ही एक रूप हो कर, न कि 'सामान्य' से। यह रूप ग्राहक में लोकोत्तर चमत्कार या आस्वाद पैदा करता है। महिम ने यहां एक प्रश्न और खड़ा किया है। उन्होंने कहा कि यहां काव्य का धर्म कहा है –

"शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धं व्यतिरेकिवैचित्र्यम्"– सो यह वैचित्र्य या तो अन्ततः औचित्य रूप ही ठहरता है अथवा (प्रतीयमानाभिव्यक्तिपरक) व्यंजकत्व रूप। इन दोनों पक्षों में प्रतिज्ञात अपूर्वता क्या है? पहला तो स्वरूपतः सिद्ध है और यदि दूसरा अभिप्राय है तो पहले कहा जा चुका है। महिम काव्य वहीं मानते हैं जहां रसानुरोधी कवि–व्यापार होता है– वहां वक्रता या वैचित्र्य शब्दार्थगत औचित्य ही होगा। पर जहां रसानुरोधी कवि–व्यापार न न हो – वहां 'वैचित्र्य' क्या होगा? महिम वहां काव्य न मानें, कुन्तक मानते हैं। जहां तक दूसरे विकल्प का प्रश्न है, स्वयं महिम में वदतो–व्याघात है। स्वयं महिम कह चुके हैं कि प्रातिभ चक्षुगोचर अर्थ 'विशिष्ट' है जिसे कुन्तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'विचित्रवाच्य' मानते हैं, प्रसिद्ध वाच्य (सामान्य) से भिन्न। अतः इसमें अपूर्वता तो है ही। वाच्यगत वैचित्र्य से सम्पूर्ण उक्तिगत वैचित्र्य माना जाता है। आनन्दवर्द्धन ने कहा "किमिदमुक्ति वैचित्र्यम् ?' वाच्यविशेष-प्रतिपादक वचन हो उक्ति है। सो, यदि वाच्यगत वैचित्र्य है – तो उक्तिगत वैचित्र्म क्यों नहीं? यही वैचित्र्य काव्योचित चारुता का स्त्रोत है– अतः यही वैचित्र्य काव्य का व्यावर्तक धर्म है।

इस पर भी प्रश्न यह किया जा सकता है कि प्रतिभावान् को काव्यात्मक शब्द से जो यह प्रसिद्ध (सामान्य) वाच्य से अन्यथा रूप अर्थ प्रतीत होता है – वह शब्द के किस सामर्थ्य से ? स्पष्ट ही लोक-प्रसिद्ध अभिधा से नहीं, विचित्र अभिधा से। क्या शब्दच्छल से यह विचित्र अभिधा व्यंजकता का ही पर्याय है या भिन्न ? यदि उस विचित्र अभिधा से समर्थ्यमाण अर्थ 'वाच्य' ही हो तो समर्पक शब्द की क्षमता को व्यंजना कैसे कहेंगे ? हाँ, यह वाच्य 'सामान्य' रूप नहीं है – प्रत्यक्षगोचर 'विशिष्ट-वाच्य' (विचित्र वाच्य) है। जिस प्रकार शब्द की व्यंजना प्रतिभा की अपेक्षा करती है उसी प्रकार 'विचित्र वाच्य' के बोध में शब्द की अभिधा भी प्रतिभा की अपेक्षा करती है। आनन्दवर्द्धन सहृदयहृदयावर्जक वाच्यवैचित्र्य से अपरिचित नहीं हैं। पर काव्योचित चारुता का समर्पक प्रतीयमान को ही मानते हैं। पंडितराज भी कहते हैं कि प्रतीयमान् से संस्पृष्ट हो कर ही अर्थ चारुताधायक होता है। मतलब, अपने-आप में प्रतीयमान् से भिन्न लोक-शास्त्र-प्रसिद्ध शब्दार्थ में चारुता पदा करने की क्षमता नहीं होती। महिम भट्ट का भी पक्ष है – अनुमेयार्थ संस्पर्शमात्रं चान्वयव्यतिरेकाभ्यां काव्यस्य चारुत्वहेतुरिति निश्चितम्। (व्य. वि. प्र. वि.–पृ. १३६) कुन्तक का पक्ष है कि काव्योचित शब्द और अर्थ अपनी कोटि में अकेला ही होता है–अपनी क्षमता में अकेला ही होता है– वह अलग ही है। उसकी यही विचित्रता काव्य का व्यावर्तक वैशिष्टच है। रसात्मक अर्थ तो अपने-आप में लोकोत्तर है– विचित्र है। कहा जा सकता है कि वाच्यार्थ की कल्पना सहकृत या प्रतिभासहकृत प्रत्यक्षायमाणता की अपेक्षा जहां व्यज्यमानतावश चारुता प्रतीत होती है – तो यह 'वैचित्र्य' अव्याप्त नहीं होगा ? लक्षणा से कुन्तकसम्मत वाच्य की परिधि में उसका भी समावेश है–परन्तु वहाँ की काव्योचित चारुता अर्थगत प्रत्यक्षायमाणता में नहीं–गोपनीय ढंग से आशय की समर्पकता में है। सहृदय हृदयसाक्षिक चारुता के स्रोतभूत वैचित्र्य मात्र को व्यावर्तक धर्म माना जायगा। इस वैचित्र्य (अर्थो-गिरामविहितः विहितश्च कश्चित्) का समावेश कुन्तक वाले वैचित्र्य में होगा ? उन्होंने इस (असामान्य, स्व-भाव, प्रत्यक्षायमाण स्वभाव) वैचित्र्य को 'लीनं वस्तुनि' कहा है– वस्तुगत कहा है। प्रतिभा ही उस वैचित्र्य नामक सूक्ष्मसुभग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्त्व को वाणी से खींच कर उभार देती है।

कहा गया है –

लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभगं तत्त्वं गिरा कृष्यते
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं वाचैव यो वा कविः।
वन्दे द्वाकपि तावुभौ...

इन पंक्तियों में कुन्तक काव्योचित चारुता के लिए अपेक्षित 'वैचित्र्य' वस्तुगत भी मानते हैं– जिसे प्रतिभा की आँख से देख कर उभार दिया जाता है और अ–वस्तुगत भी ऊपर से निर्मित भी। इस प्रकार स्वयं उनका वस्तु के प्रत्यक्षायमाण स्व–भाव रूप वैचित्र्य अपरत्र अव्याप्त हो जाता है। दूसरी ओर जहां गोपनीय ढंग से अर्थ की समर्पकता में ही 'चारुता मानी जाती है, वहाँ कुन्तकसम्मत 'वैचित्र्य' का समावेश नहीं हो पाता। यह मानना कि 'प्रतीयमानता' किसी न किसी रूप में सर्वत्र विद्यमान है–पर विद्यमान रह कर भी अविवक्षित तो हो सकती है। वहाँ तो आनन्दवर्द्धन 'काव्य' ही नहीं मानते, 'काव्य' का चित्रात्मक अनुकारमात्र मानते हैं। विचारणीय बात है कि जहाँ वस्तु का 'प्रत्यक्षायमाण स्वभाव–रूप वैचित्र्य' और उसके कारण चारुता प्रतीति में अवतीर्ण हो–वहाँ काव्य का अनुकार मात्र ही माना जाय? विनिर्गतं मानम्...'; में जो बिम्बविधान है–' निमीलिताक्षीव भियामरावती '–में जो प्रत्यक्षायमाणता-कृत वैचित्र्य है – उसे सहृदय हृदयहारी चमत्कार की कोटि से बाहर कर दिया जाय? आनन्दवर्द्धन के लक्षणात्मक निकष पर यह रचना क्या काव्यानुकार मात्र है?

इस प्रकार 'ममधम्मिय वीसद्धो' में कुन्तक का लक्षण और 'विनिर्गतं...' में आनन्दवर्द्धन का लक्षण अव्याप्त हो जाता है। यह मानना कि सामान्य लोगों को भले 'विनिर्गतं...' में चारुता प्रतीत हो, परन्तु विशेष लोगों को–परिणतप्रज्ञ लोगों को–ऐसी चारुता आवर्जक न होगी–विचारणीय है। आनन्द तो परिणत प्रज्ञ की दृष्टि से 'ध्वनिरेव काव्यम्' कहते हैं– 'काव्ये उभे' के विपक्ष में बोलते हैं, गुणीभूत व्यंग्य को भी काव्य मानने से नकार देते हैं। अन्ततः तो 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः'–कह कर रसध्वनि को ही काव्य कहते हैं। उत्तम-मध्यम की तो बात ही नहीं करते। फिर 'वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासमानानाम्' कह कर कुन्तकससम्मत वैचित्र्य का भी अनुमोदन करते हैं। कुछ लोग इसीलिए 'वाच्यप्रतीयमानाख्यौ' में द्वन्द्वघटकीभूत वाच्य और प्रतीयमान की दृष्टि-विशेष से समान हेतुता रूप (चारुता उत्पादन के प्रति) प्रधानता का समर्थन करते हैं। प्रधानता कहें या समकक्षता कहें–कुछ भी कह लें। आनन्दवर्द्धन अधिकारभेद से काव्य-लक्षण या धर्म पर व्यापक विचार करते हैं। इस दृष्टि से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुन्तक की अपेक्षा आनन्दवर्द्धन का धर्मधर्मिभाव-विवेक ज्यादा लचीला प्रतीत होता है।

इस विवाद से हट कर उसी कुन्तक के व्दारा कथित सहृदयहृदय-साक्षिक 'चारुता' के प्रति परस्पर प्रतिस्पर्द्धी शब्द और अर्थ के सहभाव को ही काव्य का लक्षण क्यों न मान लें ? पंडितराज का 'चमत्कारत्ववत्त्व' भी लक्षण है-पर इस मत में विशिष्ट शब्द ही काव्य कहा गया है, जो व्युत्पत्ति, प्रयोग, प्रवाह आदि की दृष्टि से असंगत है।

२, बैंक कालोनी, **राममूर्ति त्रिपाठी**
देवास रोड,
उज्जैन (म. प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सौन्दरनन्द महाकाव्य में विभावों की अभिव्यक्ति

भाव काव्य का आधार है। इसमें कवि की विचारधारा व अवधारणा का आरोप होता है। संस्कृत काव्य-शास्त्र में इसे कवि-निबद्ध वस्तु-सामग्री (विभाग) कहा गया है। काव्य में भावाभिव्यक्ति का प्रतिफलन कवि के द्वारा अनेक रूपों में होता है। सहृदय-गत भावों के सम्मूर्तन के लिए वस्तु अनिवार्य है। और उसे विभाग रूप में लेना आवश्यक है। काव्य का अभ्यासी सहृदय अपने संस्कारों के कारण परिमित भावादि के उन्मीलन के द्वारा काव्य-निबद्ध विषय का साक्षात्कार कर लेता है –

'तेन ये काव्याभ्यास प्राक्तन पुण्यादि हेतु बलदिति सहृदयस्तेषां परिमित विभावाद्युन्मीलनेऽपि परिस्फुट एवं साक्षात्कार काव्यार्थः स्फुरित :'।[1]

इस साक्षात्कार द्वारा ही सहृदय काव्य का रसास्वाद करता है। रसात्मक वाक्य होने के कारण काव्य का मूल रूप रागात्मक या भावात्मक है, किन्तु उसमें भी भावों का विचारों से, जिनका बुद्धि तत्त्व से सम्बन्ध है, नितान्त विच्छेद नहीं रहता। काव्य में जहां शब्द और अर्थ के सहित होने का भाव रहता है वहां रागात्मक तत्त्व प्रधान भावों और बुद्धि-तत्त्व प्रधान विचारों का भी सामंजस्य रहता है। रस को काव्य की आत्मा कहा गया है। प्रत्येक महाकाव्य में किसी न किसी रस का प्राधान्य रहता है। "वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्"।[2] रस की चर्वणा में सहृदय के लिए भाव का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। बिना इसके काव्य नीरस एवं गद्यवत् प्रतीत होगा। "न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रस वर्जितः ।[3] भावों की स्थिति सामाजिक सहृदय में वासनारूप संस्कार रूप में विराजमान रहती है । यही स्थायी भाव कहलाते हैं जो कारण–कार्य भाव से उद्बुद्ध होते रहते हैं । ये सदैव व्यक्त दशा में ही नहीं रहते । इन भावों के उदबोधन में जो कारण रहता है उसी को विभाव की संज्ञा दी गयी है । अर्थात् स्थायी भावों को रस–रूप में आस्वादनीय बनाने वाले मुख्य कारण विभाव कहलाते हैं। रसानुभूति में स्थायी भावों के भिन्न होने से इन कारणभूत विभावादि में भी भेद दृष्टिगोचर होता है । भाव शब्द बहुत व्यापक है। उसमें भाव (स्थायी भाव और संचारी भाव) के साथ–साथ विभाव (आलंबन और उद्दीपन) भी आ जाते हैं । जब शब्द सकुचित अर्थ में लिया जाता है तब वहाँ वह रस की एक अपूर्व अवस्था माना जाता है।

काव्य की कोई भी विधा हो, उसमें प्रायः भाव और विभाव दोनों ही होंगे। भाव का उद्गम यद्यपि आश्रय में होता है तथापि उसका सम्बन्ध किसी बाह्य वस्तु से अवश्य होता है । वह वस्तु चाहे कल्पित हो चाहे वास्तविक। हमारे भाव जिस किसी के प्रति होंगे वही हमारे भाव का आलम्बन होगा। उचित आलम्बन के बिना भाव शक्ति और सबलता प्राप्त नहीं कर सकते।

" रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्य नाट्ययोः ।
आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ।। [4]

काव्य में जिस प्रकार भाव का निबन्धन आवश्यक है उसी तरह आलम्बन का भी निबन्धन आवश्यक होता है । क्योंकि आलम्बन के बिना भाव स्थिर नहीं रह सकते । अतः काव्य में भावों के स्थायित्व के लिए आलम्बन और उद्दीपन विभावों का वर्णन आवश्यक हो जाता है । विभावों के द्वारा ही रस का अङ्कुरण होता है ।

" विभाव्यन्ते आस्वादाङ्कुर प्रादुर्भावयोग्याः क्रियन्ते
सामाजिक रत्यादिभावो एभिः इतिविभावा उच्यन्ते " [5]

सौन्दरनन्द महाकाव्य शान्त–रस प्रधान काव्य है। महाकवि अश्वघोष ने शान्त के अनुसार ही आलम्बन एवं उद्दीपन विभावों का वर्णन किया है। यद्यपि महाकाव्य में यत्र–तत्र शृंगार की भी अनुभूति होती है, परन्तु वह अङ्गभूत ही है। महाकवि अश्वघोष ने सौन्दरनन्द महाकाव्य के माध्यम से सरल संस्कृत भाषा में बौद्ध दर्शन के सिद्धान्त का विवेचन करना और उसका प्रसार करना ही ध्येय रखा है। यह महाकाव्य नन्द व सुन्दरी के श्रृंगार से ही शान्त रस की ओर अग्रसर होता है और अन्त में शान्त रस की अनुभूति कराता है। संसार की असारता की ओर ध्यान आकर्षित कर उससे वैराग्य उत्पन्न करना और जीव को ईश्वरोन्मुख करना शान्त रस के पक्षों का मुख्य उद्देश्य रहता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सौन्दरनन्द महाकाव्य में निर्वेद स्थायी भाव प्रधान शान्त रस की अभिव्यक्ति हुई है। " निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।[६] परन्तु साथ ही इसमें शम का भी निदर्शन होता है जो तृष्णाक्षय के रूप में विद्यमान है।

" यच्चकाम सुखं लोके यच्चदिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षय सुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥[७]

अतः निर्वेद ही शम रूप में पल्लवित होकर स्थायी रूप से शान्त रस का आस्वाद कराता है। जैसा कि साहित्य–दर्पणकार का मत है,

" शमो हि निरीहावस्थायामात्य विश्रामजंसुखम् "[८]

तत्त्व–ज्ञान–प्रभव निर्वेद स्थायी भाव

तत्त्व–ज्ञान प्रभव निर्वेद भाव की पुष्टि महाकवि अश्वघोष भी करते हैं:

" शान्तस्य तुष्टस्य सुखी विवेको विज्ञात तत्त्वस्व परीक्षकस्य।
प्रहीणमानस्य च निर्मदस्य सुखं विरागत्वमतक्त बुद्धेः[९] ॥ ९ ॥

सौन्दरनन्द १८/४२

अर्थात्, शान्त (सं)तुष्ट, तत्त्व को जानने वाले और दार्शनिक को सुखपूर्वक ज्ञान प्राप्त होता है। मानरहित, मदरहित, असक्त बुद्धि–वाले को सुखपूर्वक वैराग्य प्राप्त होता है। ऐसा शम्, शान्त और सन्तुष्ट भाव प्राप्त होने पर नन्द कहता है:

" अथो हि तत्त्वं परिगम्य सम्यङ् निर्धूय दोषानिधिगम्य शान्ति।
स्वनाश्रमं संप्रति चिन्तयामि न तं जनं नाप्सरसो न देवान्॥
इदं हि मुक्त्वा शुचि शामिकं सुखं न मे मनः कांक्षति कामजं सुखम्।
महार्हमप्यन्तमदैवताहृतं दिवौकसोमुक्तवतः सुधामिव॥[१०]

सौन्दरनन्द १८/४३–४४

इस तत्त्व को जान कर समस्त दोषों से हट कर नन्द का मन काम (भोग) से उत्पन्न सुख की इच्छा नहीं करना चाहता है।

अन्य अनेक स्थलों पर भी इस प्रकार के निर्वेद स्थायी की प्रतीति होती है।

तृष्णाक्षय रूप शम स्थायीभाव

सौन्दरनन्द महाकाव्य में " तृष्णाक्षय " भी शान्त रस का स्थायी भाव है। महात्मा बुद्ध नन्द को उपदेश करते हैं कि वह अपनी तृष्णा को नष्ट करे क्योंकि तृष्णा ही अनेक जन्मों का कारण है। यदि दुःख से मुक्त होना है तो उनको काटो, क्योंकि कारण के क्षय से कार्य का क्षय होता है। हेतु नाश से दुःख-क्षय होता है। शान्त एवं कल्याण धर्म का साक्षात्कार करो, (जो) तृष्णा विरागी निवास रूप, निरोध रूप, सनातन, रक्षक, अविनाशी और आर्य है:

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"तज्जन्मनो नैक विधत्य सौम्य तृष्णादयो हेतव इत्यवेत्थ ।
तांश्छिन्धि दुःखाचदि निर्मुमुक्षा कार्यक्षयः कारण संक्षयाद्धि ॥
दुःखक्षयो हेतु परिक्षयाच्च शान्तं शिवं साक्षि कुरुष्व धर्मं ।
तृष्णाविराग लयनं निरोधं सनातनं त्राणयहार्यमार्यम् ॥ सौन्दरनन्द

१६।२५–२६

तृष्णा को काट देने पर जो पद प्राप्त होता है उस पद से न जन्म होता है, न वृद्धावस्था आती है न मृत्यु, न रोग, न अप्रिय–संयोग, न इच्छा रूप विपत्ति, न प्रियवियोग होता है। वह कल्याणकारी पद नैष्ठिक और अच्युत है।

"यस्मिन्न जातिर्न जरा न मृत्युर्न व्याध्योनाप्रियसंप्रयोग :।
नेच्छाविपन्न प्रिय विप्रयोगा क्षेमं पदं नैष्ठिकमच्युतं तत्" ॥

सौन्दरन्द १६।२७

उपर्युक्त का भाव साहित्य–दर्पण के शान्त रस प्रधानता प्रतिपादक पद्य से मिलता है :

न यत्र दुःखं न सुख न चिन्ता न द्वेष रागो न काचिदिच्छा।

रसः स शान्तः कथितोमुनीन्द्रैः ...। शान्त रस के मुख्य घटकों विभावादि का वर्णन अपेक्षित है। सौन्दरन्द महाकाव्य में कवि अश्वघोष ने शान्त रस के आलम्बन विभाव में परमात्मा, स्वरूप ज्ञान, अनित्य रूप से सोचा गया विश्व अर्थात् संसार की निस्सारता, समस्त सांसारिक विषयों की निस्सारता का ज्ञान, दुःख, ममता आदि इसके आलम्बन विभाव हैं। सौन्दरनन्द महाकाव्य में शान्त रस के सम्पूर्ण उद्दीपन विभावों का परिपाक भी दृष्टिगोचर होता है। उद्दीपन विभावों में पुण्याश्रम, भगवान् की लीला भूमि, महापुरुषों का सत्संग, तीर्थ, तपोवन, तपस्वी दर्शन, रम्य वन एवं स्वर्ग–दर्शन आदि आ जाते हैं।

– प्रभा शर्मा

५।११०, श्वेत नगर
दयाल बाग
आगरा–२८२००५
(उ. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. अभिनव गुप्त– अभिनव भारती– भाग–१ पृ. २८७
२. अग्नि पुराण– ३३७।३३
३. भरतमुनि– नाटचशास्त्र ६।३६, चौ. सं. सीरीज, वाराणसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४. साहित्य दर्पण–३।२९ व्याख्या–सत्यव्रत सिंह, चौ, विद्याभवन, वाराणसी १९७६.
५. वहीं– पृ. १३६
६. काव्य प्रकाश– ४।४७, व्याख्याकार, डॉ. श्री. श्रीनिवास शास्त्री, मेरठ १९७४.
७. साहित्य दर्पण– ३।२५० की वृत्ति में उधृत
८. साहित्य दर्पण– ३।१८०
९. सौन्दरनन्द महाकाव्य– १८।४२
१०. वहीं १८।४३–४४
११. वहीं १६।२५–२६
१२. वहीं १६।२७
१३. साहित्य दर्पण– ३।२४९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (१७)
विषयता (iii)

पिछले लेख में यह बतलाया गया था कि विषयता के प्रकारता; विशेष्यता; संसर्गता आदि अनेक प्रकार हैं। प्रकारता का ही दूसरा नाम विशेषणता भी है ऐसा कुछ नैयायिकों का मत है, जबकि कुछ लोग विशेषणता को प्रकारता का एक प्रकार मानते हैं।[1]

प्रकारता के स्वरूप के बारे में नव्यनैयायिकों में मतभेद दृष्टि-गोचर होता है। कुछ लोग भासमान वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) की प्रतियोगिता को प्रकारता तथा सम्बन्ध की अनुयोगिता को विशेष्यता कहते हैं।[2] जैसे, 'यह घट है' ('अयं घट:') इस ज्ञान में घटत्व का समवाय यह वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) घट में ज्ञात होता है। जैसे कि पहले ही कहा जा चुका है, प्रत्येक सम्बन्ध के दो सम्बन्धी घटक (सम्बन्धक) पदार्थ होते हैं। उनमें से एक प्रतियोगी तथा दूसरा अनुयोगी कहलाता है। जो सम्बन्ध के प्रतियोगी के रूप में प्रतीत होता है उसे हो ज्ञान में विशेषण के रूप में प्रतीत होने वाला माना जाता है। अत: सम्बन्ध का प्रतियोगित्व ही विशेषणत्व है।

गदाधर[3] को यह परिभाषा मान्य नहीं है। उनका कथन है कि यह परिभाषा स्वीकार करने पर "घटभूतलसंयोग:" यह जो समूहालम्बनात्मक ज्ञान है वह भी घट प्रतियोगिक तथा संयोग विषयक होने से उसे भी घट-प्रकार वाला ज्ञान मानना पडेगा। उक्त समूहालम्बन-ज्ञान का विषय घट अवश्य है; परन्तु उक्त ज्ञान में प्रकार के रूप में घट का बोध नहीं होता है। घट का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेष्य के रूप में ज्ञान होने से यहाँ घटत्व प्रकार के रूप में ज्ञात होता है, घट नहीं। दूसरी बात यह है कि उक्त परिभाषा स्वीकार करने पर "संयोग सम्बन्ध से द्रव्यत्ववान्" इस भ्रम में प्रकार के रूप मे द्रव्यत्व की प्रतीति नहीं होगी। संयोग सम्बन्ध से द्रव्यत्व कहीं पर भी नहीं रहता है। (द्रव्यत्व यह जाति समवाय सम्बन्ध से ही द्रव्य में रहती है।) इसलिये संयोग सम्बन्ध यहाँ व्यधिकरण–सम्बन्ध माना जाता है। अतः द्रव्यत्व में संयोग सम्बन्ध का प्रतियोगित्व न होने से "भासमान वैशिष्ट्य प्रतियोगित्व"–रूप प्रकारत्व भी उसमें नहीं रहेगा। तीसरी बात यह है कि 'भूतले घटः' (भूतल पर घट है।) इस ज्ञान में भूतल प्रकार के तथा घट विशेष्य के रूप में प्रतीत होता है। परन्तु इस ज्ञान में प्रतीत होने वाला भूतल और घट का संयोग भूतलानुयोगिक तथा घटप्रतियोगिक है। यदि भासमान वैशिष्ट्य प्रतियोगित्व को प्रकारता और अनुयोगित्व को विशेष्यता के रूप में स्वीकार किया तो उक्त ज्ञान भूतल अनुयोगिक संयोग वाला होने से भूतल विशेष्य वाला हो जायगा, जबकि यहाँ भूतल प्रकार है, विशेष्य नहीं।

चौथी आपत्ति यह है कि उक्त प्रकारता और विशेष्यता की परिभाषा स्वीकार करने पर जिस व्यक्ति को द्रव्य संयोग सम्बन्ध से गुण में नहीं रहता है ऐसा ज्ञान नहीं है उसको गुण में संयोग सम्बन्ध से होने वाला द्रव्य का भ्रम गुण–विशेष्यक नहीं होगा, क्योंकि गुण में संयोग सम्बन्ध की अनुयोगिता नहीं है। संयोग सम्बन्ध से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से ही सम्बन्धित हो सकता है, गुण से नहीं। अतः गुण में संयोग सम्बन्ध की अनुयोगिता स्वीकार नहीं की जा सकती।

वैशिष्ट्य की प्रतियोगिता के द्वारा भासमान होना यह भी प्रकारता का स्वरूप नहीं हो सकता है। "वैशिष्ट्य प्रतियोगी" के द्वारा (प्रतियोगितया) यहाँ प्रयुक्त तृतीया विभक्ति का अर्थ करना सुलभ नहीं है। और 'भासमान होना' का अर्थ ज्ञान–विषय होना ऐसा करने पर प्रकारता और विशेष्यता आदि का प्रतियोगिता आदि से भिन्न विषयता–रूप स्वतः प्रकट हो जाता है। अतः प्रकारता का अर्थ किसी धर्मि (आश्रय) में विशेषण के रूप में भासमान होना, तथा विशेष्यत्व का अर्थ किसी धर्म के आश्रय के रूप में प्रतीत होना ऐसा करना चाहिये। धर्म के रूप में प्रतीत होने वाले में प्रकारता शक्ति तथा धर्मि के रूप में प्रतीत होने वाले में विशेष्यता प्रतीत होती है। इसलिये यह स्पष्ट है कि सांसर्गिक प्रतियोगिता और अनुयोगिता क्रमशः प्रकारता और विशेष्यता–रूप नहीं हैं। भ्रमात्मक ज्ञान में प्रतीत होने वाली प्रकारता और विशेष्यता का विचार उक्त रूप से नहीं किया जा सकता यह ऊपर दिखाया जा चुका है।

यदि सम्बन्ध की प्रतियोगिता और प्रकारता में भेद न किया जाय तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'दण्डपुरुषसंयोगप्रतियोगित्व-अनुयोगित्व' इस प्रकार के ज्ञान तथा 'दण्डी पुरुषः' इस प्रकार के विशिष्ट ज्ञान में कोई भेद नहीं रहेगा।[४] क्योंकि यदि विशिष्ट ज्ञान (दण्डी पुरुष इस ज्ञान) में दण्ड में संयोग का प्रतियोगित्व जैसे मालूम होता है उसी तरह उपर्युक्त ज्ञान में संयोग-प्रतियोगित्व और अनुयोगित्व भी मालूम पड़ता है। इसलिये उक्त समूहालम्बनज्ञान और विशिष्ट-ज्ञान में भेद करने के लिये विशिष्ट-ज्ञान में संयोग के प्रतियोगित्व के अतिरिक्त प्रकारता स्वीकार करना आवश्यक है। 'दण्ड-पुरुष-संयोग-प्रतियोगित्व-अनुयोगित्व' इस ज्ञान में दण्ड का विशेषण के रूप में ग्रहण न होने से उसमें उक्त ज्ञान की प्रकारता नहीं है। इस प्रकार दोनों ज्ञानों में प्रकारता को सांसर्गिक प्रतियोगिता से भिन्न मानने पर भेद सिद्ध हो जाता है।

यदि यह माना जाय कि विशिष्ट-ज्ञान में प्रतीत होने वाले प्रतियोगित्व और अनुयोगित्व के साथ उनका सम्बन्ध भी प्रतीत होता है, जबकि उपर्युक्त समूहालम्बन ज्ञान में केवल प्रतियोगित्व ही ज्ञान का विषय होता है, प्रतियोगित्व का सम्बन्ध नहीं, तो अनवस्था दोष उत्पन्न होगा। विशिष्ट-ज्ञान का विषय प्रतियोगित्व और उसका सम्बन्ध और उस सम्बन्ध का सम्बन्ध इस प्रकार की शृंखला का कहीं भी विश्राम ही नहीं होगा। अतः विशिष्ट-ज्ञान में सम्बन्ध के सम्बन्ध का भी ज्ञान होता है यह मानना उचित नहीं है।

प्रकारता को भी प्रतियोगिता आदि अन्य पारिभाषिक पदार्थों के समान एक भिन्न पदार्थ भी कुछ लोग मानते हैं।[५]

विशेषणता और उपलक्षणता के भेद से प्रकारता दो प्रकार की होती है[६]; क्योंकि विशेषण और उपलक्षण के भेद से प्रकार दो प्रकार का होता है। जो धर्म विद्यमान होते हुए व्यावर्तक होता है वह विशेषण है, और जो अविद्यमान होते हुए भी व्यावर्तक होता है वह उपलक्षण होता है[७] ऐसा कहा जाता है। परन्तु यह समीचिन नहीं है। 'दण्डी पुरुषः' यहाँ विद्यमान दण्ड पुरुष की अदण्डी से व्यावृत्ति करता है इसलिये उसे विशेषण कहते हैं। परन्तु 'काकवन्तं देवदत्तगृहम्' अथवा 'जटाभिः तापस.' यहाँ अनुक्रमशः 'कौवा घर पर बैठा हुआ होना' या 'शिर पर जटाओं का होना' विशेषण नहीं हैं। 'दण्डी पुरुषः' ऐसा कहने पर दण्ड से दण्डी पुरूष को अलग करता है इसलिये अदण्डी की व्यावर्तकता का नियामक (अवच्छेदक) होने से दण्ड विशेषण है। तथापि कौवा, जटादि अनुक्रमशः घर और तापस के विशेषण नहीं हैं, क्योंकि उनके न रहने पर भी अन्य धर्म के द्वारा उक्त गृह की व्यावृत्ति सम्भव है। अतः व्यावृत्ति की अधिकरणता का अतिरिक्त वृत्ति होने के कारण काक और जटा विशेषण न हो कर उपलक्षण हैं। व्यावृत्ति की अधिकरणता का अवच्छेदक होते हुए जो व्यावृत्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का जनक है वह धर्म विशेषण कहलाता है। उससे भिन्न व्यावर्तक होने वाला धर्म उपलक्षण कहलाता है। अर्थात्, व्यावृत्ति को अधिकरणता का अवच्छेदक न होकर भी जो व्यावृत्ति का जनक होता है वह धर्म उपलक्षण है।[८] अन्यूनानतिरिक्तवृत्तिधर्म अवच्छेदक होता है। अतः काक और जटा इन व्यावृत्तियों के क्रमशः अधिकरण देवदत्तगृह और तापसी में रहनेवाली अधिकरणता से अतिरिक्त स्थल में भी विद्यमान होने से वे उक्त अधिकरणताओं के अवच्छेदक नहीं है। अतः वे उपलक्षण हैं। उपलक्षण में व्यावृत्ति की अधिकरणता की नियामकता नहीं है, जबकि विशेषण में व्यावृत्ति के अधिकरणता की नियामकता होती है।

आचार्य गंगेश [९] ने विशेषण और उपलक्षण के विषय में होने वाले अनेक मत-मतान्तरों का खण्डन करते हुए स्व-मत से विशेषण और उपलक्षण का भेद प्रस्तुत किया है। उनके मतानुसार 'प्रतीत होने योग्य व्यावृत्ति की अधिकरणता का नियामक होते हुए जो (धर्म) व्यावर्तक है वह विशेषण होता है, तथा उससे भिन्न होते हुए जो (धर्म) व्यावर्तक हो वह उपलक्षण होता है।' अतः 'दण्डी पुरुषः' यहाँ दण्ड अदण्डी की व्यावृत्ति की अधिकरणता का अवच्छेदक होने से विशेषण है, जबकि काक गृह की व्यावृत्ति की अधिकरणता का अवच्छेदक न होने से उपलक्षण के रूप में व्यावर्तक है। दण्ड के न रहने पर कोई दण्डी नहीं हो सकता, परन्तु जटा के न रहने पर भी तपस्वी हो सकता है। यही विशेषण और उपलक्षण में भेद परिलक्षित होता है। विशेषण में रहने वाली प्रकारता को विशेषणता, तथा उपलक्षण में रहने वाली प्रकारता को उपलक्षणता कहते हैं।

प्रकारता पुनः अन्य दो प्रकार की मानी गयी है—निरवच्छिन्न और अन्य विशेषण से अविच्छन्न। जो प्रकारता किसी भी धर्म से नियमित नहीं होती है उसे निरवच्छिन्न प्रकारता कहते हैं।[१०] जैसे—'घटः' इस ज्ञान की जो घटत्व में प्रकारता है वह किसी अन्य धर्म से नियमित नहीं है। 'घटः' इस ज्ञान में घटत्व स्वरूपतः अर्थात् घटत्वत्व जैसे किसी अन्य धर्म को विशेषण के रूप में लिये बिना ही 'घट' इस ज्ञान का विषय होता है। ऐसी निरवच्छिन्न प्रकारता जाति-रूप धर्म या अखण्डोपधि-रूप धर्म में ही मानी जाती है। वह जाति तथा अखण्डोपाधि (द्रव्यत्व तथा भावत्व) से भिन्न अर्थात् सखण्डोपाधि-रूप धर्म में नहीं रहती है।

सावच्छिन्न (किसी धर्म से नियमित) प्रकारता वह है जो सखण्डोपाधि-रूप पदार्थ में रहती है। जैसे—घटयुक्त भूतल है' इस ज्ञान में भूतल इस विशेष्य के विशेषण के रूप में प्रतीत होने वाले घट में रहने वाली प्रकारता है। इस प्रतीति में घट का 'स्वरूपतः' प्रत्यय नहीं होता है। यहाँ घट घटत्व के रूप में प्रतीत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है। अतः यहाँ घट-रूप विशेषण में प्रतीत होने वाला घटत्व यह एक विशेषण होने से उक्त घट में रहने वाली विशेषणता (प्रकारता) घटत्व से नियमित होती है। इसलिये उस प्रकारता को सावच्छिन्न प्रकारता माना जाता है।

प्रकार में विशेषण के रूप में प्रतीत होने वाला धर्म प्रकारतावच्छेदक भी कहलाता है। प्रकार का विशेषण होने से उसमें प्रकारता भी है और वह प्रकारता को नियमित करने वाला होने से प्रकारता का अवच्छेदक भी है। अतः उसमें अवच्छेदकता भी है। प्रकारता और अवच्छेदकता एक ही स्थान में स्वीकार करने में कोई हानि नहीं है।

प्रकार में विशेषण के रूप में प्रतीत होने वाला धर्म प्रकारतावच्छेदक भी कहलाता है। प्रकार का विशेषण होने से उसमें प्रकारता भी है और वह प्रकारता को नियमित करने वाला होने से प्रकारता का अवच्छेदक भी है। अतः उसमें अवच्छेदकता भी है। प्रकारता और अवच्छेदकता एक ही स्थान में स्वीकार करने में कोई हानि नहीं है।

अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'घटवद्भूतलम्' इस ज्ञान की घट में रहने वाली प्रकारता को घटत्व से नियमित क्यों माना जाय? यदि न मानें तो क्या दोष है? इसका उत्तर यह है कि यदि 'घटवद्भूतलम्' इस ज्ञान की घट में रहने वाली प्रकारता को घटत्व से नियमित न मानें तो 'द्रव्यवद्भूतलं घटश्च' इस समूहालम्बन ज्ञान तथा 'घटवद्भूतलंद्रव्यश्च' इस ज्ञान में कोई भेद नहीं होगा, क्योंकि दोनों ही ज्ञानों में घटत्व तथा द्रव्यत्व घट में प्रकार के रूप में तथा घट भूतल के प्रकार के रूप में प्रतीत होता है। परन्तु घट में रहने वाली प्रकारता को घटत्व से नियमित मानने पर आसानी से प्रकारता की विलक्षणता के आधार पर दोनों ज्ञानों में भेद किया जा सकता है। क्योंकि प्रथम ज्ञान (द्रव्यवद्भूतलंघटश्च) की घट में रहने वाली प्रकारता द्रव्यत्व से नियमित होती है, जबकि द्वितीय ज्ञान 'घटवद्भूतलंघटश्च' की घट में रहने वाली प्रकारता घटत्व धर्म से नियमित होती है। इस प्रकार प्रकारताओं की भिन्नता के आधार पर दोनों ज्ञानों में होने वाले भेद की व्याख्या की जा सकती है।

इस सम्बन्ध में गदाधर का मत यह है कि घट में रहने वाली प्रकारता घटत्व से नियमित होती है इस कथन का तात्पर्य यह है कि घट में रहने वाली प्रकारता घटत्व में रहने वाली प्रकारता से निरूपित है।[11] इस प्रकार गदाधर दोनों प्रकारताओं में निरूप्य–निरूपक–भाव मानते हैं। प्रकारता और विशेष्यता में ही निरूप्य–निरूपक–भाव होता है, एक प्रकारता और दूसरी प्रकारता में निरूप्य–निरूपक–भाव नहीं होता है ऐसा कोई नियम नहीं है। 'घटवद्भूतलम्' इस ज्ञान की जो भूतल में रहनेवाली विशेष्यता से निरूपित जो घट में प्रकारता है वही घटत्व में रहने वाली प्रकारता से निरूपित विशेष्यता है। उन दोनों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभेद होने से प्रकारता और प्रकारता में भी निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है।

जो लोग एक ही वस्तु में रहने वाली प्रकारता और विशेष्यता में अभेद नहीं मानते वे 'घटवद्भूतलम्' इस ज्ञान की घट में रहने वाली प्रकारता को घटत्व में रहने वाली प्रकारता से निरूपित विशेष्यता से नियमित मानते हैं। उनके मत में एक ही वस्तु में रहने वाली प्रकारता और विशेष्यताओं में अवच्छेद्य-अवच्छेदक सम्बन्ध होता है। उक्त ज्ञान में भूतल में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित प्रकारता जो घट में है वहीं पर घटत्व में रहने वाली प्रकारता से निरूपित विशेष्यता है जो वहीं रहने वाली प्रकारता को नियमित (अवच्छिन्न) करती है। यह मत स्वीकार करने पर उक्त दोनों ज्ञानों में होने वाला भेद स्पष्ट हो जाता है। 'द्रव्यवद्भूतलंघटश्च' इस ज्ञान की घट में रहने वाली विशेष्यता किसी प्रकारता को नियमित नहीं करती है, जबकि 'घटवद्भूतलंद्रव्यश्च' इस ज्ञान की घट में रहने वाली प्रकारता उसी में रहने वाली घटत्व में रहने वाली प्रकारता से निरूपित विशेष्यता से नियमित (अवच्छिन्न) होती है। परन्तु यह मत समीचिन नहीं है यह पूर्व-लेख में दिखाया जा चुका है।

कुछ दूसरे नैयायिकों का मत है कि 'घटवद्भूतलम्' यह विशिष्ट-विशेषणक ज्ञान दो प्रकार का होता है – 'विशिष्ट वैशिष्ट्यविषयक ज्ञान' तथा 'विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणान्तरम्' इस रूप में होने वाला ज्ञान। पहले प्रकार के ज्ञान में घटत्व से युक्त घट का सम्बन्ध (वैशिष्ट्य) भूतल के साथ मालूम होता है, जबकि दूसरे प्रकार से होने वाले ज्ञान में भूतल पर विशेषण के रूप में घट और उस घट में विशेषणान्तर के रूप में घटत्व प्रतीत होता है। प्रथम तरीके से उत्पन्न ज्ञान में घटत्व प्रकार न होकर प्रकारता के अवच्छेदक के रूप में प्रतीत होता है, जबकि दूसरे तरीके से उत्पन्न ज्ञान में घटत्व प्रकारतात्मक विशेष्यता से निरूपित प्रकार के रूप में प्रतीत होता है। अतः उसमें प्रकारता ही है, प्रकारता की अवच्छदकता नहीं है।[१२]

प्रतियोगिता, अवच्छेदकता आदि के समान प्रकारता भी किसी न किसी सम्बन्ध से नियमित होती है। प्रकार जिस सम्बन्ध से अपने आश्रय में अभीष्ट होता है वह सम्बन्ध प्रकारतावच्छेदक सम्बन्ध कहलाता है। जैसे-'संयोगेन घटवद्भूतलम्' (भूतल संयोग सम्बन्ध से घट-युक्त है।) ऐसा कहने पर घट में रहने वाली प्रकारता संयोग सम्बन्ध से निरूपित होती है। प्रकारता ही सम्बन्ध से नियमित होती है। धर्मि में रहने वाली विशेष्यता की अनुयोगिता, अधिकरणता, पक्षता आदि के समान किसी भी सम्बन्ध से नियमित नहीं होती है। विशेष्य, अधिकरण आदि सापेक्ष पदार्थ हैं। उनका सम्बन्ध कहीं प्रतीत नहीं होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी प्रतीति में जो सम्बन्ध का ज्ञान होता है वह प्रकार के सम्बन्ध का ज्ञान होता है। अतः प्रकारता सम्बन्ध से नियमित होती है, विशेष्यता नहीं होती। विशेष्यता धर्म से तो नियमित होती है, परन्तु सम्बन्ध से नहीं होती। इसका कारण आगे स्पष्ट किया जायगा।

प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव और कार्य-कारण-भाव की निर्दुष्टता को सिद्ध करने के लिये प्रतियोगिता की तरह ही प्रकारता को भी सम्बन्ध से नियमित मानना चाहिये यह बात पूर्व-लेखों में स्पष्ट की जा चुकी है।

यद्यपि प्रकार में विशेषण के रूप में प्रतीत होने वाला धर्म प्रकारतावच्छेदक तथा प्रकार (विशेषण) दोनों भी होता है तथापि उसमें रहने वाली प्रकारता मुख्य प्रकारता नहीं होती। जो प्रकारता अवच्छेदकता-रूप नहीं होती उसे ही मुख्य प्रकारता कहते हैं। उसी प्रकार प्रकारता-रूप न होने वाली विशेष्यता को मुख्य विशेष्यता कहते हैं। उसके विषय में अग्रिम लेख में विवेचन किया जायगा। प्रकारता के समान ही 'प्रकारतावच्छेदकता' भी कहीं किसी अन्य धर्म से नियमित होती है तो कभी किसी भी धर्म से नियमित नहीं होती है। (याने निरवच्छिन्न होती है)। जैसे-'रूपत्वव्याप्य-जातिमद्वान् घटः' यहाँ पर रूपत्वव्याप्यजाति (नीलत्व, पीतत्व) आदि में रहने वाली प्रकारतावच्छेदकता जातित्व धर्म से नियमित होती है। जाति का उल्लेख करने पर जाति स्वरूपतः प्रकार न हो कर जातित्व धर्म के द्वारा प्रकार होती है। उसी प्रकार 'घटवद्भूतलम्' ऐसा ज्ञान होने पर घटत्व में प्रतीत होने वाली प्रकारतावच्छेदकता किसी भी अन्य धर्म से नियमित नहीं होती है। क्योंकि यहाँ घटत्व का उल्लेख न होने से घटत्व घटत्व के रूप में ही प्रतीत होता है, घटत्वत्व के द्वारा नहीं।

प्रकारता के सम्बन्ध में एक और उल्लेखनीय बात यह है कि प्रकारता कभी धर्म से नियमित होती है तो कभी धर्म से नियमित नहीं होती। अर्थात्, वहाँ वह निरवच्छिन्न होती है। परन्तु वह सदा-सर्वदा किसी-न-किसी सम्बन्ध से नियमित होती है। इसलिये प्रकारता को अन्य विषयताओं से भिन्न सिद्ध करने के लिये उसको संसर्ग (सम्बन्ध) से अवच्छिन्न विषयता के रूप में परिभाषित किया जाता है।

प्रकारता के समान ही विशेष्यता, साध्यता, विधेयता, उद्देश्यता, कोटिता आदि अन्य अनेक भेद होते हैं जिनका विवेचन अग्रिम लेखों में किया जायगा।

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे - ४११००७

- बलिराम शुक्ल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टिप्पणियाँ

१. जानकीनाथ भट्टाचार्य; प्रकारता चायं घट इत्यादि ज्ञाने विशेषणस्य घटत्वादेर्विशेषणत्वापरनामा विषयताविशेषः। न्यायसिद्धान्तमञ्जर्यां

२. (क) वहीं; अन्ये तु भासमानवैशिष्टय प्रतियोगित्वं प्रकारत्वम्
(ख) गदाधर; यत्तु भासमानवैशिष्टयप्रतियोगित्वं प्रकारत्वं तादृश वैशिष्टयानुयोगित्वं च विशेष्यत्वं न विषयतारूपमिति। विषयतावादे

३. वहीं; तदसत्; उक्तं समूहालम्बनस्यापि घटप्रतियोगिक वैशिष्टय• विषयकतया घटप्रकारत्वापत्तेः संयोगादिरूपव्यधिकरणसम्बन्धेन द्रव्यत्वादिभ्रमस्य द्रव्यत्वादिप्रकारत्वानुपपत्तेः, भूतले घट इत्यादि ज्ञानस्य भूतलाद्यनुयोगिक संयोगादिविषयकतया भूतलत्वादि विशेष्यकत्वापत्तेः; गुणादि संयोगादि सम्बन्धेन घटादि भ्रमस्य गुणादिविषयकत्वानुपपत्तेश्च।

४. यादवाचार्य; दण्डपुरुषसंयोगप्रतियोगित्वानुयोगित्वादिति समूहालम्बनस्य दण्डीपुरुष इति विशिष्टज्ञानस्य च भेदो न स्यात्। न्यायसिद्धान्तमञ्जर्याः व्याख्यायाम्

५. जानकीनाथ भट्टाचार्य; पदार्थान्तरमित्येकदेशिनः। न्याय सिध्दान्तमञ्जर्याम्

६. तत्रैव; विशेषणतोपलक्षणताभेदेन प्रकारता द्विविधा।

७. गदाधर; तत्र विद्यमानं व्यावर्तकं सद्विशेषणम्, अविद्यमानमपि व्यावर्तकं सदुपलक्षणम्। इदं तु बोध्यम्–प्रकृत्यर्थस्य निरुक्त वैशिष्टयं यदि वर्तमानतया प्रत्यायते तदैव विशेषणत्वेन यदि चावर्तमानत्वेन तदा उपलक्षणत्वेन व्यपदिश्यते। शब्दशक्ति प्रकाशिकायां कारकप्रकरणे

८. यादवाचार्य; तस्माद् व्यावृत्यधिकरणतावच्छेदकत्वे सति व्यावृत्ति जनकं विशेषणम्, अवच्छेदत्वं चान्यूनानतिरिक्तत्ववृत्तित्वम्। व्यावृत्यधिकरणतानवच्छेदकत्वे सति व्यावृत्तिजनकमुपलक्षणम्। उपलक्षणस्य व्यावृत्याधिकरणतावच्छेदकत्वाभावादिति संक्षेपः। न्यायसिध्दान्तमञ्जर्याः व्याख्यायाम्

९. गंगेशोपाध्याय; एवं च प्रत्यायव्यावृत्यधिकरणतावच्छेदकत्वे सति व्यावर्तकं विशेषणम्, तदन्यव्यावर्तकमुपलक्षणम्। तत्त्वचिन्तामणि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१०. गदाधर; प्रकारता च द्विविधा – निरवच्छिन्ना विशेषणान्तरावच्छिन्ना च।

११. वहीं; वस्तुतस्तु घटत्वादिनिष्ठ प्रकारतानिरूपितत्वमेव घटादि प्रकारतायां घटत्वावच्छिन्नत्वम्।

१२. वहीं; परे तु घटवदित्याकारकं विशिष्टविशेषणकं ज्ञानं द्विविधम् – विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिबोधात्मकं, केवले विशेष्ये विशेषणं। तत्र च विशेषणान्तरमितिरीत्या घटत्वाद्यवगाहि च।

१३. नीलकण्ठ; संसर्गावच्छिन्नविषयतेति यावत्। तर्कसंग्रहस्य **नीलकण्ठी** टीकायाम्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिक्रिया

परामर्श (हिंदी) पत्रिका के सितम्बर १९९० के अंक में प्रकाशित डॉ. सत्यपाल गौतम का लेख 'भारतीय संदर्भ में धर्म–निरपेक्षता का आदर्श : एक विवेचन' देखने को मिला। जैसा कि लेख के शीर्षक से ही स्पष्ट है भारतीय सन्दर्भ में धर्मनिरपेक्षता एक आदर्श बन कर रह गया है। आदर्श वह है जिसकी प्राप्ति के लिए हम प्रयत्न कर सकते हैं, पर जिसे प्राप्त कर नहीं सकते। ऐसा लगता है कि लेखक इस तथ्य को पहले से स्वीकार कर चुके हैं कि भारतीय सन्दर्भ में धर्मनिरपेक्षता के आदर्श की व्यावहारिक परिणति संभव नहीं (पृष्ठ २४९)। अपने विचार के पुष्टीकरण के क्रम में लेखक ने इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि भारत में विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच परस्पर संघर्ष चलता रहा है (पृ. २४९)। धर्म व्यक्ति की आत्मनिष्ठ अभिव्यक्ति है। प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म के प्रति प्रतिबद्ध होता है। अपने धर्म की मान्यताओं और विशिष्टताओं को प्रत्येक व्यक्ति स्थापित करना चाहता है और अन्य धर्मों की मान्यताओं और विशिष्टताओं को तिरस्कृत करना चाहता है। ऐसी स्थिति में अन्य धर्मों के साथ व्यक्ति न्याय नहीं कर पाता। व्यक्ति अपने धर्म की स्थापनाओं और मान्यताओं को इतना पवित्र मानता है कि उनका अस्वीकरण या उन के सम्बन्ध में संदेह प्रकटीकरण नितान्त अशुभ कर्म समझा जाता है (पृष्ठ २६९)।

उपर्युक्त परिस्थितियों को धर्मनिरपेक्षता के लिए अनुकूल नहीं समझा जाता। धर्मनिरपेक्षता से हमारा तात्पर्य धर्म के प्रति उदासीनता मात्र नहीं बल्कि अन्य धर्मों के प्रति आदर–भाव रखना भी है। परन्तु लेखक ने इस लेख में धर्म के नाम पर हो रहे अनेकानेक अत्याचारों, अन्यायों और दमनों की चर्चा की है। लेखक के इस दृष्टिकोण में सूक्ष्म तकनीकी अशुद्धि है जो धर्म और धर्मवाद (Religion and Religionism) के बीच भेद को न समझने के कारण उत्पन्न हुई है। 'धर्म' शब्द 'धृ' धातु से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ होता है धारण करना। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जो लोक को धारण करता है वही धर्म है। इस प्रकार धर्म जीवन–तत्त्व है। लकडी में लिखने की शक्ति आ जाती है तब वह लेखनी का रूप ले लेती है। लेखन–शक्ति ही लेखनी का धर्म है। सामाजिक मूल्य समाज का धर्म है, जिसके अभाव में वह अनियंत्रित जंगल में परिवर्तित हो जाता है। विवेकशीलता मनुष्य का धर्म है, पशु का नहीं। विवेकशीलता ही वह विभेदक गुण है जिसके आधार पर मनुष्य और पशु में अन्तर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया जाता है। सुविचारित आचरण करना ही मनुष्य की मनुष्यता का सूचक है। जो व्यक्ति धर्म को इस अर्थ में स्वीकार करता है वह स्वयं तो विकसित होता ही है, अन्य लोगों के लिए भी विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि धर्म पर धर्म–विचारक के दृष्टिकोण से नहीं बल्कि धर्म–दार्शनिक के दृष्टिकोण से विचार किया जाय। धर्म–विचारक अपने धर्म का उपदेशक होता है और इसीलिए उसके विचार में बौद्धिकता का अभाव पाया जाता है। अपने धर्म की मान्यताओं को पूर्ण सत्य के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए धर्म–विचारक अपने विचार को बौद्धिकता का वह अंश नहीं दे पाता जो उसे युक्तिसंगतता प्रदान करने में सहायक हो। धर्म–विचारक का दृष्टिकोण भावना–प्रधान होता है जिसमें बाह्य आडम्बरों, रीति–रिवाजों और कर्मकाण्डों को विशेष महत्ता दी जाती है। इसके विपरीत धर्म–दार्शनिक धार्मिक मान्यताओं और विशिष्टताओं को बौध्दिकता प्रदान करता है। दर्शन को ज्ञान के प्रति प्रेम कहा गया है और धर्म के साथ जब इसे युक्त किया जाता है तो धर्म में भी ज्ञान का वह अंश जाता है जो अभी तक उसमें अनुपस्थित था।

धर्मवाद वास्तव में सम्प्रदायगत धर्म है। यह लोगों में वैमनस्य, असहनशीलता और अपने धर्म की श्रेष्ठता स्थापन के लिए धर्म–परिवर्तन का समर्थन करता है। इस प्रकार धर्मवाद मानवीय मूल्यों की हत्या करता है, जब कि धर्म मानवीय सद्‌गुणों को प्रतिष्ठित करता है। यदि धर्मवाद को धर्म के अनुशासन में विकसित किया जाय तो सभी सम्प्रदायगत धर्म लोगों में परस्पर सद्‌भाव जागृत करने में सफल हो सकते हैं। वास्तव में धर्मवाद स्वयं साध्य न हो कर धर्म या सत्य के प्रकाशन का साधन है, ऐसा समझने से ही धर्मों के बीच समभाव उत्पन्न हो सकता है। अतः लेखक ने जिन समस्याओं को उपस्थित किया है वह धर्म की समस्यायें नहीं बल्कि धर्मवाद की समस्यायें हैं। धर्मवाद से जो समस्यायें उत्पन्न होती हैं उनका समाधान धर्म के सही अर्थ को ग्रहण करने में है, न कि धर्म के विकृत अर्थ को बार–बार प्रचारित करने में।

भारतीय संविधान में धर्मनिरपेक्षता को स्थान दिया जाना एक व्यावहारिक बाध्यता थी। हमारे संविधान–निर्माताओं ने तत्कालीन परिस्थिति और भविष्य की संभावनाओं को देखते हुए धर्मनिरपेक्षता को महत्ता प्रदान करना अनिवार्य समझा। हमारा समाज बहुजातिय है। हमारे समाज में भिन्न–भिन्न जाति, वर्ग और सम्प्रदाय के लोग हैं। इनकी अपनी–अपनी मान्यताएं और परंपराएं हैं। इनमें वस्त्र, खान–पान, आचार–व्यवहार, धार्मिक मान्यताएं और मूल्यों को ले कर पर्याप्त विभिन्नता है। इन सम्प्रदायों में भी अनेक प्रकार की आन्तरिक विविधता के परिणामस्वरूप इतने विवाद और असहमतियां हैं कि इनको अपने आप में सम्पूर्णतया संगठित, अखंड, धार्मिक इकाईयां मानना भ्रामक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगा । यदि मुसलमानों में सुन्नी और शिया, ईसाइयों में सीरियन, कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेण्ट इत्यादि मतों में तीव्र मतभेद हैं तो हिन्दुओं में भी शैवों, वैष्णवों, सनातनों, आर्यसमाजियों, दुर्गा के उपासकों तथा अन्य मतानुयाइयों में कई प्रकार के विवाद हैं (पृष्ठ २६०) । इस प्रसंग में लेखक का यह प्रश्न उठाना बिल्कुल स्वाभाविक है कि यदि इन सभी धर्मों, सम्प्रदायों में इतने आंतरिक तथा पारस्परिक मतभेद हैं तो इनका हृदय अथवा मर्म एक कैसे हो सकता है ? किसी भी संगठित संस्थागत धर्म की परम्परा में पले व्यक्ति के लिए अपनी आस्थाओं के विरोधी मान्यताओं का आदर करना तो दूर, आपातत: स्वीकार करना भी असंभव है (पृ. २६२) । यही हमारे अन्दर अन्य धर्मों के प्रति असहनशीलता की भावना पैदा करता है । हमारे अन्दर जो धार्मिक असहनशीलता की भावना है उसके मूल में राजनीति का प्रवेश है । यदि मानव जाति के इतिहास को देखा जाय तो यह स्पष्ट होता है कि सम्पूर्ण मानवीय इतिहास धर्म और राजनीति के संघर्ष की कहानी है । राजनीति के द्वारा व्यक्ति अपने अहं की तुष्टि करता है, जबकि धर्म का अर्थ है अहं से मुक्ति । इस प्रकार राजनीति और धर्म दो भिन्न धरातल पर अवस्थित हैं । इस बात के अनेक उदाहरण हैं कि जब-जब धर्म का राजनीतिकरण किया गया है, मनुष्य दिशाभ्रमित हुआ है । आज राम जन्मभूमि–बाबरी मस्जिद विवाद कुछ इसी प्रकार रूप लेता जा रहा है । हम अपनी तथाकथित धार्मिक आस्थाओं के प्रति अन्धविश्वास करने लगे हैं और इसी अन्धविश्वास• पूर्णता का कारण है कि धार्मिक विषयों को हम अपनी मर्यादा का विषय बना लेते हैं । हमारी इस मर्यादा का कोई यौक्तिक आधार नहीं । हम न जाने कब तक अपने धर्म की तथाकथित श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए अन्य धर्मों को तिरस्कृत करते रहेंगे । मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि कोई भी धर्म साम्प्रदायिकता, कट्टरता और असहनशीलता का उपदेश नहीं देता । यह सचमुच दुर्भाग्य की बात है कि हमें न तो अपने धार्मिक ग्रन्थों में वर्णित मान्यताओं और दृष्टिकोणों की सही जानकारी है, और न अन्य धर्मों के बारे में ही हमें कुछ निश्चित जानकारी है । धर्म के सम्बन्ध में हम बिल्कुल अज्ञान की स्थिति में हैं । आज हमारे पंडित-पुरोहित, मुल्ला और पादरी जो कहते हैं उसे ही सही मान कर हम तदनुसार क्रिया करते हैं । धर्म के प्रति हमारी भावनात्मक प्रतिबद्धता और अज्ञानता का धर्मपुरोहितों और राजनीतिज्ञों ने नाजायज फायदा उठाया है । आज हमारे राजनीतिज्ञों का एक मात्र उद्देश्य किसी प्रकार से पदासीन होकर अपने वर्ग-विशेष के अन्यायों को भी न्याय रूप देना रह गया है । चुनाव में पराजय की दुष्कल्पना उन्हें अपने निजी हितों के परे कुछ सोचने ही नहीं देती । अपने स्वार्थपूर्ति के हेतु ये लोग जनमानस में धार्मिक उन्माद फैलाते हैं और अपने को जनसेवक कहलाने में गर्व महसूस करते हैं । ऐसी मानसिकता के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण ही आज धर्म व्यक्ति के लिए नहीं बल्कि व्यक्ति धर्म के लिए बन कर रह गया है। आज स्थिति इतनी बिगड़ चुकी है कि अन्य धर्म के लोग हमारे धर्म के दोषों को उद्‌घाटित करते हैं तो इसे उनका अक्षम्य अपराध माना जाता है और उनके प्रति हमारा दृष्टिकोण प्रतिशोधात्मक हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अपने धर्म की आलोचना भी हमें खुद ही करनी है और धर्म की आलोचना हम कर नहीं सकते क्योंकि अपने धर्म के प्रति हमारी धार्मिक प्रतिबद्धता है।

सत्यपाल जी के लेख में धर्मनिरपेक्षता के भविष्य के प्रति निराशा की झलक देखने को मिलती है। लेखक ने धर्म में राजनीति के प्रवेश का खुल कर विरोध किया है और उन राजनीतिक दलों और सम्प्रदायों को दंडित करने की अनुदेशना दी है (पृ. २२७)। लेखक ने लेख के अंत में जो सुझाव दिया है उसकी व्यावहारिकता संदिग्ध है। व्यक्ति अपनी धार्मिक मान्यताओं और विश्वासों को सहजता से त्याग करने की स्थिति में नहीं होता। धर्म की जो मुख्य समस्या है उसके मूल में परात्पर सत्ता में अन्ध–विश्वास है। इस अन्ध–विश्वास से जब तक हम मुक्त न होंगे तब तक समस्या का निदान नजर नहीं आयेगा। अतः मेरे विचार से धर्म से परात्परता का भाव निराकृत कर उसमें मानवता का भाव प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए ताकि हम धर्म उसी को मानें जो मानवीय अस्तित्व और उसके मूल्यों की रक्षा करे। धर्म को मानव–केन्द्रित होना चाहिए, न कि ईश्वर केंद्रित। मैं धर्म–निरपेक्षता के भविष्य के प्रति निराश नहीं बल्कि निराशा मुझे धर्म–निरपेक्षता के संदर्भ में चर्चित कुछ परम्परागत सीमाओं से है। धर्म–निरपेक्षता को यदि हम अपने समाज में उचित स्थान दिलाना चाहते हैं तो हमें उन परम्पराओं और मान्यताओं से मुक्त होना पड़ेगा, जिनके कारण हमारे समाज में अनेक कुरीतियाँ वर्तमान हैं। अतः मैं इस विचार का समर्थन करूंगा कि धर्म–निरपेक्षता को समाज में स्थान दिया जाना एक व्यावहारिक अनिवार्यता है और इसे प्राप्त करने के लिए इसके मार्ग में बाधक कुछ तात्त्विक मान्यताओं को हटाना हमारा कर्तव्य हो जाता है। मैं समझता हूं लेखक ने लेख में जिन समस्याओं के समाधान में परेशानी महसूस की है उसका बहुत अंश में समाधान धर्म से तात्त्विक चिन्तन को हटा कर उसे मानवीय धरातल पर अवस्थित कराने में ही है।

दर्शनशास्त्र विभाग,
एस्. एस्. सिन्हा कालेज,
(मगध विश्वविद्यालय सेवा)
जहानाबाद – ८०४४१७
(बिहार)

विजय कुमार सिन्हा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रन्थ-समीक्षा

चौधरी, (डॉ.) धनराज; ब्रह्माण्ड का रहस्य, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण, १९८९, पृ ८४; मूल्य : रु ५०।-(स.)

हिन्दी में वैज्ञानिक विषयों से सम्बन्धित ऐसी पुस्तकों का अभाव है जो एक सामान्य पाठक को उस विषय का ज्ञान करा सकें और साथ ही, विषय के तकनीकी पक्ष को सुरक्षित रख सकें। जाहिर है यह काम वही कर सकता है जो वैज्ञानिक होने के साथ ही साथ रचनात्मक हो। भौतिकीविद्, कथाकार और कला के मर्मज्ञ डॉ. धनराज चौधरी एक ऐसे ही लेखक हैं जिन्होंने अपने तरीके से यह कार्य किया है। डॉ. धनराज जी के अभी तक दो उपन्यास और दो कहानी संग्रह आ चुके हैं और इसी क्रम में उनकी नवीनतम कृति **ब्रह्मांड का रहस्य** उनके कथाकार रूप का विलोम न हो कर उसका पूरक ही है। इसी सन्दर्भ में एक बात यह है कि लेखक की कथा-भाषा अपेक्षाकृत अधिक अटपटी (दुरूह नहीं) है; इसका कारण उनकी भाषिक संरचना है। यहाँ पर भी विज्ञान-बोध का प्रभाव है जो अक्सर उनके रूपाकारों और शब्दों के प्रयोग में देखा जा सकता है। (देखें - राजस्थान साहित्य अकादमी के द्वारा प्रस्तुत साहित्यकार प्रस्तुती के अन्तर्गत डॉ. चौधरी के कृतित्व पर मेरा लेख 'एक वैज्ञानिक की कथा-यात्रा'।) जहाँ तक **ब्रह्माण्ड का रहस्य** की भाषा का प्रश्न है, वह सुबोध, तार्किक और वाक्य-विन्यास की दृष्टि से अधिक ग्राह्य है। भाषा के ये दो स्तर लेखक के उस व्यक्तित्व को संकेतित करते हैं जो एक ओर रचनाकार है, तो दूसरी ओर वैज्ञानिक। यही कारण है कि प्रस्तुत कृति इन दोनों स्वरों को एक प्रकार से सन्तुलित और समन्वित करती है। एक उदाहरण लें जिसमें द्रव्यमान का मान और तारा बनने के आपसी सम्बन्ध को सरलता से समझाया गया है। यथा-'एक जिज्ञासा स्वाभाविक है कि द्रव्यमान का मान कम-से-कम कितना होना चाहिये जब कि कोई वस्तु (वस्तु के स्थान पर पदार्थ या द्रव्य का प्रयोग अधिक समीचिन होता।) तारा बन जाय। गणना से हमें यह मान कम-से-कम सूर्य का ८ प्रतिशत द्रव्यमान प्राप्त होता है। अर्थात्, यदि कोई वस्तु, जिसका द्रव्यमान सूर्य के ८ प्रतिशत द्रव्यमान से कम होगा, वह कभी तारा नहीं बन सकेगा। ऐसी वस्तु में ऊष्मा-नाभिकी-प्रक्रिया स्वतःही निरन्तर नहीं रह सकेगी जो कि सूर्य होने की या तारा होने की आवश्यक मांग है।' (पृ. २१) पुस्तक में ऐसे उदाहरण अनेक हैं जो तथ्य और गणना के आपसी रिश्ते को प्रकट करते हैं और साथ ही मुक्तिबोध के इस कथन को भी साकार करते हैं कि शुद्ध तार्किक भावों और तथ्यों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी एक रोमान्स होता है। आज की वैज्ञानिक प्रगति क्या एक ऐसा रोमान्स नहीं है जो तथ्याश्रित है।

पुस्तक से गुजरते हुए ब्रह्माण्ड की संरचना और उसके घटकों के आपसी सम्बन्ध का एक ऐसा बृहद् चित्र क्रमशः उद्घाटित होता है जो ब्रह्माण्ड की संरचना और रहस्य को एक तार्किक आधार देता है। बृहद् विस्फोट से ले कर ब्रह्माण्ड के भिन्न घटकों (जैसे, मन्दाकिनियाँ, तारे, सूर्य, सौरमण्डल के घटक, चन्द्रमा, बुध, मंगल, तथा भीमकाय ग्रह आदि) का अलग–अलग विवेचन, प्रत्येक घटक की संरचना और रहस्य की अधुनातम जानकारी देता है और साथ ही आवश्यकतानुसार ऐसे चित्रों और रेखांकनों को भी प्रस्तुत करता है जो विषय को अधिक बोध–गम्य बना देते हैं। उदाहरणस्वरूप आकाशगंगा, मन्दाकिनी, ब्रह्माण्ड का माप, कृष्णविवर का स्वरूप, सूर्य–किरीट आदि के चित्र ब्रह्माण्ड के घटकों की संरचना को स्पष्ट करते हैं और साथ ही पुस्तक के विवेचन को अधिक पारदर्शक बना देते हैं। पुस्तक का पहला परिच्छेद 'हम ही हम या और भी कोई ?' ब्रह्माण्ड में जीवन की सम्भावना (?) को प्रस्तुत करता है कि पृथ्वी अतिरिक्त किसी भी अन्य ग्रह पर जीवधारी हैं वा नहीं ? वाइकिंग (१९७६–७८) से प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर जो आशा थी वह भी पृष्ठभूमि में चली गयी। हमारी जैविकी एक प्रकार की है, अन्य प्रकार की जैविकी भी संभव है जिसके बारे में हमें पता नहीं। (पृ ११) असल में, यह प्रकरण अन्त में होना चाहिये था, क्योंकि बृहद् विस्फोट के बाद ही जीवन और रसायनों का मिला रूप विकसित होता है, और तभी ब्रह्माण्ड में जैविकी के रूपों पर चर्चा की जानी चाहिये। मेरे विचार से यह एक तार्किक क्रम होता।

इस पुस्तक का प्रत्येक अध्याय महत्त्वपूर्ण है क्योंकि ब्रह्माण्ड के घटकों और उनके अन्तःसंबंधों का जो समग्र चित्र उभर कर आता है, वह इन्हीं के आधार पर निर्मित होता है। लेखक ने इस आधार का पूरा विवेचन किया है। लेकिन अन्त में एक ऐसा अध्याय भी अपेक्षित था जो निष्कर्ष रूप में ब्रह्माण्ड की संरचना एवं भविष्य के बारे में विचार प्रस्तुत करता। वैसे कहीं कहीं पर लेखक ने इसकी ओर संकेत किया है लेकिन उन्हें एक स्थल पर लाना आवश्यक था। इसी के साथ भारतीय ज्योतिष और गणित की उपपत्तियों की भी छानबीन जरूरी थी जिससे यह प्रकट होता कि आधुनिक विज्ञान और हमारी परम्परा में क्या कोई साम्य है या नहीं ? एक वैज्ञानिक के द्वारा ऐसा कार्य सत्य के सही परिप्रेक्ष्य को उद्घाटित करता। उदाहरण के तौर पर एक बात की चर्चा करना व्यर्थ न होगा। भारतीय एवं पूर्वीय विचारों में हिरण्यगर्भ एक ऐसा आदिअण्ड (जिसे यूरोबोरस भी कहते हैं) जो काल के एक विशेष बिन्दु पर अतीत में विस्फोटित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है, और उसी से क्रमशः काल पुरुष (ब्रह्माण्ड रचना) और इतिहास-पुरुष (मानवीय धरती का इतिहास) का प्रादुर्भाव और विकास होता है। क्या इस तथ्य को हम नितान्त कल्पना कह सकते हैं? विज्ञान में बृहद् विस्फोट (पुस्तक का द्वितीय प्रकरण) का सिद्धान्त मान्य है, जिसका संकेत भारतीय ज्योतिष और तत्त्वमीमासीय ग्रन्थों में सुरक्षित है। अनन्त ब्रह्माण्डों की रचना कालपुरुष का रूप है और ब्रह्माण्ड की जैव-सृष्टि इतिहास-पुरुष की क्रिया है। एक अन्य आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि कहीं-कहीं पर आज की कालगणना वैदिक काल-गणना के इतनी निकट है कि आश्चर्य होता है कि ऋषि-प्रज्ञा की अन्तर्दृष्टि क्या थी जब कि उस समय आज के उपकरणों का अभाव था। उदाहरण स्वरूप आदि अण्ड (हिरण्यगर्भ) का रचना काल १०-१२ अरब वर्ष माना गया है जो आधुनिक वैज्ञानिक गणना (१० अरब) के काफी निकट है। इसी प्रकार सूर्य का जन्म छः अरब सत्ताईस करोड़ वर्ष के पूर्व माना गया था जो आधुनिक गणित के अनुसार ६-७ अरब वर्ष के मध्य में स्वीकार किया गया है। यहाँ पर मैं इन तथ्यों को श्री. वासुदेव पोद्दार के द्वारा लिखी महत्वपूर्ण पुस्तक काल-यात्रा से दे रहा हूँ जो ऋषि-प्रज्ञा के विज्ञान-घन-चिन्तन की परिचायक है। कहने का तात्पर्य है कि डॉ. धनराज चौधरी यदि इन स्रोतों का भी उपयोग करते तो पुस्तक अधिक उपयुक्त और ज्ञानवेधक होती। यह एक सुझाव मात्र है; कह नहीं सकता कि लेखक इसे किस रूप में ग्रहण करेंगे।

इस पुस्तक में मुझे तीन अध्याय विशेष महत्त्व के लगे। वे ब्रह्माण्ड की उत्पति और संरचना-घटकों की विस्तृत जानकारी देते हैं। 'बृहद्विस्फोट' और 'मन्दाकिनियाँ' नामक अध्यायों में क्वासर का सुन्दर विवेचन है और साथ ही मन्दाकिनियों के स्वरूप और प्रकारों (सर्पाकार और दीर्घवृत्ताकार) का भी। लेखक ने क्वासर के केन्द्र में बृहद् कृष्णविवर के होने की सम्भावना को माना है जो ऊर्जास्रोत है - करोड़ों सूर्यों के द्रव्यमान से भी अधिक (पृ. २३)। एक आश्चर्यजनक जानकारी यह भी है कि मन्दाकिनियों में १० प्रतिशत पदार्थ अदीप्त प्रकार का है। अर्थात्, दिक् में अधिकांश पदार्थ अदृश्य प्रकार का है। आकाश-गंगा एक पतली वृत्ताकार सी चकती है। इसी संदर्भ में 'तारे' नामक अध्याय भी महत्त्वपूर्ण है जिसके अन्तर्गत सूर्य (तारा), भीमकाय तारे (सुपर जैंट, लाल सुपर जैंट, श्वेत बौने तारे,) तारकीय ऊर्जा, न्यूट्रान तारे, पल्सार और कृष्णविवर का विवेचन इस प्रकार किया गया है कि इन भिन्न तारों की स्वरूप-भिन्नता पाठक को स्पष्ट हो जाती है। यहाँ पर मैंने मात्र संकेत किया है जो यह स्पष्ट करता है कि पुस्तक ब्रह्माण्ड की संरचना को बखूबी प्रस्तुत करती है।

समग्र रूप में, डॉ. धनराज चौधरी की यह पुस्तक हिन्दी में एक ऐसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तक है जिसे पैपरबैक में निकालना चाहिये जिससे वह अधिक से अधिक पाठकों तक पहुँच सके। मुझे आशा है डॉ चौधरी आगे ऐसे ही विषयों पर लिख कर हमारे ज्ञान का विस्तार करेंगे। पंचशील प्रकाशन ने ऐसी पुस्तक का प्रकाशन कर हिन्दी जगत् की एक बडी सेवा की है, और मुझे आशा है कि वह आगे भी ऐसे वैज्ञानिक प्रकाशनों में पहल करता रहेगा।

५ झ। १५ जवाहर नगर
जयपुर–३०२००४
(राजस्थान)

वीरेन्द्र सिंह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्वरंग की व्याप्ति और पाठ्ययोग

परिणत-प्रज्ञ भारतीय-चिन्तक तथाकथित 'मुक्तचिन्तन' में नहीं तत्त्व की अपरोक्षानुभूति पर समाधृत लक्ष्यबद्ध चिन्तन में आस्था रखते हैं – इस प्रकार उनका व्यवहार, परमार्थ और कला या काव्य सम्बन्धी समस्त चिन्तन अन्धे का नहीं – प्रत्यक्षदर्शी का है। इसीलिए यहां " अन्धेनैव नीयमानो यथान्धः" की गर्हात्मक उक्ति प्रचलित है। हमारा लक्ष्य है – अपने को ही पुनः पाना – अस्मिता की उपलब्धि। भारत का प्रतिनिधि और परिणत चिन्तन इसी स्व-भाव को केन्द्र बना कर चला है। स्व-भाव नित्य, निरतिशय तथा आनन्द-स्वरूप है– इसीलिए उपनिषद् 'रसो वै सः' का ऊर्ध्वबाहु उद्घोष करती है। भारतीय कला या काव्य चिन्तन में 'रस' को जो सर्वातिशायी महत्त्व मिला है – वह इसी लक्ष्यबद्ध चिन्तन सरणि के कारण। इस लक्ष्य से बद्ध हमारा सारा व्यापार 'यज्ञ' है – निगूढ़ देवात्म शक्ति के प्रति सर्वस्व का विसर्जन है। इसी चिन्तन सरणि से चलने वाले महाकवि कालिदास ने नाट्य को चाक्षुष 'यज्ञ' ही कहा है – जहां समष्टि एकात्म होकर 'स्व-भाव' की अपरोक्षानुभूति करती है। श्रव्य की अपेक्षा यह नाट्य में सहज सम्भव होता है, इसीलिए नाटचशाला रंग या रंजनस्थली कही जाती है। इसी रंग में नाट्यवस्तु की प्रस्तुति से पूर्व कुछ औपचारिकताएं विहित हैं – जिन्हें हम 'पूर्वरंग' की संज्ञा देते हैं। इसके अंगों का सर्वप्रथम द्विधा विभाजन किया गया है – अन्तर्यवनिकासंस्थ और बहिर्यवनिकासंस्थ। बहिर्यवनिकासंस्थ अंग भी द्विधा विभाजित है – तन्त्रीभाण्ड समायोग और पाठ्ययोग। बहिर्यवनिका-गत गानवाद्य सह कृत नृत्य और पाठ्य या वाचिका में से पाठ्य के अन्तर्गत – (क) त्रिगत, (ख) नान्दी और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ग) प्ररोचना का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र में पूर्वरंग अपने १९ अंगों के साथ 'प्ररोचना' पर्यन्त व्याप्ति रखता है। प्रश्न यह है कि पूर्वरंग की व्याप्ति 'प्ररोचना' पर्यन्त ही है – अथवा आगे तक इसका विस्तार है।

पहली समस्या है – व्याप्ति की। नाट्यशास्त्रानुरोधी दशरूपक में कहा गया है – पूर्वरंगं विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते।

प्रविश्य तद्वदपर: काव्यमास्थापयेन्नट: ।।

भावप्रकाशन, भावप्रकाशिका तथा अभिज्ञानशाकुन्तल की राघव प्रणीत टोका में बाईस अंगों का उल्लेख है। क्या अतिरिक्त तीन का अन्तर्भाव नाट्यशास्त्र प्रोक्त उन्नीस अगों में है या यह कोई भिन्न परम्परा है? डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी की धारणा है कि वास्तव में यह उतरांचल और दक्षिणांचल की दो विभिन्न परम्पराएं हैं। दक्षिणांचल २२ अंगों की बात करता है और उतरांचल १९। वैसे बहिर्यवनिका का प्रथम अंग है – गीतविधि। यह 'वर्धमान' प्रक्रिया से सम्पन्न होता है। बाईस अंगों में तीन अतिरिक्त हैं – त्रिसाम, ध्रुवा और वर्द्धमान। यदि 'वर्द्धमान' गीतविधि में समाहित है तो शेष दो ही बचते हैं। कहीं–कहीं 'त्रिसाम' और 'प्रत्याहार' एक कहे गए हैं। उत्थापनविधि में उत्थापनी ध्रुवा गाई जाती है – अत: यहां तीसरे का समावेश स्पष्ट है। इस प्रकार जब अतिरिक्त तीन अंगों का यहां समावेश है तब भिन्न परम्परा की कल्पना क्यों की जाय? और ऐसा करना ही है तो पर्याप्त पुष्कल प्रमाण देने होंगे। इसी से जुड़ा हुआ एक अतिरिक्त प्रश्न है – इनके क्रम या व्युत्क्रम का। व्युत्क्रम है – पर दो एक अंगों में ही – अधिक नहीं। सामान्यत: क्रम यों है –

(क) **बहिर्यवनिका गत** – प्रत्याहार, अवतरण, आरम्भ, आश्रवणा, वक्त्रपाणि, परिघट्टना, संघोटना, मार्गासारित तथा आसारित।

(ख) **अन्तर्यवनिका गत** – गीतविधि (वर्द्धमान), उत्थापनविधि (ध्रुवा), परिवर्तन, नान्दी, शुष्कावकृष्टा, रगव्दार, चारी, महाचारी, त्रिगत और प्ररोचना।

इस क्रम में तीसरा प्रश्न यह है कि पूर्वरंग प्ररोचनान्त ही है या उसकी व्याप्ति उसके भी बाद 'प्रस्तावनान्त'? नाट्यशास्त्र में यह भी कहा गया है –

प्रस्ताव्येवं तु निष्क्रामेत् काव्यप्रस्तावकस्तत: ।
एवमेष प्रयोक्तव्य: पूर्वरङ्गो यथाविधि ।। ५ । १६९ ।।

अर्थात्, काव्य–प्रस्तावक प्रस्तावना का विधान कर निवृत्त हो। इस प्रकार विधान के अनुसार पूर्वरंग–प्रयोग किया जाना चाहिए। इस उपसंहार से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रस्तावना भी पूर्वरंग में ही समाविष्ट है। नाट्यशास्त्र की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन युक्तियों के साक्ष्य पर यह विकल्प उत्थित होता है। नाट्यशास्त्र में ही नहीं – परवर्ती नाट्यशास्त्रीय लक्षण ग्रन्थों तथा टीकाओं से भी इस विकल्प की पुष्टि होती है और अनेक पक्ष उठ खडे होते हैं। दशरूपककार का कहना है –

पूर्वरंगे विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते।
प्रविश्य तद्वदपर: काव्यमास्थापयेन्नट: ।।

अर्थात्, पूर्वरंग का विधान करके सूत्रधार के विनिर्गत होने के बाद उसी के समान गुण वाला स्थापक काव्य की स्थापना करे। काव्य से तात्पर्य काव्यार्थ का और काव्यार्थ के रूप में यह बीज, वस्तु या मुख भाग का अभिप्राय ग्रहण किया जाता है। श्री त्रिपुरारिजगद्धर प्रणीत **मालतीमाधव** की टीका से भी इसकी पुष्टि होती है कि पूर्व रंग और प्रस्तावना अलग–अलग हैं –

प्रथमं पूर्वरंगश्च तत: प्रस्तावनेति च।
आरम्भ सर्वनाट्यानामेतत्सामान्यमिष्यते ।।
यन्नाट्यवस्तुन: पूर्वं रंगविघ्नोपशान्तये।
कुशीलवा: प्रकुर्वन्ति पूर्वरंग: स कीर्तित: ।।

अर्थात्, नाट्च–वस्तु की प्रस्तुति या उपक्षेप से पूर्व–रंग विघ्न की शान्ति के लिए कुशीलव लोग जो कुछ करते हैं – वह पूर्वरंग है। सो, नाट्य की सभी विधाओं के लिए यह सामान्य विधान है कि पहले पूर्वरंग सम्पन्न किया जाय, तदनन्तर 'प्रस्तावना'। दूसरी ओर **अभिज्ञान शाकुन्तलम्** के टीकाकार राघव का कहना है – "वस्तुत: आमुखपर्यन्तं पूर्वरंग एव। यतोऽस्यैव नान्दीतोऽग्रे प्ररोचनादीनि दशांगानि उक्तानि" – अर्थात्, वस्तुत: पूर्वरंग की व्याप्ति आमुख तक मानी जानी चाहिए। निष्कर्ष वह कि नाट्यशास्त्रीय चिन्तन से यह विकल्प ठीक ही खड़ा होता है कि प्रस्तावनान्त पूर्वरंग की व्याप्ति – अथवा प्ररोचनान्त ?

एक बात और। जैसा कि दशरूपककार का कहना है कि आरम्भ में 'पूर्वरंग' का विधान करके सूत्रधार निवृत्त हो जाता है और उसी तरह स्थापक प्रविष्ट होकर काव्यवस्तु को 'स्थापना' करता है। अभिप्राय यह कि 'नाट्यवस्तु' और 'पूर्वरंग' के बीच 'स्थापना' है। उक्त विकल्प को निश्चयात्मक भूमि तक पहुंचाने के पहले यह तय करना है कि 'पूर्वरंग' और 'नाट्यवस्तु' के बीच में आने वाली 'स्थापना' अपने में सर्वथा दोनों से पृथक् है अथवा अंशत: पृथक् है अथवा पूर्वरंग के ही अन्तर्गत है। डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी का विचार एक चौथा विकल्प खड़ा करता है। उनका कहना है कि शनै: शनै: पूर्वरंग के अंग 'प्रस्तावना' में सिमट कर रह गए। इसे सुधार कर यह कहना ठीक होगा कि पूर्वरंग के अंग 'स्थापना' में ही सिमट गए। कारण 'प्ररोचना' प्रस्तावना नहीं है – पर 'स्थापना' में दोनों हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में सूत्रधार और स्थापक की भिन्नकर्तृता निरस्त कर दी है। – "सूत्रधार एव स्थापक इति सूत्रधार एव पूर्वरंगं प्रयुज्य स्थापकः सन् प्रविशेदिति न भिन्नकर्तृता" (४।१६२ की अ. भा.)

पहले स्पष्ट ही 'तद्वत्' से दोनों को भिन्न कहा जाता था, पर अभिनव ने यह भेद समाप्त कर दिया। लगता है अभिनव के समय तक काल प्रवाह में पूर्वरंग प्रयोज्य अंशों में से प्रमुख और औत्सुक्योत्तेजक अगों को रख कर शेष उबाऊ विधान को शिथिल कर दिया गया हो। फलतः सूत्रधार की श्रान्तिवश निवृत्ति अपेक्षित न रह गई हो और अब वही स्थापक नाम से परम्परा का पालन करने लगा हो। भावप्रकाशन आदि का यह वक्तव्य कि यद्यपि पूर्वरंग के बाईस अंग होते हैं तथापि नान्दी अवश्य कर्तव्य है – भी उक्त तथ्य की पुष्टि करता है। सूत्रधार और स्थापक की भिन्नकर्तृता का निरसन प्रक्रान्त समस्या के आडे फिर भी नहीं आता। दूसरे, वत्सराज प्रणीत किरातार्जुनीय व्यायोग तथा आणंद सुन्दरी सट्टक् में जब एक साथ सूत्रधार और स्थापक वार्तालाप करते दिखाए जाते हैं – तब क्या कहा जायगा? हां, यह अवश्य कहा जा सकता है कि इनमें भरतोक्त विधान की अवहेलना है। अस्तु। बात यह चल रही थी कि नाटचशास्त्र में 'प्ररोचना' स्थापक प्रयोज्य 'पाठ्ययोग' में दृष्टिगत होती है जिसे पूर्वरंग के अन्तर्गत कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि स्थापक प्रयोज्य पाठ्य–भाग में पूर्वरंग के भी अंग समाहित हैं। फलतः 'स्थापना' अपनी समग्रता में अन्तरालिक अंश नहीं है। स्थापनान्तर्गत प्ररोचना को भिन्न मानने का कोई आधार नहीं है। परवर्ती नाटचशास्त्रीय ग्रन्थों में 'स्थापना' में काव्यार्थ–सूचक श्लोक या श्लोकों के गान द्वारा नाटचशास्त्र में स्थित प्रेक्षकों का प्रसादन कर किसी ऋतुपरक श्लोक के गान की बात तो कही ही गई है – विशेषतः प्ररोचना के अतिरिक्त गृहीत भारतीवृत्ति में वीथी, प्रहसन और आमुख-जैसे अंगों का भी विधान है। फिर क्या पूर्वरंग की सीमा में सूत्रधार प्रयोज्य तथा स्थापक प्रयोज्य–समस्त पाठचयोग का अन्तर्भाव कर लेना चाहिए? नाटचशास्त्र में भारतीवृत्ति के अन्तर्गत 'त्रिगत' और दशरूपक में प्ररोचना के साथ वीथी, प्रहसन और आमुख का भी अंग रूप में आख्यान है – फलतः वाचिकाभिनय प्रधान भारतीवृत्ति के इस प्रसार से लगता है कि स्थापक–प्रयोज्य समस्त 'स्थापना' पूर्वरंग की सीमा में ही होनी चाहिए। इसलिए राघवभट्ट का उपर्युक्त कथन कि पूर्वरंग की व्याप्ति आमुख पर्यन्त है – ठीक लगता है। निष्कर्ष यह कि सूत्रधार प्रयोज्य अथवा सूत्रधारवत् स्थापक–प्रयोज्य समस्त पाठचांश बहिर्यवनिकागत पूर्वरंग के अन्तर्गत है।

पाठचयोग के अन्तर्गत आने वाले 'प्ररोचना' के स्वरूप में तो कोई अर्थ-विकास नहीं लक्षित होता, पर 'त्रिगत' और नान्दी के सम्बन्ध में अवश्य कुछ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वक्तव्य है। नाट्यशास्त्र में 'त्रिगत' सूत्रधार, पारिपार्श्विक तथा विदूषक के बीच संजल्प है –

पारिपार्श्विक संजल्पः विदूषक विरूपितः।
स्थापितः सूत्रधारेण त्रिगतं सम्प्रयुज्यते ॥

इसमें विदूषक न केवल बहुत सी हंसाने वाली बात करता है, अपितु कथा-वस्तु को आगे बढ़ाने वाली बात भी करता है। **मुद्राराक्षस** नाटक के प्रसिद्ध टीकाकार ढुण्ढिराज ने ' त्रिगत ' का स्वरूप अन्यथा ही निरूपित किया है।

" साम्यादनेकार्थप्रयोजनं त्रिगतं चामुखांग त्रिष्वनुगतत्वादन्वर्थम् " ॥
१।५ टीका

ढुण्ढिराज इसे आमुख का ही अंग कह रहे हैं और अन्वर्थता सिद्ध करते हुए कहते हैं कि जो तीनों में अनुगत हो वह त्रिगत। यहां पारिपार्श्विक, सूत्रधार तथा विदूषक–जैसे तीन पात्रों में अनुगति की बात नहीं है। श्लेषवश यहां एक ही श्लोक की व्याख्या भार्या, ऋतु तथा नीति परक की गई है – अतः तीनों में अनुगत होने से त्रिगत कहा गया है।

इसी प्रसंग में दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि नान्दी किसे कहा जाय ? बहिर्यवनिकागत गीत, उत्थापन और परिवर्तन के बाद नियमतः आनेवाला सूत्र-धार–प्रयोज्य नान्दी अथवा स्वैरतः कहीं भी आनेवाला मंगल श्लोक ? सूत्रधार-प्रयोज्य नान्दी और कविप्रोक्त नान्दी दोनों एक हैं या भिन्न ? बात यह है कि सूत्रधार प्रयोग में आने वाले विघ्न की शान्ति के लिए और कवि कृति में आने-वाले प्रतिबन्ध के निरोध के लिए मंगलाचरण करता है। यदि ग्रन्थगत कवि–प्रणीत मंगल श्लोक ही नान्दी है – जैसा कि प्रायः प्रत्येक टीकाकार मानता है – तो भास के नाटकों के सन्दर्भ में किसे नान्दी कहा जायगा ? यह चिन्ह केवल भास के नाटकों का ही नहीं है, केरलीय कवि शालिभद्र कृत **आश्चर्यचूड़ामणि** का भी है। **काव्येन्दुप्रकाश** – कार ने भी यह विकल्प खड़ा किया है –

नान्दीमेतां बुधाः केचिद् वदन्ति कविकर्तृकाम्।
सूत्रधारकृतां केचित् संगीरन्ते मनीषिणः ॥ ६७ ॥

यदि पूर्वरंग के अंग सक्रम हैं और प्रायः हैं तो वहां भी कहा गया है –

आश्रावणावसानेतु नान्दीं कृत्वा स सूत्रभृत्।
पुनः प्रविश्य रंगं तु कुर्यात् प्रस्तावनां ततः॥

नान्दी की रूढ़ि के अनुसार उसे सूत्रधार–संबद्ध ही होना चाहिए, कवि–संबद्ध नहीं। तीसरे, नान्दी के जो लक्षण दिए गए हैं – कवि–प्रणीत मंगल श्लोक में अनेकत्र उन नियमों का उल्लंघन है। नाट्यशास्त्र में कहा है –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्रधारः पठेत्तत्र मध्यमं स्वरमाश्रितः ।
नान्दीं पदैर्द्वादशभिरष्टभिर्वाप्यलंकृताम् ।।

अर्थात्, सूत्रधार ही मध्यम स्वर की सहायता लेकर नान्दी का पाठ करे और इस नान्दी को **अष्टपदा** या **द्वादशपदा** होना चाहिए। **वीरचरित** तथा **मालतीमाधव** के नान्दी श्लोक अष्टपद हैं – **अनर्घराघव** के द्वादशपद। कुछ लोग नान्दी को समपद होना आवश्यक मानते हैं। **वेणीसंहार** और **वीणावासवदत्ता** में भी अष्टपद हैं, परन्तु **बालरामायण** में द्वाविंशतिपद हैं। मतलब यह कि अष्टपदत्वादि का नियम व्यभिचरित है। **विक्रमोर्वशीय** में पंचविंशतिपद हैं और **मालविकाग्निमित्र** में एकोनत्रिंशत्पद। **शाकुन्तलम्** में तो पंचविंशति विषम पद हैं। इस असंगति से बचने के बहुत प्रयास किए गए। कहा गया कि –

न पदं पदमित्याहु वाक्यं हि पदमुच्यते –

यहां पद से पद नहीं, वाक्य समझा जाना चाहिए। इस दृष्टि से **शाकुन्तलम्** में कथमपि सात–यद्वृत्तवाक्य और एक तद्वृतवाक्य – मिलकर अष्टपदत्व का निर्वाह हो भी जाय – तथापि **विक्रमोर्वशीयम्** आदि में क्या चतुष्पदी नान्दी मानी जायगी। समन्वय के लिए बड़े–बड़े वचन बनाए गए –

षट्पद्यष्टपदी वापि द्विपदी वा चतुष्पदी।
प्रयोक्तव्या भवेन्नान्दी तथा द्वादशपद्यपि ।।

अर्थात्, नान्दी केवल अष्टपदी ही नहीं – षट्पदी, द्विपदी, चतुष्पदी भी हो सकती है। ढुण्ढिराज ने **मुद्राराक्षस** की टीका में और भी कहा है –

अर्थतः शब्दतो वापि मनाक् काव्यार्थसूचनम्।
यत्राष्टभिर्द्वादशभिरष्टादशभिरेव वा ।।
द्वाविंशत्या पदैर्वापि सा नान्दी परिकीर्तिता ।।

वहां स्पष्ट यह भी कहा गया – "**नाटकादिरूपकाणामादौ** विहितं पद्यं नान्दीत्युच्यते –" नाटकादि रूपकों के आरम्भ में विहित पद्य ही नान्दी कहा जाता है। उनकी यह स्पष्ट धारणा है – "कैश्चिन्नान्द्यांपदनियमो नाभ्युपगम्यते"

अर्थात्, कुछ लोग तो नान्दी में पद का नियम मानते ही नहीं। नियम के समन्वय के लिए यह भी कहा गया –

पदशब्दः पादवचनः (ढुण्ढिराज टीका)

यदि पद को पाद माना जाय तो **मुद्राराक्षस** में अष्टपदा नान्दी कही जायगी। वस्तुतः देखा जाय तो पद की प्रसिद्धि न तो 'पाद' में है और न ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाक्य में। फिर वाक्य परक पद को लें भी तो **मालतीमाधव** वाले 'चूडापीड कपालसंकुल...' इत्यादि मंगल श्लोक कैसे नान्दी कहे जायेंगे ? पद पक्ष स्वीकार किया जाय तो 'या सृष्टि...' असंगत हो जायगा। कारण, वह विषम पद है। निष्कर्ष यह कि तमाम स्वैराचार के बावजूद कवि--प्रोक्त मंगल–श्लोक में नान्दी–लक्षण समन्वित नहीं हो पाता। एक बात और भी -- नान्दी को चन्द्र नामांकित होना माना गया है। यह कवि सम्प्रदाय है। पर, **विक्रमोर्वशीयम्**, **मालविकाग्निमित्रम्** तथा **नागानंदादि** – में चन्द्रवाचक का दर्शन ही नहीं होता।

कवि–प्रणीत मंगल-श्लोक को नान्दी कहना इसलिए भी संगत नहीं है कि वह 'स्थापना' के अन्तर्गत है। एक बार पूर्वरंग में और दुबारा स्थापना के आदि में – दो बार नान्दी के विधान की क्या संगति ? फिर भरत ने स्थापना में नान्दी की बात भी नहीं की है।

मगल श्लोक को नान्दी मानने पर एक प्रश्न और भी खड़ा होता है और वह यह कि इसका प्रयोक्ता कौन ? मंच पर कवि आएगा नहीं, स्थापक इसके प्रयोग के बाद में आता है और सूत्रधार निवृत्त हो चुका है। नेपथ्य से कोई पढ़ दें-ऐसा कहीं उल्लेख नहीं। यद्यपि **अनर्घराघव** के टीकाकार पूर्ण सरस्वती ने कहा है-'कविरिष्टदेवतारूपं मंगलं करोति...नान्दीं कविः प्रयुङ्क्ते'। **नाटकाभरण** में भी ऐसा ही कहा है–पर दोनों के ही ये वक्तव्य परस्पर विरुद्ध होने से अमान्य हैं।

इस मंथन से लगता है कि यह मगल-श्लोक वैसा ही नान्दी है-जैसा स्थापक सूत्रधार। अर्थात्, ग्रन्थगत मंगल–श्लोक नान्दीवत् प्रयुक्त होता है–फलतः नान्दी कहा जाता है– न कि यह मूल नान्दी है। कहा भी गया है –

पूर्वं कृता मया नान्दी ह्याशीर्वचन संयुता।
अष्टांगपदसंयुक्ता देवतास्तुति संश्रिता।
तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा, यथा दैत्यैः सुरैर्जिता।

नान्दी से जुड़ा हुआ एक प्रश्न और भी है कि वस्तुतः नान्दी शब्द रूप है या अर्थरूप रंगपूजा? अनेकत्र उसे शब्दरूप कहा गया है, पर एकत्र यह भी कहा गया–

नंदी वृषी वृषांकस्य रंगोभूत् नृत्यतः पुरा।
अतस्तदाख्यया नान्दी रंगपूजा प्रकीर्तिता।।

शब्दरूपा नान्दी के भी विविध व्याख्यान हैं जब **नाट्यशास्त्र** – नान्दिपाठकाः– कहता है तब उसे समूहगानात्मक बताता है और जब 'सूत्रधारः पठेत्तत्र...' कहता है-तब एकमात्र प्रयोज्य भी बताता है। अन्यत्र यह भी कहा गया है–

अथ पात्राणि तत्रादौ नान्दी नान्दीं तु यः पठेत्
– नान्दी नामा सूत्रधारः तदन्ते तन्निष्क्रान्तौ...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्, नान्दी इसलिए नान्दी है कि वह नान्दी नामक पात्र से प्रयोज्य है। अन्यत्र कहा गया है –

'कुशीलवाः पठन्ति नान्दीम्'

इन सब पक्ष-विपक्षों को देख कर क्या कहा जाय? उन्हें अन्तर्विरोधग्रस्त माना जाय या परम्पराभेद? परम्पराभेद ही कहना ज्यादा संगत होगा।

इस प्रकार **नाट्यशास्त्र** के सम्पादन के प्रसंग में यहां-वहां के तमाम उद्धारणों और विवेचनों का उपयोग और उनके आलोक में पाठ-ग्रहण या पाठ-निर्णय सुन्दर होगा—साथ ही आलोचनात्मक रूप भी निखर सकेगा।

२, स्टेट बैंक कालोनी राममूर्ति त्रिपाठी
देवास रोड
उज्जैन
(म. प्र)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानवीय नियति और सत्य

जब महात्मा गांधी ने 'ईश्वर सत्य है' के स्थान पर 'सत्य ईश्वर है' वाक्य का प्रयोग किया तो प्राय: लोगों को इस बात में कोई नवीनता या मौलिकता प्रतीत नहीं हुई। संभवत: विद्वत्-वर्ग इससे असंतुष्ट भी हुआ हो कि गांधी जी द्वारा शब्दों के इस पारम्परिक उलट-फेर से या तर्कशास्त्र की पदावली में परिवर्तन (कन्वर्जन) द्वारा भला किस नियामक सिद्धान्त का प्रणयन होगा? पर उपर्युक्त प्रयोग निरर्थक नहीं था। 'सत्य ईश्वर है' यह एक साधारण वाक्य प्रतीत होते हुए भी मानवीय नियति की अपरिमित उदात्त संभावनाओं को स्वयं में संजोये है। यह आधुनिक युग में 'मानवतावाद' का उद्घोषक वाक्य है। यह निर्विवादरूप से 'आध्यात्मिक मानवतावाद' की स्थापना करता है। वैसे विचार-कों के अनुसार 'मानवतावाद' की जड़ें प्राचीन पाश्चात्य दर्शन द्वारा पोषित हैं। प्रोतागोरस के प्रसिद्ध सिद्धान्त 'मनुष्य सभी पदार्थों का मापदण्ड है' से 'मानवतावाद' का प्रारम्भ माना जाता है। यद्यपि प्रोतागोरस से पूर्व भी 'न मनुष्यात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्' का आदर्श सिद्धान्त हम महाभारत में स्पष्ट देखते हैं। उल्लेखनीय है कि प्रखर तर्कशास्त्री प्रोतागोरस एक सोफिस्त था; जबकि आधुनिक युग के गांधी एक कर्मयोगी सन्त थे। प्रोतागोरस शुद्ध भौतिक-वादी था, पर गांधी जी आध्यात्मिक अनुभूति के सत्य द्वारा प्रेरणा प्राप्त करते थे। गांधी जी के समूचे जीवन की प्रेरणा और पद्धति 'सत्य' द्वारा संचालित रही। यही कारण था कि वे अपनी आत्मकथा (मूल लिपि गुजराती भाषा–सत्यना प्रयोगो) को सत्य के साथ किये हुए अपने प्रयोग की संज्ञा देते हैं।

विभिन्न धर्मों में ईश्वर का वर्णन-निरूपण हुआ है। वे ईश्वर को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनेकविध परिभाषित करते हैं : कि ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है, सर्वत्र है, प्रेम है, सृष्टि है, सत्य है...। परन्तु 'सत्य ईश्वर है' इस कथन का निहितार्थ अभूतपूर्व है। यह यथार्थ में 'सत्य' पर बल देता है न कि किसी धर्म-शास्त्र द्वारा समर्थित ईश्वर पर। यहां 'सत्य' केन्द्रीय है। 'सत्य' यहां 'सबकुछ' को, यहां तक कि ईश्वर को भी व्याख्यायित और परिभाषित करता है। उपर्युक्त युक्ति से 'सत्य' में विश्वास और आस्था, सत्यानुकूल आचरण करना, 'सत्य' को पृष्ठभूमि और प्रेरणा दोनों ही मानना, 'सत्य' की अभिव्यक्ति का एक पारदर्शी उपकरण या माध्यम बन जाना ही मानव का 'ईश्वरवादी' बनना है। 'सत्य' में आस्था 'ईश्वर' में आस्था है। यह सर्वथा सम्भव है कि कोई व्यक्ति ईश्वर में विश्वास या आस्था न रखता हो। किन्तु वह यह नहीं कह सकता कि मैं 'असत्य' का पक्षधर हूँ, कि असत्य या झूठ ही मेरे जीवन को संचालित करता है, कि मैं सदा झूठ बोलता हूँ। 'मैं झूठ (असत्य) बोलता हूँ–' यह वाक्य तो दर्शन में अब एक अतिजटिल और रोचक 'क्लैसिक' वाक्य बन गया है। मान लीजिये कोई व्यक्ति 'क' कहता है कि मैं झूठ या असत्य बोलता हूँ; तो यदि उसके उपर्युक्त कथन को हम सत्य मान लें तो अब भी वह झूठ (असत्य) बोल रहा है। अर्थात् वह जो कुछ कह रहा है वह 'सत्य' है। असत्य बोलने वाले व्यक्ति का विरोधाभास और इसके समाधान हेतु बर्ट्रेन्ड रसेल द्वारा प्रस्तुत 'प्रकारों के सिद्धान्त' (सरल और मिश्रित) का विवेचन हम यहां सहज प्रवाह बनाये रखने के प्रयोजन से नहीं करेंगें। पर यह निश्चित है कि 'सत्य' हम चाह कर भी तज नहीं सकते और उससे न ही मुकर सकते हैं। क्योंकि 'सत्य' मनुष्य में अवियोज्य रूप से अन्तर्निहित है। यह अवश्य है कि प्रत्येक व्यक्ति का जो 'अपना सत्य' है वह एक सार्वभौम मापदण्ड पर खरा नहीं भी उतर सकता है। क्योंकि व्यक्ति के संदर्भ से जुड़ा सत्य अपने विविध पक्षों की अभिव्यक्ति कर सकता है। निकट का सत्य या दूरगामी सत्य, परिस्थिति सापेक्ष सत्य, या शाश्वत सत्य या अर्द्धसत्य, सभी व्यक्ति को किन्हीं विशिष्ट बिन्दुओं से स्पर्श और स्थायित्व देते हैं, और मनुष्य जहां तक सत्य के अनुकूल विचार या आचरण करता है वह देवत्व या ईश्वरत्व को स्वयं में संजोये हुए ही वैसा करता है। इस दृष्टि से अनीश्वरवादी, भौतिकवादी या मार्क्सवादी सभी मनुष्य में निहित देवत्व को स्वीकार करते हैं। क्योंकि सभी सत्य के प्रति पोर-पोर प्रतिबद्ध हैं। पर अब भी यह प्रश्न पूर्ववत् सम्मुख है कि सत्य क्या है ?

सत्य : स्रोत्र व स्वरूप :– गांधी जी नें यहां पुनः ध्यान दिलाया है कि 'सत्य' शब्द संस्कृत के 'सत्' से व्युत्पन्न है। 'सत्' अर्थात् अस्तित्ववान् होना। इसका निहितार्थ है कि सत्य ही अस्तित्ववान् होता है असत्य नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(कहते हैं कि असत्य (झूठ) के पैर नहीं होते, तो यह निर्विवाद है कि बिना पैर के या कृत्रिम पैर से सच्चाई को देर तक छला नहीं जा सकता) वेदान्ती भी सत्य का लक्षण 'अबाधित' होना मानते हैं, अर्थात् 'सत्य' तीनों काल (अतीत, वर्तमान और भविष्य) में अखण्ड विद्यमान रहता है, पर जो कुछ भी काल के मध्य बाधित हो गया वह 'सत्य' नहीं है। यद्यपि यहां हमारा प्रयोजन 'सत्य' के गूढ़ दार्शनिक विवेचन का नहीं है और महात्मा गांधी ने भी सहज रूप से हृदयंगम हो सकने वाले, लोकहित से जुड़े सत्य को ही अभिव्यक्त करना चाहा था, न कि उसका गूढ़ विश्लेषण किया था। परन्तु कुछ विद्वानों और दार्शनिकों को उपर्युक्त बातें संतोषजनक नहीं प्रतीत होंगी। वे निस्संदेह यह कहेंगे कि 'सत' एक 'सत्ताशास्त्रीय' कोटि है जबकि 'सत्य' एक 'ज्ञानमीमांसीय' कोटि है। कोई वस्तु अस्तित्ववान् होती है और कोई प्रतिज्ञप्ति (तर्कवाक्य) या वाक्य ही सत्य या असत्य कहा जा सकता है। अतः सत्ता एवं विचार को परस्पर मिलाना भ्रामक है। इस सम्बन्ध में हम विनम्रतापूर्वक यही कहेंगे कि सत्ता' और ज्ञानशास्त्र (एपिस्तीम) अपृथक्सिद्ध हैं। दोनों न तो विरोधी हैं और न ही सर्वथा स्वतंत्र सत्तायें। परन्तु वे अन्योन्याश्रित और परस्पर–पूरक हैं। एक दूसरे के अभाव में वे अलग–अलग अमूर्तीकरण ही रह जाते हैं। विचार–प्रक्रिया असत्तात्मक हो ही नहीं सकती। चेतना सदैव विषयापेक्षी होती है। 'जानना' सदैव किसी वस्तु या तथ्य को जानना होता है। हमें यहां प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक सुकरात का स्मरण हो आता है। उनका सम्पूर्ण जीवन स्वयं को जानों (नो दाइसेल्फ) जैसे सत्य के साथ प्रयोग करते हुए गुज़रा था। वैसे यह सिद्धान्त डेल्फी के मंदिर का उपदेश था। स्पष्ट है कि स्वयं को जानना सामान्य अर्थ में 'जानना' नहीं है, क्योंकि यह 'जानना' और 'होना' एक साथ है। जैसे अपने क्रोध या प्रेम की स्थिति में हम मात्र अपने मनोभावों को जानते ही नहीं– स्वयं वैसा हो जाते हैं। कुल मिला कर हर मानव के अन्तर्तम का 'सत्य' एक जैसा ही होता है। सुकरात यह बात हास्य में कहा करते थे कि मैंने अपनी माँ (फिलरेती जो एक धावो या प्रसविका थीं) से उनकी कला सीखी है, मैं स्वयं से कुछ मौलिक सर्जना नहीं करता अपितु जो कुछ पहले से ही किसी व्यक्ति में विद्यमान है उसे मुक्त करने में सहायता करता हूँ। व्यक्ति के भीतर निहित 'सत्य' को मात्र अपनी चिन्तन–विधि (मिडविफरी ऑफ इण्टलेक्ट) द्वारा मुक्त करा देता हूँ। प्लेटो के विभिन्न संवाद इसके साक्ष्य हैं। **पार्मेनिदिस** की 'शुद्ध सत्ता' या सत्य, **सिंपोजियम** का 'सौंदर्य' और **रिपब्लिक** (छठीं पुस्तक) का 'शिव का विज्ञान' (सामान्य) सब एक ही वास्तविकता को उद्घाटित करते हैं। यदि मानवों में इनके साक्षात्कार की संभावना और सामर्थ्य न होती तो वे अपनी सत्ता और बोध दोनों ही दृष्टियों से निरर्थक रहते। इस धरती का ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधारण सा दीखने वाला मानव असीम संभावनाओं का स्रोत है। उसके भीतर देवत्व है, ईश्वर का साम्राज्य है जो 'सत्य' के प्रति उसकी आस्थाओं में सदा अभिव्यक्त होता है। 'सत्य' शुष्क तार्किक युक्तियों का मुखापेक्षी नहीं है। यह मनुष्य का जीवन्त अस्तित्व है। हर व्यक्ति के भीतर बारम्बार अनेक रूपों में सतत ढँलता है, हर व्यक्ति के भीतर 'सत्य' का जन्म होता है। पर कैसे ?

समन्वय : भौतिक-अभौतिक :— महात्मा गांधी का पूर्ण विश्वास था कि मनुष्य में देवत्व का 'सत्य' है। वे इस संदर्भ में **महाभारत** का उल्लेख करते हुए उसे एक ऐतिहासिक महाकाव्य स्वीकार नहीं करते। वे **महाभारत** के तथ्यों की सुन्दर प्रतीकात्मक व्याख्या करते हैं। वे पाण्डवों को प्रकाश का प्रतीक और कौरवों को अंधकार का प्रतोक मानते हैं। प्रथम को शुभ शक्ति और द्वितीय को अशुभ शक्ति मानते हैं। कुरुक्षेत्र का युद्ध-स्थल वे मनुष्य का शरीर-क्षेत्र ही मानते हैं, जिसमें उपर्युक्त शक्तियां संघर्षरत होती रहती हैं। अर्जुन 'नैतिक चेतना' का प्रतीक है क्योंकि जो व्यक्ति नैतिक है उसे ही कर्तव्य-अकर्तव्य, शुभ-अशुभ की चिंता होती है और कृष्ण दिव्य आत्मा है जो प्रत्येक मानव के भीतर है। वे विवेक रूप हैं क्योंकि विवेक ही सत्य-असत्य, शुभ-अशुभ के बीच अन्तर कर सकता है। गांधी की इस प्रतीकपरक अभिव्यंजना को डॉ. राधाकृष्णन् ने थोड़ा आगे बढ़ाते हुए और रोचक व्याख्या की है।[२] वे कहते हैं वसुदेव और देवकी कृष्ण के पिता-माता हैं। **भागवत** में वसुदेव को 'शुद्ध सत्व' कहा गया है : सत्वं विशुद्धं वसुदेवसंज्ञितम्। देवकी का अर्थ देवी प्रकृति है। जब कृष्णरूप दिव्य शक्ति का हमारे भीतर जन्म होता है तो आंखों के समक्ष से अज्ञान के पटल हट जाते हैं, मोह—आसक्तियों की बेडियाँ टूट जाती हैं, हम मुक्त हो जाते हैं। अतः दिव्य कृष्ण या देवत्व का जन्म हर व्यक्ति के भीतर अनुकूल परिस्थिति में होता है। **महाभारत** के कृष्ण 'सत्य' या 'देवत्व' के रूप में प्रत्येक व्यक्ति के भीतर अवतार लते हैं। अवतार शब्द का यही निहितार्थ है। 'अव' शब्द का अर्थ अवरोहण है: अर्थात् 'देवत्व' का नीचे उतरना। यहां यह भ्रम उठना संभव है कि देवत्व का मनुष्य के भीतर जन्म या अवतार होना उसकी दिव्यता में ह्रास है, उसका अपनी गरिमा से च्युत होना है। पर वास्तव में 'देवत्व' जो बर्गसां के शब्दों में 'मूल प्रेरणा' (एलान वाइटल) है का विकास बहु—आयामी है। बर्गसां के अनुसार विकास का तात्पर्य मात्र आगामी, एकतरफा गमन नहीं है। वह प्रतिगामी विचलन भी हो सकता है। पर सर्वत्र एक ही "मूलप्रेरणा" की सर्जना परिलिखित होती है।[३] श्री अरविन्द के अनुसार विकास का अर्थ आरोहण—अवरोहण दोनों है। वे मानते हैं कि अतिमानसिक चेतना का पहले अवरोहण जड़तत्त्व में होता है और सभी जड़तत्त्व में अपने उदात्त लक्ष्य को पाने की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संभावना होती है। श्री अरविन्द इसीलिए देह या पार्थिव के भी रूपान्तरण की बात करते हैं। पर पार्थिव तभी दिव्य हो सकता है जबकि पहले से ही उसमें दिव्य का अवतरण कभी हो चुका हो। सरल भाषा में, चुम्बक सभी वस्तुओं को आकर्षित नहीं करता; वह मात्र चुम्बकीय वस्तुओं-जैसे लोहा, निकिल आदि–को आकर्षित कर सकता है।

यहाँ एक तथ्य की ओर ध्यान दिलाना प्रासंगिक है। अनेक धर्म मनुष्य को जन्म से पतित और असहाय मानते हैं। उदाहरण के लिये ईसाई धर्म मनुष्य को 'मूल पाप' से सर्वदा संयुक्त मानता है। उसके अनुसार मनुष्य स्वयं ही अपने उदात्त लक्ष्य को भीतर उतर सकने में बाधक है। पर गांधी के अनुसार यह दृष्टि समीचीन नहीं है। देवत्व की समूची सार्थकता मनुष्य के संदर्भ में ही है, तो मनुष्य अपने व्यापकतम हितों के लिये स्वयं ही एक बाधक शक्ति या अटकाव कैसे हो सकता है ?

सत्यमेव जयते : सर्वोदय :– महात्मा गांधी ने सत्य–रूप ईश्वर को परलोक से उतार कर इस वसुन्धरा पर मानवों के भीतर प्रतिष्ठित करने का भगीरथ प्रयास किया है। क्योंकि मानव का सत्य ही उसका श्रद्धेय है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य 'सत्य' के प्रति सन्नद्ध रहता है, उसके लिये उत्सर्ग करता है, भले ही किसी धर्म–विशेष के ईश्वर में वह कोई आस्था रखता हो या न रखता हो। 'सत्य' को 'ईश्वर' का समानार्थी कहना धरती पर मनुष्यों के बीच आत्मीयता और निष्ठा का बीज बोना है। यदि सबकी अन्तरस्था चेतना उन्मुक्त होकर सत्य के ही स्वर में स्वर मिलायेगी तो लोंगो में भेद और भय कैसा? ऐसे मनुष्यों का धीरोदात्त समाज, एक आदर्श समाज होगा। वहां किसी हिन्दू को 'शरण' नहीं मांगनी होगी, मुसलमान को 'पनाह' नहीं तलाशना पडेगा, ईसाई–पारसी या किसी भी अन्य व्यक्ति को 'मित्रता' मांगनी नहीं पडेगी। सभी लोग पारम्परिक विश्वास, सद्भाव और सहयोग करते हुये रहेगें। सर्वत्र 'वसुधैव कुटुम्बकम्' अर्थात एक सामंजस्यपूर्ण भ्रातृत्व का साम्राज्य होगा जो महात्मा गाधी द्वारा कल्पित 'रामराज्य' ही होगा। रामकृष्ण परमहस के शब्दों में जगत् की वह स्थिति 'आनन्द की कुटिया' होगी। ऐसी 'कुटिया' की कल्पना को साकार करने के लिए स्वामी विवेकानन्द द्वारा सुझाया एक महत्त्वपूर्ण तथ्य हमें सदा स्मरण रहेगा। स्वामी विवेकानन्द ने स्पष्ट कहा है कि कोई भी व्यक्ति जो यह सोचता है कि कालान्तर में मात्र उसका ही धर्म अस्तित्ववान् रहेगा और शेष अन्य धर्म समाप्त हो जायेगें या उसी एक धर्म में विलीन हो जायेगें एक मिथ्या कल्पना करता है। वे इस दृष्टि से सहिष्णुता' (tolerance) शब्द को समीचीन नहीं मानते थे। किसी व्यक्ति के मत या धर्म के प्रति सहिष्णु होने का निहितार्थ है कि हम उसकी सत्ता को महज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नकार नहीं रहे हैं। पर किसी सत्ता को मात्र 'नहीं नकारना' एक निषेधात्मक दृष्टि है। वास्तव में हमें स्वयं में भावात्मक दृष्टि का विकास करना चाहिये। 'सहिष्णुता' नहीं वरन् 'स्वीकृति' या ग्राह्यता (acceptance) हमारा ध्येय होना चाहिए। विभिन्न धर्मों में निहित उदात्त तत्त्वों को हृदय से स्वीकार करना, उसे जीना मनुष्य को धीरोदात्त बनाता है। यहां विभिन्न धर्मों में सर्वनिष्ठ सिद्धान्तों की गणना या योगफल की बात नहीं की जा रही है, अपितु सभी धर्मों में अनुस्यूत 'सत्य' की अन्तर्निहित एकता का संकेत किया जा रहा है, जो सभी मानवों की चेतना में अविरल प्रवाहित अन्तर्धारा है, जो कभी भी सूख नहीं सकती। इसी सत्य को जीना मानव की नियति भी है और उसकी अक्षय पूंजी भी।

दर्शन विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर - २७३००१
(उ. प्र.)

चन्द्रप्रकाश श्रीवास्तव

टिप्पणियाँ

१. विस्तार से बचने हेतु हम 'सत्ता' की चर्चा न तो 'होमर' के इलियड से शुरु करेंगे और न ही यूनानी दर्शन के पिता और सातवें संत 'थेलीज' के 'जल तत्त्व' से। उल्लेखनीय है कि आसिया (Ousia) शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम प्लेटो ने 'शाश्वत सामान्यों' के लिए किया था। यह शब्द अस्थायित्व एवं नश्वर का विरोधी था। कालान्तर में लातिनी भाषा का प्रभाव बढने पर 'आसिया' के स्थान पर 'सब्सटैंशिया' शब्द का समानार्थी प्रयोग होने लगा। इसे ही दार्शनिकों ने 'द्रव्य' कहा। द्रव्य की सत्ता मानी गयी। तार्किक रूप से 'द्रव्य' हमेशा उद्देश्य रहता है, कभी विधेय नहीं बनता और भौतिक वादी (फिजिकल) परिभाषा में इसे समस्त परिवर्तनों के मध्य 'स्थायी तत्त्व' माना गया है।

२- डॉ. राधाकृष्णन्; द. भगवद्गीता, पृ. ३६

३) बर्गसां, हेनरी; क्रिएटिव एवोल्यूशन पृ. XII पुनः,

Evolution is not only a movement forward; in many cases we observe a marking time, and still more often a deviation or turning back.'

वहीं, पृ. ११५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिधर्मकोश (प्रथमकोशस्थान) में स्कन्ध की परिभाषा

वसुबन्धु[1] (पंचम शताब्दी ?) कृत **अभिधर्मकोश**[2] बौद्ध-दर्शन की सर्वास्तिवाद[3]-शाखा का परिचायक प्रामाणिक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ प्रमुख रूप से काश्मीर-वैभाषिक-[4]मत का प्रतिपादन करता है[5]। इसमें सौत्रान्तिक[6]-मत का भी बहुशः प्रतिपादन किया गया है। यह ग्रन्थ अभिधर्मों[7] का कोश है। पारिभाषिक शब्दोंकी परिभाषाओं की विपुलता के कारण इसे परिभाषाओं का कोश भी कहा जा सकता है।

परिभाषा का प्रधान प्रयोजन प्रतिपाद्य अथवा लक्ष्य का वाचिक व्याख्यान है। परिभाषाएं सम्प्रदाय-विशेष के सिद्धान्तों के प्रतिबिम्ब हैं। **अभिधर्मकोश** में सन्निहित परिभाषाएं इसके दृष्टान्त हैं।

प्रस्तुत लेख का प्रमुख प्रतिपाद्य स्कन्ध की परिभाषाओं का संकलन और विवेचन है। इस संकलन का मुख्य आधार **अभिधर्मकोश** का 'धातुनिर्देश' नामक प्रथमकोशस्थान है।

स्कन्ध की परिभाषा

वसुबन्धु ने अभिधर्मकोश के प्रथम कोशस्थान में तीन परिभाषाएं प्रस्तुत की हैं :—

(१) 'राश्यर्थः स्कन्धार्थ इति' (अभिभा, पृ. ५७)
(स्कन्ध का अर्थ है राशि।)

२) 'कार्यभारोद्वहनार्थः स्कन्धार्थ इत्यपरे' (अभिभा, १.२०, पृ. ६०)
(स्कन्ध का अर्थ है कार्यभार का उद्वाहक – ऐसा दूसरे का मत है।)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) 'प्रच्छेदार्थो वा' (अभिभा, १.२०, पृ. ६०)
(अथवा स्कन्ध का अर्थ है प्रच्छेद।)

इनमें राशि के अर्थवाली पहली परिभाषा वसुबन्धु की अपनी है, जिसके अनुसार 'स्कन्ध' अनेक स्वतंत्र इकाइयों के समूह का बोधक है। स्कन्ध का यह विलक्षण अर्थ विभाषा–सूत्र[९] पर आधारित है। यशोमित्र[१०] ने भी इसका समर्थन करते हुए एक अन्य विभाषा–सूत्र[११] को प्रस्तुत किया है।

कार्यभार के उद्वाहक अर्थवाली दूसरी परिभाषा वसुबन्धु के समसामयिक या पूर्ववर्त्ती किसी अज्ञात आचार्य की है। यह परिभाषा स्कन्ध को षडायतन–[११] रूप कार्यभार के उद्वहनकर्ता के अर्थ में प्रस्तुत करती है[१२]। यशोमित्र ने इस तथ्य की पुष्टि के लिये एक सूत्र की अवतारणा[१३] की है।

प्रच्छेद अर्थवाली तीसरी परिभाषा वसुबन्धु–कालीन लोक–व्यवहार में प्रचलित परिभाषाओं में से एक है। यह शास्त्रीय मान्यता के सन्निकट प्रतीत होती है।

वसुबन्धु ने स्कन्ध के स्वरूप को परिभाषित करने के लिये 'समूह बोधक' राशि शब्द का चयन किया है। लोक–व्यवहार में प्रत्यक्षयोग्य स्वतंत्र इकाइयों के समुदाय को राशि कहा जाता है[१४]। यथा–धान्यराशि, केशराशि, जलराशि (=जलकणसमूह), धूलराशि (=धूलिकणसमूह) इत्यादि। इसी प्रकार स्कन्ध भी परमाणुरूप इकाइयों से बना समुदाय है। ये इकाइयाँ परस्पर मिल कर समुदाय–रूप किसी नवीन वस्तु[१५] की उत्पत्ति नहीं करते हैं। बल्कि इनका स्वातन्त्र्य सर्वदा बना रहता है। प्रत्येक इकाई की अपनी विशेषता है। इनका अपना–अपना अर्थक्रियाकारित्व और अस्तित्व है। इन स्वतन्त्र इकाइयों का परस्पर संस्पर्श नहीं होता है। ये निरन्तर[१६] (क) होते हैं। इनका यही समुदाय 'स्कन्ध' हैं।[१६] (ख)

वसुबन्धु ने कार्यभारोद्वाहक अर्थवाली परिभाषा का विवचन अपने दृष्टिकोण से किया है। उनके अनुसार, यह परिभाषा स्कन्ध के स्वरूप–निर्धारण में असमर्थ है। स्कन्ध का अर्थ है–परमाणुओं की राशि या संघात। जब कि यह परिभाषा प्रत्येक परमाणु की सत्ता–मात्र सिद्ध करती है, न कि उनकी राशि के स्वरूप को। प्रत्येक परमाणु अपने–अपने कार्यभार का उद्वहन करता है, अर्थात् प्रत्येक में अर्थक्रियाकारित्व है। इस प्रकार, प्रत्येक परमाणु की सत्ता सिद्द होती है किन्तु इससे स्कन्ध अर्थात् राशि या परमाणु–संघात का स्वरूप सिद्द नहीं होता है। 'स्कन्ध' परमाणु–बोधक नहीं है, बल्कि परमाणु–राशि का बोधक है। वसुबन्धु के अनुसार, स्कन्ध का राशि यह अर्थ विभाषा-सूत्र के अंश-विशेष[१७] पर आधारित है। सूत्र में प्रत्येक अतीत, अनागत आदि 'रूप' के समुदाय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को संक्षेप में 'रूपस्कन्ध' कहा है। किन्तु स्कन्ध का कार्यभारोद्वाहक अर्थ किसी विभाषा-सूत्र पर आधारित नहीं है। यशोमित्र ने केशादि का दृष्टान्त[१८] प्रस्तुत करते हुये इसे स्पष्ट किया है। विभाषा-सूत्र के अनुसार, प्रत्येक केश और केशराशि-दोनों पृथिवीधातु हैं। किन्तु विभाषा-सूत्र के अनुसार, 'रूप' आदि के प्रत्येक परमाणु और उनकी राशि, दोनों 'स्कन्ध' नहीं हैं। परमाणु-राशि ही स्कन्ध है।[१९]

तत्कालीन लोक-समाज में प्रचलित प्रच्छेद या अवधि[२०] अर्थ को यद्यपि देशावच्छेदक[२१] और कालावच्छेदक[२२]-इन शास्त्रीय अर्थों के सन्निकट माना जा सकता है, फिर भी इन अर्थों का आधारभूत एक भी सूत्र न होने के कारण इन अर्थों की प्रामाणिकता अथवा शास्त्रीयता संदिग्ध है।

इस प्रकार विभाषा-सूत्र को आधार मान कर वसुबन्धु ने अपनी राशि-अर्थवाली स्कन्ध की परिभाषा को प्रतिष्ठित किया और अन्य दोनों परिभाषाओं का उन्हें उत्सूत्र[२३] बताकर उनका परिहार किया[२४]।

निष्कर्ष –

उपर्युक्त विवेचन से तीन प्रमुख तथ्य प्रकट होते हैं –

१) वसुबन्धु ने विभाषा-सूत्र को "स्कन्ध" की परिभाषा का आधार माना है। "स्कन्ध" का राशि यह अर्थ उन्होंने विभाषा-सूत्र के आधार पर ही किया है और अन्य दोनों परिभाषाओं का आधार विभाषा-सूत्र न होने के कारण उनका परिहार किया है।

२) "स्कन्ध" को परिभाषित करने के लिए "राशि" शब्द का चयन वसुबन्धु की मौलिक कल्पना है।

३) वसुबन्धु ने "स्कन्ध" को स्वतन्त्र इकाइयों का समुदाय कह कर सर्वास्तिवाद की तत्त्वमीमांसा को नया दार्शनिक दृष्टिकोण दिया है।

वसुबन्धु ने कार्यभारोद्वाहक और प्रच्छेद अर्थवाली दोनों परिभाषाओं की व्याख्या अपनी राशि-अर्थवाली परिभाषा के दृष्टिकोण से की है और उनका परिहार केवल इसलिए किया है कि वे विभाषा-सूत्र पर आधारित नहीं है। इससे वसुबन्धु की सौत्रान्तिकमत के प्रति आस्था प्रकट होती है।

दूसरी ओर, उनके द्वारा "स्कन्ध" की दी हुई अभिनव व्याख्या यह दिखलाती है कि उन पर काश्मीर-वैभाषिक मत का प्रभाव है।[२५]

एवंविध नवीन परिभाषा का प्रस्तुतीकरण यद्यपि अनेक दार्शनिक समस्याओं को समाधीन करा देता है, फिर भी उन समस्याओं का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाधान करने के प्रयास में दार्शनिक विचारों को गतिशील भी बनाये रखता है। अतः ऐसी परिभाषाएँ परवर्तिकाल में चिरस्थायी प्रभाव रखती हैं। परवर्ती दर्शनग्रन्थों में सर्वास्तिवाद की आलोचना जिन समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में की गयी है, उसका सूत्रपात वसुबन्धु-कृत " स्कन्ध " की इस अभिनव परिभाषा से ही होता है।

जैन एवं बौद्ध दर्शन विभाग सीमा मुन्शी
काशी हिन्दु विश्वविद्यालय
वाराणसी – २२१००५
(उ. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. वसुबन्धु के जीवन और कृतित्व पर द्रष्टव्य ग्रन्थ –
(अ) तिवारी महेश, **विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः**, पृ. २–५
(ब) एनेकर, स्टीफेन; **सेवेन वर्क्स ऑफ वसुबन्धु**, पृ. ७–२४

२. वसुबन्धु–प्रणीत अभिधर्मकोश बौद्धों के विशाल अधिधर्म–साहित्य का संगृहीत–रूप है। इसमें तत्त्वमीमांसा, मनोविज्ञान, सृष्टि–मीमांसा; और बोधिसत्त्व–सिध्दान्त का विवेचन है तथा इसके विषय का एक बहुत बड़ा अंश बौद्धों को मान्य है। यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मूल संस्कृत में नष्ट हो गया था। इसके तीन अनुवाद–ग्रन्थों–दो चीनी तथा एक तिब्बती अनुवाद से कई विद्वानों, जैसे–श्री शान्तिभिक्षु, लुई द ला वाले पूसे आदि ने इसका मूल संस्कृत में उद्धार करने का प्रयास किया है। इधर श्री राहुल सांकृत्यायन द्वारा तिब्बत से मूल–संस्कृत–ग्रन्थ का फोटो लाया गया, जिसका ग्रन्थरूप में प्रकाशन काशीप्रसाद जायसवाल शोध–संस्थान, पटना द्वारा किया गया है। मूल ग्रन्थ पर कई टीकाएँ लिखी गयी थीं, किन्तु सम्प्रति यशोमित्र–कृत **स्फुटार्थाव्याख्या** ही पायी जाती है। इसका संपादन बोगिहारा ने जापान से किया है। देवनागरी अक्षरों में इसका प्रकाशन श्री नरेन्द्रनाथ लाहा द्वारा कलकत्ता ओरियंटल सीरीज, १९४९ में किया गया। तत्पश्चात् स्वामी द्वारिकादास शास्त्री द्वारा संपादित होकर यह ग्रन्थ बौद्ध–भारती प्रकाशन, वाराणसी से १९७४ से अब तक तीन संस्करणों में उपलब्ध है।

३. सर्वास्तिवाद के इतिहास व सिध्दान्त के लिये द्रष्टव्य ग्रंथ –
(अ) बैनर्जी, ए सी; **सर्वास्तिवाद लिटरेचर**,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ब) पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र; बौद्धधर्म के विकास का इतिहास।

४. द्रष्टव्य ग्रन्थ—
(अ) उपाध्याय, बलदेव; भारतीय दर्शन पृ. १३८–१३९।
(ब) व्यास, सूर्यप्रकाश; बौद्ध, वेदान्त एवं काश्मीर शैव दर्शन, पृ. १४–४०।

५. काश्मीर वैभाषिक नीतिसिद्ध:।
प्रायो मयाऽयं कथितोऽभिधर्मः ॥ (अभि, ८.४०)

६. सौत्रान्तिक सर्वास्तिवाद की एक शाखा है। यह तथागत के आध्यात्मिक उपदेशों को सुत्तपीटक के कतिपय सूत्रों या सूत्रान्तों में सन्निवेशित मानता है और इसे ही प्रामाणिक मानता है। यशोमित्रकृत स्फुटार्था (पृ १५) में सौत्रान्तिक की परिभाषा इस प्रकार है — "क: सौत्रान्तिकार्थ: ? य सूत्रप्रामाणिका:, न तु शास्त्रप्रामाणिकास्ते सौत्रान्तिका:।" इस मत का प्रमुख वैशिष्टय बाह्य–पदार्थ की सत्ता को अनुमेय मानना है। वसुबन्धु ने अभिधर्मकोश के स्वोपज्ञभाष्य में वैभाषिकों के अनेक सिद्धान्तों में दोषोद्घाटन किया है और सौत्रान्तिक–दृष्टि से उनका खण्डन किया है। यशोमित्र ने भी स्फुटार्था में इसी दृष्टि से इनका समर्थन किया है।

७. "प्रज्ञाऽमला सानुचराऽभिधर्मः (अभि, १.२, पृ. ११) अनास्रव धर्मप्रविचय, जो सपरिवार हो, "अभिधर्म" है। सपरिवार = चित्त–चैत्तों के सहित अर्थात् पचस्कन्धक। इस प्रकार, अनास्रव पंचस्कन्धक धर्म ही "अभिधर्म" है। ये धर्म परमार्थधर्म या निर्वाण या वस्तु के यथार्थस्वरूप अथवा स्वलक्षण के प्रति अभिमुख हैं, इसलिये इन्हें "अभिधर्म" कहा जाता हैं। वसुबन्धु–कृत अभिधर्मकोश में ज्ञानप्रस्थानादि अभिधर्मशास्त्रों का समावेश है अथवा उपपत्तिप्रतिलम्भिका सानुचरा श्रुत–चिन्ताभावनामयी सास्रवा प्रज्ञा का विवेचन है। अत: यह अभिधर्मों का कोश है।

८. "यत्किंचिद्रूपमतीतानागतप्रत्युत्पन्नमाध्यात्मिकबाह्यम् औदारिकं वा सूक्ष्मं वा हीनं वा प्रणीतं वा यद्वा अन्तिके, तत् सर्वमेवायमभिसंक्षिप्य रूपस्पन्ध इति संख्यां गच्छति (विभ०१ १·१·२)।"
(अभिभा, १·२०, पृ ५६)

९. यशोमित्र–कृतस्फुटार्था अभिधर्मकोशकारिका तथा भाष्य की वर्तमान समय में उपलब्ध एकमात्र प्रामाणिक व्याख्या है। यशोमित्र ने स्फुटार्था के पंचमश्लोक—

"गुणमति–वसुमित्राद्यैर्व्याख्याकारै पदार्थविवृत्तिर्या।
सुकृता साभिमता मे लिखिता च तथायमर्थ इति ॥"—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में गुणमति तथा वसुमित्र–कृत टीकाओं को अपनी व्याख्या का आधार कहा है। यशोमित्र ने सौत्रान्तिक दृष्टिकोण से अभिधर्मकोशकारिका तथा भाष्य पर स्फुटार्था व्याख्या की है। स्फुटार्थ का संपादन व प्रकाशन बोगिहारा ने जापान से किया है। सन् १९४९ में कलकत्ता ओरियंटल सीरीज़ से श्री नरेन्द्रनाथ लाहा द्वारा देवनागरी अक्षरों में इसका प्रकाशन किया गया है। बौद्ध भारती प्रकाशन, वाराणसी से भी इसके कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

१०. "पृथिवीधातुः कतमः ? केशा रोमाणि (विभ० ३·१·१२)"।
(स्फुटा, १·२०, पृ० ६०)

११. आयतन अर्थात् चित्त–चैत्तों का प्रसार या उनकी स्थूल अभिव्यक्ति। पंचस्कन्धात्मक सत्त्व की अभिव्यक्ति छः आयतनों द्वारा होती है – चक्षुरायतन, श्रोत्रायतन, घ्राणायतन, जिह्वा–आयतन, काय–आयतन तथा मन–आयतन। इसलिये सत्त्व का स्थूल शरीर षडायतन कहा जाता है। शब्दांतर में, चक्षुरादि चार आयतन अर्थात् चार इन्द्रिय, काय–आयतन अर्थात् स्थूल तत्त्व या शरीर और मन – आयतन–ये छः षडायतन है।
(द्रष्टव्य–नरेन्द्रदेव, अभिधर्मकोश–१, पृ. १५–१६)

१२. स्कन्ध को षडायतन के उद्वाहक–रूप में पारिभाषिक करना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि स्कन्ध षडायतन का वहन मात्र नामरूप–अवस्था में करता है, अन्य अवस्थाओं में नहीं। वस्तुतः स्कन्ध द्वादश अवस्थाओं में क्रमशः भ्रमणशील है। अविद्या और संस्कार के बाद सूक्ष्मरूप में पंचस्कन्धों का गर्भ में आना विज्ञान–अवस्था है। तदुपरान्त, गर्भावस्था में पंचस्कन्धों की संवृद्धि अर्थात् षडायतन या स्थूल देह की क्रमशः वृद्धि की अवस्था नामरूप है। इस अवस्था में षडायतन की संवृध्दि और धारण पंचस्कन्ध ही करता है, अतः प्राधान्यवश इसे नामरूप कहा जाता है। यहां नाम–शब्द वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान, इन चारों स्कन्धों का तथा रूप–शब्द रूपस्कन्ध का बोधक है। इस प्रकार "नामरूप" पंचस्कन्ध का प्रतीक है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अन्य एकादश अवस्थाओं में भी स्कन्ध षडायतन का धारण करता है।
(द्रष्टव्य–नरेन्द्रदेव, अभिधर्मकोश–१, पृ. १५–१६)

१३. "नामरूपप्रत्ययं षडायतनम्" (विभाषा १९.५)।
(स्फुटा, १.२०, पृ. ६०)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१४. शास्त्रों में "राशि" शब्द सुप्रचलित है। कहीं यह समूहबोधक है, जैसे—ज्योतिषशास्त्र में "राशि" नक्षत्र समूह का ज्ञापक है, कहीं यह अंकबोधक है, जैसे–अंकशास्त्र में राशि अर्थात् संख्या। इसके अतिरिक्त राशि शब्द पुंज, ढेर और विशाल समुदाय के अर्थ का भी द्योतक है। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली (का. ३७, पृ. ७७) में राशि शब्द का प्रयोग अवयवों से बने एक अवयवी के बोधकरूप में किया गया है।

१५. न्याय–वैशेषिक दर्शन में अवयवों से अवयवी की उत्पत्ति मानी गयी है। उनके अनुसार, अवयवी अपने अवयवों में समवेत रहता है। यह अवयवों से भिन्न एक नवीन वस्तु है। अवयवी में उसके अवयवों का स्वातन्त्र्य नहीं रहता है। उसकें सभी अवयव परस्पर संयोग अथवा समवाय सम्बन्ध से जुड़ जाते हैं। अवयवो का प्रत्यक्ष करते समय उसके प्रत्येक अवयव का स्वतन्त्ररूप से प्रत्यक्ष नहीं होता है।

१६. क– निरन्तर अर्थात् व्यवधानशून्य।

ख– स्कन्ध की यह परिभाषा कई दार्शनिक समस्याओं को प्रादुर्भूत करती है। प्रथमतः, स्कन्ध को इकाइयाँ जड़ हैं या चेतन? यदि जड़ हैं, तो इनके समुदाय बनने में किसी चेतन नियामक को मानना आवश्यक है। तब इकाइयों का स्वातन्त्र्य नहीं रहेगा; क्योंकि उसका नियामक मानने से वह तत्त्व स्वतन्त्र न रह कर परतंत्र हो जायगा। यदि इकाइयाँ चेतन हैं, तो इनका प्रत्येक समुदाय अर्थात् जगत् की प्रत्येक वस्तु सचेतन होनी चाहिये। द्वितीयतः, स्कन्ध की इकाइयां व्यवस्थित हैं या अव्यवस्थित? व्यवस्थित या नियमित मानने पर उनका कोई व्यवस्थापक या नियामक भी अवश्य होगा। इस प्रकार भी इकाइयों का स्वातन्त्र्य क्षुण्ण होगा। तृतीयतः, स्कन्ध और उसकी इकाइयों में परस्पर सम्बन्ध विषयक समस्या है। उनमें न समवाय है, क्योंकि वे अयुतसिद्द नहीं है, न संयोग है; उनमें स्पर्श भी नहीं होता है और न हो उनमें तादात्म्य है।

इस प्रकार विभिन्न सम्भाव्य समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में ही परवर्तिकाल के अन्य दर्शन सम्प्रदायों के ग्रन्थों में सर्वास्तिवाद की कड़ी आलोचना की गई है।

१७. "यत्किंचिद्रूपमतीतानागतप्रत्युत्पन्नम् तत् सर्वमेवाभिसंक्षिप्य" इति। (अभिभा, १.२०, पृ. ६०)

१८. द्रष्टव्य – स्फुटा, १.२०, पृ० ६०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९. यह परिभाषा कई दार्शनिक समस्याओं को उत्पन्न करती है। जैसे-सम्बन्ध, दिक्, काल, अवयवी, व्यवस्था, नियामक आदि की समस्या। वसुबन्धु के तात्त्विक विचारों पर इस परिभाषा का कितना और कैसा प्रभाव है यह भी विचारणीय है।

२०. अवछ्यर्थो वेत्यर्थः। (स्फुटा, १·२०, पृ. ६०)

२१. देशावच्छेदक का उदाहरण – "रूपप्रच्छेदः", "यावद्विज्ञानप्रच्छेद इति।" (स्फुटा, १·२०, पृ. ६०)

२२. कालावच्छेदक का उदाहरण – "त्रिभिः स्कन्धकैर्दैयं दास्याम इति।" (अभिभा, १·२०, पृ. ६०)

२३. उत्क्रांतं सूत्रादुत्सूत्रम्। (स्फुटा, १ २० पृ ६०)

२४. तदेतदुत्सूत्रम्। (अभिभा, १·२०, पृ. ६०)
तदेतदुभयं कार्यभारोद्वहनार्थः, प्रच्छेदार्थश्चेति।
उत्क्रान्तं सूत्रादुत्सूत्रम्। (स्फुटा, १·२०; पृ. ६०)

२५. वसुबन्धु–सम्मत "स्कन्ध" की अवधारणा काश्मीर शैव-दर्शन के परमतत्त्व या अन्वयतत्त्व के स्वरूप से तुलनीय है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी मसनवियों में इस्लामी धर्म-दर्शन

भारत में कथात्मक काव्य लिखने की बडी ही प्राचीन परम्परा रही है। संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश तथा अन्य भारतीय भाषाओं में इस प्रकार के साहित्य का विपुल भंडार है। फिर भी इनकी कोई निश्चित रचनात्मक पद्धति दिखाई नहीं पड़ती और न इसमें एक-रूपता ही मिलती है। परवर्ती हिंदी भाषा में भी कथात्मक या प्रबन्धात्मक रचनाएं होने लगी जिसमें उसी प्राचीन परम्परा का निर्वाह किया गया। बाद में भारतीय मुस्लिम सूफी कवियों ने अपनी कथात्मक रचनाओं के द्वारा सांस्कृतिक समन्वय का काम आरम्भ किया जिनको प्रेमाख्यान, प्रेमगाथा आदि कहा जाने लगा। आचार्य शुक्ल ने इनको सूफी मसनवियों की भी संज्ञा दी। इन प्रेमगाथाओं की रचना फारसी की मसनवी परम्परा पर ही हुई। फारसी का मसनवी साहित्य बड़ा ही समृद्ध रहा है। हिन्दी के सूफी कवियों ने फारसी की इन मसनवियों का ही आधार ग्रहण किया और इनकी रचना उसी निश्चित शैली पर ही की। इसमें प्रारम्भ में हम्द या ईशवन्दना, नात या ह. मोहम्मद की तारीख, शाहे वक्त का गुणगान, गुरु या पीर की प्रशंसा, आत्म-परिचय, ग्रंथ-रचना का काल और कारण देने के बाद ही कथानक का आरम्भ होता है। कथा का विभाजन सर्गों, या कांडों या अध्यायों में न होकर घटनाओं या शीर्षकों के आधार पर होता है। इस रचना-पद्धति में सूफियों के पहले कोई काव्य नहीं मिलता। ईशवन्दना या राजप्रशस्ति मात्र यदि कहीं पर मिल जाय तो वही पर्याप्त नहीं है। वास्तविकता यह है कि सबसे पहले फारसी की मसनवी पद्धति को नियमित रूप से अपनाने का, उसको लोकप्रिय बनाने का प्रयास सूफी कवियों द्वारा ही किया गया। भारत में पहले दोहा या चौपाई छन्द में अलग-अलग कथात्मक काव्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखा जाता था। हिन्दी में सबसे पहले मुल्ला दाऊद ने चन्दायन में दोनों को साथ रखकर अपने काव्य की रचना की और फारसी मसनवी परम्परा का निर्वाह किया। इनके बाद इसकी एक नियमित रूप परम्परा ही सूफी कवियों ने प्रारम्भ कर दी और अन्त तक करते रहे। ऐसे कवियों में कुत्बन, मंझन, उसमान, जायसी, निसार, कासिम शाह, शेख नबी, शेख रहीम आदि के नाम दिये जा सकते हैं।

कुछ लोगों का विचार है कि शिल्प से अधिक महत्त्व कथ्य का होता है। अतः कथानक को महत्त्वपूर्ण मान लेने पर उसकी परम्परा बहुत पहले प्राप्त हो सकती है। किन्तु कथ्य के साथ निश्चित शिल्प–विधि भी आवश्यक है। क्यों कि इसी से रचनाओं का कभी–कभी वर्गीकरण होता है। इसीलिए फारसी की मसनवी पद्धति को ही हिन्दी के सूफी कवियों ने अपनाया और अपनी मसनवियों की रचना की। इस आधार पर इनको मसनवी ही कहा जाना चाहिए। मसनवियों का उत्स प्राचीन भारतीय साहित्य में ढूंढने का प्रयास तोड़–मरोड़ ही कहा जायेगा।

इन मसनवियों में सभी सूफी तत्त्व स्वाभाविक रूप से समाहित हो गए हैं जिसका विधिवत् विश्लेषण हो चुका है। उन मुस्लिम कवियों के मसनवी काव्यों में विद्यमान इसलामी तत्त्वों की तलाश अभी तक नहीं हो सकी है। हिन्दी मसनवियों में इन्हीं इस्लामी तत्त्वों की तलाश अभी तक नहीं हो सकी है। हिन्दी मसनवियों में इन्हीं इस्लामी तत्त्वों की तलाश करने की चेष्टा मैंने बड़े विस्तार से की है। विषय–विशिष्टता के लिए केवल नूर मुहम्मद कृत इन्द्रावत को ही लिया जा रहा है। दक्खिनी हिन्दी मसनवियों के बारे में उत्तर भारत के अधिकांश हिन्दी पाठक कम परिचित हैं। इससे भाषायी विकास परम्परा और हिन्दी के पूर्व मसनवियों की स्थिति का सही अनुमान नहीं हो पाता।

सुविधा के लिए इस्लाम के मूल सिध्दान्तों का विवेचन और संक्षिप्त परिचय देना बहुत आवश्यक है। इस्लाम के मूल सिद्धान्तों में अकीदा, नमाज, रोजा, जकात, हज का विधान मुख्य है। अकीदा में एक ही ईश्वर पर ईमान, ह. मोहम्मद और अन्य पैगम्बरों पर ईमान या श्रध्दा, देवदूतों या फरिश्तों पर ईमान, कुरान और अन्य आसमानी पुस्तकों पर ईमान, आखिरत पर ईमान प्रमुख हैं। इन्हीं को इस्लामी शरीअत कहते हैं। सूफी विचारधारा के अनुसार भी शरीयत का पालन प्रत्येक मुसलमान के लिए अनिवार्य बताया गया है। इन मसनवियों में ईश्वर, ह. मुहम्मद, आखिरत, फरिश्तों, नमाज, रोजा आदि शरीअत के सिध्दान्तों के प्रति विश्वास व्यक्त किया गया है। इनके अतिरिक्त इस्लाम की कुछ विशिष्ट मान्यताए भी हैं; मूर्ति–पूजा का विरोध, स्वर्ग और नर्क के सम्बन्ध में, पाप–पुण्य के सम्बन्ध में इसलामी दृष्टिकोण, इस्लामी घटनाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के प्रति आस्था. मुसलिम व्यक्तिगत जीवन-व्यवस्था के प्रति आस्था मुख्य हैं। इसमें खान-पान, व्यवहार, सदाचरण, पवित्रता, पड़ौसी, माता-पिता, यतीमों के लिए अपने कर्तव्यों के प्रति भी इस्लाम का विशिष्ट दृष्टिकोण रहा है। इसके लिए हदीस और सुन्नत आधार-स्रोत हैं। इन स्थानों की विस्तार से तलाश की जाय जहां ये समस्त इस्लामी दृष्टिकोण व्यक्त किये हैं। यह कार्य हमारे लिये बहुत उपयोगी सिध्द होगा।

नूर मोहम्मद ने अपने इंद्रावत में इन तत्वों को समाने की सुन्दर चेष्टा की है। नूर मोहम्मद बहुत बडे सूफी और मुस्लिम कवि थे जो इस्लामी कट्टरता के लिए भी याद किए जाते हैं। इसको उनके प्रति अनुदार कथन ही कहा जायगा। अपने धर्म का अनुपालक होने वाले के लिए भारत में कट्टर शब्द प्रचलित कर दिया गया है। उन्होंने अपनी रचनाओं में इस्लाम की उदारता और वैज्ञानिकता का सदुपयोग करने की चेष्टा की है। इसमें कवि का उद्देश्य इस्लाम को लोकप्रिय बनाना और उसकी अच्छाइयों और महानतता से सर्व-साधारण को परिचित कराना था। इसलिए इस्लाम के मूल सिध्दान्तों, इस्लामी घटनाओं और महान् चरित्रों का आदर्श अपनी रचना में प्रस्तुत करके उसे और भी उदार बनाने की चेष्टा उन्होंने की है। उसे कवि की राष्ट्रीय भावना और धार्मिक उदारता का उपयोगी उदाहरण ही कहा जाना चाहिए। अनेक शोधकार्यों में साम्प्रदायिक सद्भावना, राष्ट्रीय एकता के लिए किये गये कवि के प्रयासों को उजागर करने का पुनीत एवं मूल्यवान् कार्य होना चाहिए।

इन्द्रावत का प्रकाशन समग्र रूप में अभी तक नहीं हो सका है। इसके अट्ठारह खंड नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित किये गये हैं जो कैथी लिपि की किसी खंडित प्रति के आधार पर हुए थे। इस प्रति को नागरी प्रचा-रिणी सभा के भंडार में सड़ाया जा रहा है। मैंने बडे प्रयास से इसकी एक उर्दू प्रति प्राप्त कर ली है जो कवि के निवास स्थान सबरहद से सुलभ हुई है। इसे नागरी लिपि में लिखने का कार्य भी सम्पन्न हो गया है। मेरे पास हाथ से लिखे हुए सम्पूर्ण इन्द्रावत का हिन्दी पाठ भी विद्यमान है। इन्द्रावत में इस्लामी अन्तर्कथाओं और महापुरुषों का जीवन भी कहीं कहीं उभार कर सामने लाया गया है। मूर्तिपूजा और पुर्नजन्म के विरोध के भी कई प्रसंग मिल जाते हैं। इससे कवि के इस्लामी विचारों की पुष्टि होती है। पवित्रता, सदाचरण आदि के बारे में भी इस्लामी दृष्टिकोण इन्द्रावत में प्राप्त होते हैं। इस्लामी विशिष्ट जीवन सम्बन्धी व्यवस्था का स्वस्थ वातावरण इन्द्रावत के सम्पूर्ण कलेवर में दिखाई पड़ता है। इससे इस्लाम के प्रति कवि की गहरी आस्था की झलक मिल जाती है। सांस्कृतिक नवजागरण के लिए इस सूफी के द्वारा किया गया यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयास बड़ा ही मूल्यवान् है। इस्लाम का उदार और सीधा साधा स्वरूप बड़ी ही सहज और सुबोध भाषा में प्रस्तुत करने और उसको लोकप्रिय बनाने का सद्-प्रयास नूर मोहम्मद ने इन्द्रावत में बड़ी ही गम्भीरता से किया है। उनका यह कार्य भारत की वर्तमान विषम परिस्थितियों में संजीवनी का काम कर सकता है। पूर्वाग्रहविहीन और स्वच्छ मन से ही मसनवीकारों के इन प्रयासों का अवलोकन किया जा सकेगा। इससे राष्ट्रीय एकता, साम्प्रदायिक सद्भावना भावनात्मक एकता, भाषायी उदारता के लिए बहुत ही पुष्ट सामग्री प्राप्त होती है। इन्द्रावत में वे सारे तत्त्व विद्यमान हैं जो व्यक्ति को सही मानव बना देते हैं। सच्ची मानवता या इन्सायित के लिए सभी उपयोगी अवदान इस काव्य में विद्यमान हैं।

सूफी कवियों के सांस्कृतिक समन्वय अभियान को एक बार फिर उजागर करना चाहिए। इस्लाम के मूल सिद्धान्तों, इस्लामी जीवन व्यवस्था और इस्लामी इतिहास की उपयोगी झांकी प्रस्तुत करके इन कवियों ने जो काम किया है उसकी मिसाल भारत ही क्या संसार के इतिहास और साहित्य में उपलब्ध नहीं होती। इस दृष्टि से हिन्दी की मसनवियों का एक बार फिर अवलोकन होना चाहिए। हमारी वर्तमान सामाजिक, पारिवारिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, भाषायी, धार्मिक, राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान की प्रचुर सामग्री इनमें विद्यमान है और बड़ी ही उदारता और सद्भावना के साथ प्रस्तुत की गई है। सारी सामग्री को उजागर करके उन महान् मसनवीकारों के सद् उद्देश्यों को प्रस्तुत करना चाहिए। मुझे आशा है कि इस कार्य से आपसी सम्बन्धों के सुधार में पुष्ट ऊर्जा प्राप्त होगी। इसके लिए पूर्वाग्रहों को त्याग कर इन रचनाओं का अध्ययन करना पड़ेगा और उनके प्रयासों को गले लगाना पड़ेगा। ऐसा दृढ संकल्प और उदार मनोवृत्ति से ही सम्पन्न हो सकता है। ऐसी स्थिति में ही उदाराशय मसनवीकारों का सही मूल्यांकन हो सकेगा।

ज़रीना रहमत

द्वारा श्री. मुहम्मद याकूब हाशमी
बी. ३०२, राजकीय निर्माणनिगम
कालोनी, इंदिरानगर सेक्टर १९,
लखनऊ
(उ. प्र)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांख्य की मूल प्रकृति की संकल्पना

समस्त संसार कौतुहलपूर्ण सर्जना है। आदिकाल में जब मानवीय सृष्टि हुई होगी तब का मानव अपने चारों ओर नाना रूपात्मक प्रकृति देख कर स्तंभित रह गया होगा, तब ही नहीं वरन् आज भी सुविस्तृत असीम गगनमंडल, विशाल पृथ्वी, अथाह जलसागर, पेड़–पौधे, पहाड़ आदि देख कर मानव को आश्चर्य करना पड़ता है। शायद इसी आश्चर्य से उत्पन्न जिज्ञासा ने मानव को सृष्टि की उत्पत्ति के स्त्रोतों के ज्ञान–प्राप्ति हेतु विवश किया होगा, फलस्वरूप सृष्टि की उत्पत्ति से संबंधित कई सिध्दांतों का जन्म हुआ। जिनमें मुख्य तीन हैं –

प्रथम सिध्दांत के अनुसार जगत् की उत्पत्ति 'अचेतन' तत्त्व से हुई है तथा जो चेतन तत्त्व की चेतनता दिखलाई पड़ती है, वह अचेतन तत्त्व का ही विकसित विकार है।

द्वितीय सिध्दांतानुसार जगत् की उत्पतित का मूल आधार 'चेतन तत्त्व' है, तथा तृतीय सिध्दांत की मान्यता है कि इस जगत् में चेतन व अचेतन दो तत्त्व स्पष्ट गोचर होते हैं, अतएव इस जगत् की उत्पत्ति चेतन व अचेतन दोनों तत्त्वों के सहयोग से हुई है।

सांख्य दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कपिल ने उपरोक्त सिध्दांतों में तृतीय सिध्दांत का प्रतिपादन किया है। 'दार्शनिक विचारधारा के आदि उदयकाल में कपिल ने इस वास्तविकता को गहराई तक समझा और उसके फलस्वरूप प्रतिपादन किया कि चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के तत्त्वों का वास्तविक अस्तित्व परस्पर विरोधी न होकर सहानुभूतिपूर्ण रहता है, तथा इसी के सहयोग के आधार पर संसारचक्र चालू है। इस प्रकार समूचे जड़-जगत् का मूल उपादान जड़ प्रकृति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और उसके सहयोग में चेतन अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है, यह अधिक युक्तियुक्त है। यह कहना कठिन एवं अप्रामाणिक होगा कि एक ही जड़ अथवा चेतन तत्त्व समस्त चेतन–अचेतन जगत् का मूल है'[१]।

सांख्य दर्शन द्वैतवादी दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि यह प्रकृति (अचेतन तत्त्व) और पुरुष (चेतन तत्त्व) दो निरपेक्ष, स्वतंत्र तत्त्वों की सत्ता को स्वीकार करता है। सांख्य दर्शन के अनुसार समस्त विश्व के असंख्य परिवर्तनशील पदार्थ किसी न किसी उपादान कारण से उत्पन्न हैं, ये उपादान कारण भी अन्य किसी कारण के कार्य हैं और इस प्रकार कारण–कार्य की लड़ियों की अन्वेषणा करते हुए हम एक ऐसे कारण का अनुमान करते हैं, जिससे समस्त विश्व की रचना होती है। इस मूल कारण को सांख्य शास्त्र में प्रकृति कहा जाता है।

(प्रकृष्टम् करोति इति प्रकृतिः)

अर्थात् प्रकृति वह है जो श्रेष्ठ संरचना करने में दक्ष हो। सत्त्व, रजस्, और तमस् की साम्यावस्था को भी प्रकृति कहा जाता है, किंतु तीनों गुणों की साम्यावस्था का मात्र उल्लेख है। अन्यथा ऐसी स्थिति कभी हुई है, ऐसे कहने का यहाँ तात्पर्य नहीं है। मात्र उक्त अवस्था को प्रकृति की परिभाषा के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। सारा जड़–जगत् इस प्रकृति का परिणाम है। तीन गुण–सत्त्व, रजस्, तमस्–प्रकृति का स्वरूप है। पुरुष के सामीप्य से उक्त तीनों गुणों में साम्यभंग होता है व सृष्टि की उत्पत्ति होती है। तथा जितने पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वे इन तीन गुणों से युक्त होते हैं। तीनों गुणों में सत्त्व गुण सुखस्वरूप, रजोगुण दुःखस्वरूप तथा तमो गुण मोहस्वरूपात्मक है।

व्यक्त जगत् की उत्पत्ति के पूर्व प्रकृति की अव्यक्तावस्था का अनुमान करके बतलाया गया है, कि अव्यक्त प्रकृति नित्य, व्यापक, स्वतंत्र तथा एक है। यह निष्क्रिय है। सवाल उठता है कि प्रकृति निष्क्रिय है तो जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई ? किंतु निष्क्रियता के दो अर्थ होते हैं; एक तो क्रिया का सर्वथा अभाव; दूसरा, क्रिया कर सकने की क्षमता रहने के बावजूद क्रिया न कर सकना। जैसे, एक पत्थर व सोया हुआ जीव। पत्थर और सोया जीव दोनों निष्क्रिय हैं, किंतु एक में क्रिया का सर्वथा अभाव है तथा दूसरे में क्रिया का अभाव नहीं है। प्रकृति की स्थिति यहाँ दूसरे प्रकार की है। जब तक चेतन पुरुष का सामीप्य नहीं है, तब तक वह विकारों को उत्पन्न करने की क्षमता रखने के बावजूद निष्क्रिय है। "यद्यपि अव्यक्त में परिणाम लक्षणा क्रिया विद्यमान है, तथापि उसमें परिस्पंदन रूप क्रिया (चलन) का अभाव है"।[२] इसके अतिरिक्त प्रकृति न तो किसी में लीन होती है न ही किसी के अनुमान में लिंग है। यह सबका कारण होते हुए भी स्वयं अकारण, निरवयव तथा स्वाश्रित है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अव्यक्त प्रकृति के विशिष्ट धर्मों के विपरीत व्यक्त प्रकृति (विकास) के भी नौ धर्म है :—

अव्यक्त प्रकृति से उत्पन्न व्यक्त पदार्थ सकारण, अनित्य तथा अव्यापि हैं। यहाँ अनित्य का अर्थ नष्ट हो जाना न होकर परिवर्तनशीलता से है। व्यक्त पदार्थों में परिवर्तन होता रहता है। वे अनेक हैं तथा अपने कारण पर आश्रित हैं। व्यक्त पदार्थ अनुमान में लिंग हैं। वे सावयव हैं तथा अपने कारण पर आश्रित होने के कारण परतंत्र भी हैं, सक्रिय भी है।

अब चूंकि अव्यक्त प्रकृति एवं व्यक्त पदार्थ में मूलकारण व कार्य का संबंध है अतएव इनकी आपस में समानता भी है। दोनों त्रिगुण (सत्व, रजस्, तमस्) संपन्न हैं। दोनों अचेतन होने के कारण अविवेकी हैं। बुद्धि (महत्) में साधारणतया जिस विवेक की उपलब्धि होती है, वह बुद्धि की स्वाभाविक प्रवृत्ति न हो कर चैतन्य का परिणाम है।

व्यक्त पदार्थों की विषयता तो लोक-प्रसिद्ध है ही। सांख्य में प्रकृति को भी प्रमाण का विषय माना जाता है। इसके अतिरिक्त दोनों के समान गुणों में अचेतता, सामान्यता तथा प्रसवधर्मिता आते हैं।

सांख्य दर्शन में प्रकृति को अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध किया गया है। इसके लिये एक कारिका है, जो आर्यमति ईश्वर कृष्ण द्वारा रचित सांख्यकारिका में उपलब्ध है :-

भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्य विभागाद् अविभागाद् वैश्वस्वरूपस्य ॥

अर्थात्, लोक के पदार्थ परिमित परिणाम वाले, एक दूसरे से उत्पन्न होने वाले होते हैं। उनका एक साधारण धर्म होता है, जो सब भेदों का समन्वय करता है तथा उन पदार्थों का कोई न कोई कारण भी अवश्य होता है, जिसके ये कार्य होते हैं, तथा विनष्ट होने के पश्चात् अपने इस कारण में लीन हो जाते हैं।

पदार्थों की उक्त विशेषताओं के आधार पर दो पक्ष स्पष्ट होते है। एक तो संसार की कारण परंपरा में जितनी भी कारण – शक्तियां हैं, वे भिन्न-भिन्न हैं, अथवा दूसरा कि वे सभी किसी एक शक्ति की विभिन्न अभिव्यक्तियां हैं।

प्रथम पक्ष में दोष होने के कारण द्वितीय पक्ष युक्तियुक्त है। इसके अनुसार आदि शक्ति अपरिच्छिन्न, अपरिमित, समस्त पदार्थों का समन्वय करने वाली, उन्हें परिणामों की ओर प्रवृत्त कराने वाली, किसी में लय न होने वाली, समस्त जगत् का कारण, अव्यक्त रूप से उपस्थित प्रकृति ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांख्य दर्शन में प्रकृति संबंधी उपरोक्त वर्णन उपलब्ध है। इससे स्पष्ट है कि प्रकृति एक अचेतन तत्त्व है जो चेतन के सहयोग से सक्रिय हो विकारों (जगत्) को उत्पन्न करती है। किंतु वर्तमान में प्रचलित विचारधारा में सांख्य सिद्धांतों एवं कारिकाओं के अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किये गये हैं कि संपूर्ण सांख्य दर्शन विसंगतियों से युक्त दृष्टिगोचर होता है। ये मान्यतायें निम्नलिखित हैं -

१. अचेतन प्रकृति को क्रियाशील माना गया है। फलस्वरूप पुरुष का स्वरूप शुद्ध-बुद्ध नित्यमुक्त समझा जाता है। बंधन व मोक्ष प्रकृति को प्राप्त होते हैं।

२. संपूर्ण दर्शन अनीश्वरवादी माना जाता है।

३. मोक्ष का अर्थ पुरुष की प्रकृति से हमेशा के लिये मुक्ति मान लिया जाता है।

४ पुरुष को अक्रिय तथा निष्क्रिय माना जाता है, जबकि भोक्तृत्व व कैवल्य उसका स्वभाव है।

प्रथम मान्यता के संबंध में कहा जाता है कि 'सांख्य दर्शन में मोक्ष केवल प्रतीति मात्र है। क्योंकि बंधन का संबध पुरुष के साथ है ही नहीं। बंधन और मुक्ति पुरुष के संयोग-वियोग को बतलाते हैं जो अभेद एवं भेद ज्ञान का परिणाम है'।[३] "प्रकृति पुरुष को बंधन में नहीं डालती, परंतु नानाविध रूपों में स्वयं अपने को बंधन में डालती है। इस प्रकार यह सब अचेतन प्रकृति का कमाल है। पुरुष तो नित्य मुक्त शुद्ध-बुद्ध है।" "पुरुष तो चैतन्यमात्र है, कूटस्थ है; नित्यमुक्त है और सांसरिक दुःखानुभव रूप भोग परिणामिनी बुद्धि का धर्म है।" "वास्तव में पुरुष को न बद्ध होना है न मुक्ति पाना है।"[४]

उपर्युक्त विचार तो सांख्य प्रवंतकों को ऐसे कवि सिद्ध करते हैं, जिन्हें कल्पना द्वारा जो उचित लगता है, वैसा ही कविता में लिख देते हैं।

यह बार-बार स्पष्ट किया गया है कि सांख्य में प्रकृति अचेतन है तथा वह चेतन पुरुष के संयोग से ही सर्गोन्मुख होती है। "यदि चेतन क्रियायें ही न होती तो क्या स्थूल पदार्थ, व्यक्त जड़ तत्त्व किसी चेतन के अनुमान में आधार बन सकते हैं।"[५] इन दोनों की सहचारिता का उत्कृष्ट प्रमाण 'पुरुष की अनेकता' की सिद्धि है, जिसमें प्रकृति के विकारों के क्रियाकलापों व्दारा पुरुष-बहुत्व सिद्ध होता है। फिर भी यह समझ में नहीं आता है कि मोक्ष के लिये प्रकृति को ही उत्तरदायी क्यों माना जाता है, जबकि पुरुष भी इसमें बराबर का हिस्सेदार है। एक बार यह मान भी लिया जाये, (हालांकि यह असांख्यीय कोशिश होगी) कि प्रकृति मुक्त होती है तथा बंधन में पड़ती है, तब यह सवाल तत्काल उठता है कि फिर पुरुष नित्यमुक्त होते हुये भी बंधन में क्यों पड़ जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईश्वर कृष्ण की **सांख्य कारिका** सांख्य-दर्शन की प्रमाणिक रचना मानी जाती है। इसमें सत्रहवीं, अठारहवीं व उन्नीसवीं कारिका में पुरुष के स्वरूप तथा अस्तित्व को प्रमाणित किया गया है। सत्रहवीं कारिका पुरुष के स्वरूप तथा अस्तित्व एवं अठारहवीं कारिका पुरुष-बहुत्व के लिये है। किन्तु समस्या उन्नीसवीं कारिका के कारण उठती है। उसमें पुरुष को साक्षी, केवल द्रष्टा आदि बतलाया गया है। ' साक्षी, अकर्ता, द्रष्टा व केवल जीवात्मा जन्म-मृत्यु में कैसे फँसा ? उत्तर होगा अज्ञान के कारण। लेकिन प्रश्न अपनी जगह पूर्ववत् रहता है। अज्ञान कहां से आया ? सांख्य तो सत्कार्यवादी है। जो स्वरूपत: मुक्त है वह बंधन में पड़ ही नहीं सकता। यदि जीवात्म पुरुष को अल्पज्ञ मानें तो वह साक्षी, द्रष्टा, केवल, अकर्ता आदि नहीं हो सकता।"[६]

उपरोक्त विवेचन से कठिनाई रूपी ताले की कुंजी मिल जाती है। अर्थात्, समस्यायें तब उठ खडी हुई हैं, जब सांख्य-दर्शन की संपूर्ण परंपरा पर बिना विचार किये प्राप्त कारिकाओं व सिध्दांतों का मनमाना अर्थ मान लिया गया है। प्रकृति का कर्तृत्व भी सांख्य कारिका बासठ के अर्थ के आधार पर माना जाता है। प्रचलित मत का तो उल्लेख किया जा चुका है। एक अन्य विचारानुसार बतलाया गया है कि **सांख्य सप्तति** की ६२ वीं आर्या में जिस भावना को व्यक्त किया गया है उसका यही स्वरूप समझा जाता है कि चेतन आत्मा स्वत: स्वभावत: न बध्द होता है, न मुक्त होता है और न वह स्वत: विविध योनियों में संसरण करता है, प्रत्युत प्रकृति के संपर्क में आने से वह बध्द कहा जाता है तथा प्रकृति के संपर्क में न रहने से मुक्त।"[७]

इसे और स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है :-

"वह कारिका जिसमें बंधन, संसरण व मोक्ष पुरुष का नहीं – ऐसा सिध्दांत ग्रहण होता है। वस्तुत: सिध्दांत निरूपण में प्रयोजक नहीं है। जीवात्म पुरुष चैतन्य स्वरूप है अत: भोक्ता भी वही है, संसरण भी वही करता है। अचेतन प्रकृति और उसके विकार साधन हैं। प्रकृति भोग करती है – ऐसा मानना हास्यास्पद ही नहीं है, बल्कि एक सुप्रतिष्ठित प्राचीन दर्शन पर जिसके बारे में कहा गया है कि ' ज्ञानेनानेन तुल्यं ज्ञानं न विद्यते ' ऐसी मान्यता आरोपित करना भी हास्यास्पद है।"[८]

अत: उपर्युक्त विचार से स्पष्ट होता है कि बिना प्राकृतिक साधनों के पुरुष के लिये भोग व मोक्ष संभव नहीं है। तथा साधनरूपता प्रकृति का स्वभाव है। जैसे – 'गीली मिट्टी' से मूर्ति, खिलौना, घडा आदि कुछ भी तैयार किया जा सकता है, अर्थात् उस गीली-मिट्टी में कुछ भी तैयार करने की संभावनायें (प्रयोजन) हैं, किंतु उसका अपने में कोई उद्देश्य नहीं है। उद्देश्य तब उसमें आता है जब उससे (गीली-मिट्टी) कोई विशेष वस्तु तैयार की जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी प्रकार प्रकृति में पुरुष के भोग व अपवर्ग का प्रयोजन स्वभावतः है। किंतु बिना चेतन तत्त्व के उसका कोई उद्देश्य नहीं है।

सत्तावनवीं कारिका में बतलाया गया है कि अचेतन पदार्थ की प्रवृत्ति भी पर प्रयोजनार्थ हुआ करती है, जैसे वत्सविवृद्धि-निमित्त क्षीर की निःस्वार्थ प्रवृति होती है, उसी तरह पुरुष के मोक्ष के लिये प्रकृति की भी प्रवृत्ति होती है। प्रकृति की प्रवृत्ति (प्रयोजन) का अर्थ यहाँ स्पष्ट है, अर्थात् बछडे के वृद्धि हेतु क्षीर की प्रवृत्ति (प्रयोजन) स्वाभाविक है। किंतु यहाँ आलोचना की जाती है कि गाय व बछड़ा दोनों चेतन हैं तथा गाय में वात्सल्य प्रेम जमा रहता है, जिसके कारण दुग्ध बहता है। प्रकृति अचेतन है, अतः उसमें चेतन तत्त्व उत्पन्न नहीं हो सकते।

यही आलोचना अंध-पंगु दृष्टांत पर भी की जाती है कि अंधा व्यक्ति व लंगड़ा व्यक्ति दोनों चेतन हैं, जबकि प्रकृति अचेतन व पुरुष चेतन तत्त्व हैं। किंतु उपरोक्त आलोचना की निरर्थकता को दिखलाते हुये सांख्य विव्दानों का कहना है कि दृष्टांत में सत्य बतलाने के लिये एक सीमित उद्देश्य रहता है न कि पूरा दृष्टांत सिद्धांत पर खरा उतरता है। वे प्रश्न करते हैं – क्या सांख्याचार्य, जिन्होंने इतने यूक्तियुक्त व वैज्ञानिक सिद्धांतों को प्रस्तुत किया है, उन्हें पता न होगा कि अंध-पंगु व गाय-बछडा चेतन हैं ?

दरअसल 'अंध-पंगु' दृष्टांत प्रकृति व पुरुष में निहित अभाव तथा उसे दूर करने के लिये संयोग को बतलाने के लिये दिया है। यह वैसा ही है, जैसा पाश्चात्य दार्शनिक काण्ट (ज्ञान) के संबंध में कहते हैं कि "इद्रिय संवेदनों के बिना बुद्धि-विकल्प पंगु या शून्य है, तथा बुद्धि-विकल्पों के बिना इद्रिय-संवेदन अंधा है।"

सांख्य ने पुरुष को पंगु तथा पुरुष के बिना प्रकृति को अंधा माना है। यह दृष्टांत व्यक्ति रूप में तुल्य नहीं है वरन् इसमें अधत्व व पंगुत्वरूपी अभाव के बाद भी उद्देश्य पूर्ति को दर्शाया गया है। एक अभाव प्रकृति में है, वह जड़ है, स्वतः प्रवृत्त नहीं हो सकती है व पुरुष में भी एक अभाव है, वह पंगुत्व रहित है अर्थात् जडोत्पत्ति में असमर्थ है। फलस्वरूप अपनी इस कमी को दूर करने के उद्देश्य से अभिप्रेरित संयोग स्थापित करते हैं।

इस तरह "वत्स व क्षीर" वाले दृष्टांत में चेतन धेनु का प्रश्न ही नहीं है। यहां तो केवल यह कहा जा रहा है कि भोग्य रूप में प्रकृति की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। अचेतन क्षीर है। प्रवृत्ति क्षीर की होती है, धेनु अथवा धेनु की चेतना की नहीं। तृणादि भक्षण का उद्देश्य क्षीर निर्माण नहीं वरन् क्षुधा-तृप्ति है। क्षीर बनना चाहिये ऐसी चेतन धेनु की इच्छा नहीं होती। 'क्षीर को पोषक होना चाहिये' ऐसा निर्देश धेनु के द्वारा नहीं दिया जाता। क्षीर बनता है और उसमें स्वभावतः पोषणता है। इसी तरह मुझे पुरुषार्थ हेतु प्रवृत्त होना चाहिये ऐसा सोच

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर प्रकृति की प्रवृत्ति नहीं होती। पुरुष सन्निधिमात्र से वह सर्गोन्मुख हो जाती है। प्रकृति के विकारों का स्वरूप ही ऐसा है कि वह पुरुषार्थ हेतुक हो जाते हैं। इस स्वाभाविकता का यहां उल्लेख है।[९]

"ऐसा प्रतीत होता है कि किन्हीं ऐतिहासिक कारणों से (सम्भवतः बौद्ध प्रभाव से) कारिकाओं को निरीश्वरवादी मान लिया गया और ऐसी हर संभावना को, जिससे कारिकायें परमात्मवादी निरूपित होती हैं, बलात् अन्यथा व्याख्यायित कर दिया गया।[१०]

इसी तरह प्रारंभ में जो सत्रहवीं, अठारहवीं व उन्नीसवीं कारिका में एक ओर पुरुष को अल्पज्ञ, भोक्ता तथा दूसरी ओर उसके साक्षी, अकर्ता आदि स्वरूप की जो समस्या उठाई गई थी, उस विसंगति को जीवात्मा के अलावा "परमात्मपुरुष" मान कर दूर किया जा सकता है। 'चेतना (का एक प्रकार) संसरणशील है। जो जन्मता है, मरता है, प्रवृत्त होता है व संख्या में अनेक है। और परमात्मा इन बातों से विपरीत होने से चेतना (का अन्य प्रकार) साक्षी, केवल, मध्यस्थ, द्रष्टा, अकर्ता सिध्द होता है। इस प्रकार जन्म-मरण आदि के आधार पर जीवात्मा की सिध्दि और. इसके विपरीत अज, अमर, प्रवृत्तिरहित बहुत्व के विपरीत एक परमात्मा की सिध्दि उन्नीसवीं कारिका में है।[११]

सांख्य-दर्शन में जगदुत्पत्ति में प्रवृति को ही महत्त्व देने का उद्देश्य मात्र यह दिखलाता है कि जगत् में नानारूपात्मकता, विविधता व विषमता का कारण पुरुष (जीवात्मा या परमात्मा) नहीं, अपितु प्रकृति की त्रिगुणात्मकता ही है। नानारूपात्मकता का कारण यदि ईश्वरेच्छा या पुरुषेच्छा को मानें तो ईश्वर की पूर्णता, आप्तकामत्व अथवा पुरुष-निर्गुणत्व विसंगत निरूपित हो जाता है। जीवात्मा यदि सृष्टि की विषमता का प्रमुख कारण है तो 'बंधन' संभव नहीं होगा। ईश्वर प्रमुख कारण हो तो 'मोक्ष' संभव नहीं होगा या ईश्वर कृपा पर निर्भर करेगा। दोनों ही स्थितियां जीवात्मा के कर्म या संकल्प स्वातंत्र्य को असंभव निरूपित करती हैं। विविधता, विषमता, अचेतन प्रकृति के परस्पर गुणों की परस्पर क्रिया का सहज परिणाम हो तो उनके भोग अथवा उनसे उदासीन होना पुरुषाधीन माना जा सकता है। इस प्रकार जगत् विषमता की युक्तिसंगत व्याख्या और आत्मा की स्वतंत्रता की स्वीकृति दोनों ही सांख्य सम्मत प्रकृति की संकल्पना के मूल में निहित है, संभव है।

हरनामसिंह अलरेजा

१०, रायपुर नाका
भिलाई हाऊस के पास
सिन्धी कालोनी
दुर्ग
(म. प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टिप्पणियां

१. सांख्य सिद्धांत, आचार्य उदयवीर शास्त्री पृष्ठ – १४४
२. ज्योतिष्मती व्याख्या, श्री. रमाशंकर भट्टाचार्य पृष्ठ – ६०
३. भारतीय दर्शन, डॉ. राधाकृष्णन, पृष्ठ – ३०८
४ सांख्य तत्त्व कौमुदी, संपा. डॉ. गजानन शास्त्री मुसलगांवकर. पृष्ठ – २८८
५. परामर्श (हिन्दी), १९८८, पृष्ठ – ३६१
६. वहीं 'क्या ईश्वर कृष्ण निरिश्वरवादी थे' पृष्ठ – ३७५
७. सांख्य सिद्धांत, आचार्य उदयवीर शास्त्री, पृष्ठ – १८७
८. परामर्श (हिन्दी), १९८१ "ईश्वर कृष्ण का मोक्ष,–चिंतन" पृष्ठ – २८४
९. परामर्श (हिन्दी), १९९० "ईश्वर कृष्ण की सृष्टि–मीमांसा" पृष्ठ – ७१
१०. परामर्श (हिन्दी), १९८८, पृष्ठ – ३६७
११ वहीं, पृष्ठ – ३६८

उक्त निबन्ध को प्रोफेसर जी. आर्. मलकानी निबन्ध–प्रतियोगिता में द्वितीय पुरस्कार से सम्मानित किया गया था।

– सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रोफेसर देवराज का व्यक्ति-संबंधी सिद्धान्त : एक समीक्षा

इस लेख में मैंने प्रो. देवराज के 'टुवर्ड्स ए थ्योरी ऑफ परसन' शीर्षक के उस शोध-पत्र को परिचर्चा का विषय बनाया है, जो उन्होंने नवम्बर १९८२ में इंटरनैशनल सोसायटी फॉर मेटाफिजिक्स तथा दिल्ली विश्वविद्यालय के संयुक्त तत्त्वावधान में आयोजित गोष्ठी में प्रस्तुत किया था, तथा जो इंडियन फिलोसोफिकल क्वार्टरली (वॉल्यूम XI, नं. १) के जनवरी १९८४ के अंक में प्रकाशित किया जा चुका है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रो. देवराज की दृष्टि में यह लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उन्होंने अपने सम्प्रति प्रकाशित निबंध-संकलन का शीर्षक भी '**थ्योरी ऑफ परसन एंड अदर ऐसेस्** (Theory of Person and other Essays)'[१] रखा है।

लेख-शीर्षक से स्पष्ट है कि इसमें उन्होंने 'पर्सन' या व्यक्ति संबंधी अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन का प्रयास किया है। इसकी आवश्यकता संभवत: उन्होंने इसलिये अनुभव की हो कि आज तक 'व्यक्ति' शब्द का कोई सर्वस्वीकृत अर्थ न तो सामान्य प्रयोग में, और न ही दर्शन में सुनिश्चित हो सका है। इस संदर्भ में **एन्साईक्लोपोडिया ऑफ फिलोसोफी** में व्यक्त यह मान्यता स्वीकार करने योग्य है कि 'पर्सन' शब्द, तथा आधुनिक पाश्चात्य भाषाओं और संस्कृत भाषा में भी उसके प्राय: सजात शब्दों के अनेक प्रयोग हैं।[२] दर्शन के क्षेत्र में भी 'व्यक्ति' शब्द ऐसा शब्द है जिसके विभिन्न पारिभाषिक तथा अर्द्धपारिभाषिक प्रयोग रहे हैं।[३] वस्तुत: व्यक्ति की अवधारणा कभी भी एकार्थक नहीं रही। अनेकार्थक होने से ही यह दार्शनिक विचार-विमर्श का विषय रही है।

हमें 'व्यक्ति' शब्द, व्यक्ति की 'अवधारणा' तथा व्यक्ति के 'सिद्धांत'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में भेद करना चाहिये, यद्यपि व्यक्ति के सिद्धान्त में प्रथम दोनों का समावेश स्वाभाविक है। कुछ चिंतकों का अभिमत है कि किसी दार्शनिक के 'व्यक्ति के सिद्धान्त' का उल्लेख करना किंचित् भ्रामक है, क्योंकि 'व्यक्ति' की एक भी पूर्व-स्वीकृत परिभाषा नहीं है। सिध्दान्त की अपेक्षा हमें अधिक-से-अधिक इस या उस दार्शनिक द्वारा उसकी अपनी प्रणाली में एक अर्द्ध-पारिभाषिक पद के रूप में व्यक्ति पद के रूप में व्यक्ति पद के प्रयोग की बात करनी चाहिये।

इस कठिनाई से परिचित होने के कारण प्रो. देवराज सर्वप्रथम 'व्यक्ति' की परिभाषा देते हैं, तत्पश्चात् उस परिभाषा के आलोक में अपने सिध्दान्त प्रतिपादन करते हैं।

लेख के प्रारंभ में प्रो. देवराज विज्ञान व दर्शनशास्त्र के उद्देश्यों का सविस्तार उल्लेख करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि "दर्शनशास्त्र उन क्रिया-कलापों का आलोचनात्मक बोध है, जिन क्रिया-कलापों व्दारा सभ्य मानव कर्ता, चेतना के मूल्य संपन्न रूपों को उत्पन्न करता है।"[४] उनकी मान्यता है कि क्रियाकलाप या गतिविधि का गुणात्मक पक्ष और उसका उत्पाद या रचना तभी सार्थक होता है, जब यह किसी चेतन प्राणी अर्थात् मनुष्य से संबंधित हो। उनकी दृष्टि में सभ्य मनुष्य सर्कसंगत युक्तियां, सिध्दान्त, कलावस्तु आदि उत्पन्न व प्रस्तुत करने के लिये, तथा इसी तरह सत्कर्मों व श्रेष्ठ कर्मों की उपलब्दि के लिये अथक श्रम करता है, क्योंकि वह यह विश्वास करता है कि यह उपलब्धि उसके स्वयं के व्यक्ति (व्यक्तित्व) की श्रेष्ठता में योगदान करती है। वह यह विश्वास करता है कि प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः यह उनको भी लाभ पहुंचाती है जो अपने क्रियाकलापों व्दारा अभिव्यक्त या उत्पन्न मूल्यों पर चिंतन करते तथा सहभागी बनते हैं। उनके मतानुसार, यदि पूर्वोक्त तथा उनसे संबंधित अन्य क्रियाकलापों को उचित रूप से 'सांस्कृतिक' या 'आध्यात्मिक' कहा जा सके, तो उनका अव्यक्त अन्तर्निहित उद्देश्य सम्यक् रूप से 'सुसंस्कृत व्यक्तित्व तथा व्यक्ति' की रचना कहा जा सकता है। इस तरह प्रो. देवराज आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक गतिविधियों का अन्तर्निहित उद्देश्य सुसंस्कृत व्यक्तित्व का निर्माण मानते हैं,[५] और इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि चूंकि 'व्यक्ति' मानव व्दारा मूल्यों के अन्वेषण तथा अनुसरण की अंतिम रचना है, अतः वह दार्शनिक अनुसंधान का विषय है।

उपर्युक्त निष्कर्ष से यह प्रतिध्वनित होता है कि वे 'मनुष्य' तथा 'व्यक्ति' में भेद करते है। अर्थात् उनकी दृष्टि में ये दोनों शब्द पर्यायवाची नहीं हैं। दूसरा बिंदु, वे सांस्कृतिक व आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर मूल्यात्मक परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति की अवधारणा को समझाते हुऐ अपना सिध्दान्त प्रस्तुत करते हैं। यहाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'सांस्कृतिक' से उनका तात्पर्य 'सुसंस्कारित' से प्रतीत होता है जो स्वरूपतः अनिवार्य रूप से मूल्यों से संबध्द है। इस तरह संक्षेप में, डॉ. देवराज के मतानुसार मानव संस्कृति का चरमोद्देश्य सुसंस्कृत व्यक्ति की रचना है, और इसका साधन मानव व्दारा मूल्यों का अन्वेषण तथा अनुसरण है। वे कहते है कि जिन वस्तुओं तथा मूल्यों को मनुष्य खोजता है व पाना चाहता है उन्हें दो वर्गों में रखा जा सकता है, स्पर्धात्मक या व्यावर्तक वस्तुएँ तथा मूल्य और सहभाज्य वस्तुएँ तथा मूल्य; किन्तु यहाँ वे स्पष्ट नहीं करते कि किस प्रकार के मूल्यों का अन्वेषण-अनुसरण मनुष्य को व्यक्ति बनाता है।

तृतीय अनुच्छेद में प्रो. देवराज व्यक्ति की परिभाषा देने का प्रयास करते हुए कहते हैं कि 'व्यक्ति वह सत्ता या प्राणी है जो मूल्यों के सचेतन अन्वेषण–अनुसरण में संलग्न रहता है'[६]। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि वे उन मूल्यों का नामोल्लेख नहीं करते जिन्हें भारतीय परंपरा में 'पुरुषार्थ' कहा गया है, और जिन्हें जीवन के नैतिक व धार्मिक मूल्य, भौतिक मूल्य, मनोवैज्ञानिक मूल्य और आध्यात्मिक मूल्य की चतुष्कोटि में विभाजित किया गया है।

अपने द्वारा दी गई परिभाषा का पहिले ही बचाव करते हुये वे कहते हैं कि यह आक्षेप किया जा सकता है कि यह परिभाषा प्रवर्तक (Persuasive) या आदर्शनिष्ठ (Prescriptive) है, किन्तु मूल्यों से संबंधित किसी भी क्षेत्र की कोई भी परिभाषा, यथा नीतिशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र या वैधिक क्षेत्र की परिभाषा के आदर्शनिष्ठ प्रतीत होने की बहुत संभावना है, यद्यपि वह अनिवार्यतः प्रवर्तक हो, यह आवश्यक नहीं है। वे बलपूर्वक कहते हैं कि आदर्शनिष्ठ परिभाषा न तो स्वैच्छिक होती है और न ही संज्ञानात्मक दृष्टि से इस अर्थ में निरर्थक होती है कि वह व्याख्यात्मक शक्ति से शून्य है। मूल्यपरक शास्त्र में दी गयी आदर्शनिष्ठ परिभाषा को प्रो. देवराज वस्तुपरक विज्ञान की अनुभवात्मक प्राक्कल्पना के साथ वस्तुतः तुलनीय तथा उसका प्रतिरूप मानते हुये, उसके विशेष उद्देश्य को बताते हुये कहते हैं कि विशेष उद्देश्य किसी समाज, संस्कृति तथा युग में प्रचलित, किसी मूल्यात्मक क्षेत्र से संबंधित, उन अनेक मूल्यात्मक (Evaluative) कथनों की सरचना या व्यवस्थापन है, जो कथन मानवजाति के प्रबुद्ध वर्ग मुखरित किये जाते हैं। आदर्शनिष्ठ परिभाषा की एक और विशेषता पर ध्यानाकर्षित करते हुये, प्रो. देवराज बतलाते हैं कि इस प्रकार की परिभाषा गुणात्मक–मूल्यात्मक कसौटियों के निर्माण के लिये परोक्ष सुझावों को अन्तर्निहित रखती है। आगे वे यह भी कहते हैं कि गुणात्मक कसौटियों को, विज्ञानों में परिमाणात्मक माप के लिये स्वीकृत पैमानों के अनुरूप समझा जा सकता है। उनकी उपर्युक्त मान्यता से ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार विज्ञानों में सर्वस्वीकृत पैमानों की सहायता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से वस्तुपरक तथ्यात्मक निर्णय लिये जा सकते हैं, उसी तरह गुणात्मक-मूल्यात्मक कसौटियों की सहायता से मूल्यपरक वस्तुनिष्ठ निर्णय लेना संभव है।

प्रो. देवराज इस प्रकार की परिभाषा को प्रस्ताव[७] (प्रोपोजल) (Proposal) के रूप में देखने की संभावना को भी स्वीकार करते हैं। इस तरह परिभाषा के स्वरूप की चर्चा के अंत में वे परिभाषा को प्रस्ताव की कोटि में रखते हुये कहते हैं कि कोई भी दार्शनिक प्रणाली बहुधा ऐसी ही परिभाषाओं या प्रस्तावों द्वारा निर्मित होती है तथा तार्किक संबंधों अथवा अन्य प्रकार की प्रासंगिकता के संबंधों से संयुक्त रहती है। यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि परिभाषायें प्रस्ताव-मात्र हैं, तो उन्हें अस्वीकार भी किया जा सकता है। दूसरे, उस स्थिति में वस्तु या संप्रत्यय की एक नहीं अनेक परिभाषायें होंगी, तब उन अनेक परिभाषाओं में से किसी एक का चयन अर्थात् सर्वोत्तम का चयन किस आधार पर संभव होगा ? अब यदि यह माना जाये कि कोई एक परिभाषा परिभाष्य वस्तु या संप्रत्यय के किसी एक ही पक्ष को स्पष्ट करती है, तो इसका अर्थ यह होगा कि वह परिभाषा सम्यक्, संपूर्ण परिभाषा नहीं है। फलस्वरूप उस स्थिति में परिभाष्य वस्तु एवं संप्रत्यय के स्वरूप को समझने के लिये अनेक परिभाषाओं की आवश्यकता को स्वीकार करन होगा और तब समस्या यह उपस्थित होगी कि परिभाष्य की आखिर कितनी परिभाषायें स्वीकार की जायें ? और यदि स्वीकार की जायें, तो स्वीकृति का आधार या कसौटी क्या हो ? इस प्रसंग पर संभवतः विषयान्तर के भय से, प्रो. देवराज मौन हैं।

पुनः व्यक्ति की परिभाषा की ओर लौटते हुये वे कहते हैं कि ' मूल्यों का संचेतन अन्वेषण-अनुसरण' जो व्यक्ति की विशिष्टता या पहचान है भाषा के प्रयोग की सामर्थ्य ' निहित रखता है। इस तरह को भाषा के प्रयोग की सामर्थ्य ' उनके मतानुसार, व्यक्ति की एक और विभेदक विशेषता है। उनकी मान्यता के अनुसार, भाषा ही व्यक्ति को सहयोग के उद्देश्य से अपने संगीसाथियों के साथ संवाद के योग्य बनाती है। भाषा के एक और कार्य का उल्लेख करते हुये वे कहते हैं कि प्रशिक्षक द्वारा प्रयुक्त मौखिक या लिखित भाषा के द्वारा क्रिया-कलाप के उच्चस्तरीय प्रकारों के लिये अपेक्षित विभिन्न प्रकार के कौशलों को अर्जित किया जाता है। इस तरह वे व्यक्ति के संदर्भ में भाषा के महत्त्व को स्वीकार करते हैं।

भाषा के कार्यों से वे ' सामाजिकता ' की अवधारणा पर पहुँचते हैं, जो उनके मतानुसार, व्यक्ति की विभेदक विशेषता है। वे लिखते हैं कि एक ओर तो सहयोग तथा प्रशिक्षण की आवश्यकता तथा दूसरी ओर, अन्य व्यक्तियों पर टिप्पणी, उनकी प्रशंसा करना और स्वयं उनकी प्रशंसा व टिप्पणियों का पात्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होना व्यक्ति को 'सामाजिक प्राणी' बनाता है। सामाजिकता की उपर्युक्त अवधारणा को स्वीकार करने पर मूढ, शिशु व पागलों को 'व्यक्ति' संबोधित नहीं किया जा सकता, यद्यपि वे भी मानव–समाज में निवास करते हैं। उन्हें मानव प्राणी तो कहा जा सकता है, पर 'व्यक्ति' नहीं। अत: वे स्पष्टत: घोषित करते हैं कि इस परिभाषानुसार पशु, शिशु, विक्षिप्त मनुष्य, मूढ तथा मंदबुद्धिजन व्यक्तियों के वर्ग से बहिष्कृत हो जाते हैं।

इनके अतिरिक्त वह परिपूर्ण[९] सत्ता, जिसे न तो किसी मूल्य के अन्वेषण–अनुसरण की आवश्यकता है, और न ही अन्य प्राणियों एवं व्यक्तियों से साहचर्य सबंध स्थापना की ही, 'व्यक्ति' की कोटि में नहीं रखी जा सकती। इस तरह डॉ. देवराज निरपेक्ष परम सत्ता अथवा ईश्वर को 'व्यक्ति' नहीं मानते, जो उचित ही है। यहाँ हमारा ध्यान अनायास ही श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित पुरुष की तीन कोटियों–क्षर पुरुष (चराचर नश्वर जगत्), अक्षर पुरुष (जीवात्मा), पुरुषोत्तम–की ओर जाता है, जहाँ क्षर–अक्षर से परे होने पर भी विश्व के परमतत्त्व ईश्वर को 'पुरुषोत्तम' कहा गया है। योग दर्शन में भी ईश्वर को 'पुरुष विशेष' सबोधित किया गया है। योग उसे विशेष प्रकार का आत्मा मानता है, जो सर्वज्ञ, शाश्वत एवं पूर्ण है। वह 'पुरुष विशेष' इसलिये है कि वह सामान्य पुरुष की तरह कर्म, पुनर्जन्म एवं मानसिक दुर्बलताओं से युक्त नहीं है। सांख्य में भी 'पुरुष' की अवधारणा और 'बहुपुरुषवाद' का वर्णन है। इन सभी विचरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि भारतीय दार्शनिक परंपरा में प्राय: पुरुष को "आत्मन्" माना गया है। इस तरह वह वस्तु से भिन्न है। यद्यपि प्रो देवराज ने 'व्यक्ति' एवं 'वस्तु' के भेद का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, तथापि उनके द्वारा प्रदत्त परिभाषा इस भेद की ओर संकेत करती है, क्योंकि वस्तुयें मूल्यों का अन्वेषण–अनुसरण नहीं कर सकतीं।

मूल्यात्मकता तथा सामाजिकता, जो कि व्यक्ति के स्वरूप–लक्षण हैं, के पारस्परिक घनिष्ठ संबंध का उल्लेख करते हुये वे लिखते हैं कि, 'किसी सामाजिक समूह के एक सचेतन सदस्य के रूप में व्यक्ति में 'उत्तरदायित्व–बोध' का पाया जाना अनिवार्य है।[१०] इसका निहितार्थ है कि व्यक्ति 'नैतिक कर्ता' होता है। फलस्वरूप उससे नैतिक व्यवहार की अपेक्षा की जाती है। प्रो. देवराज की दृष्टि में, नैतिक व्यवहार अनिवार्यत: उपयोगी वस्तुओं के औचित्यपूर्ण या न्यायपूर्ण वितरण का संकेतक है। सर्वविदित है कि केवल व्यक्ति की सापेक्षता में अधिकार व कर्तव्य, दंड तथा पुरस्कार की अवधारणायें सार्थक है। इस तरह वे व्यक्ति के 'उत्तरदायी कर्ता' होने की ओर संकेत करते हैं, जिसे कांट जैसे आधुनिक दार्शनिक तथा समकालीन पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी स्वीकार किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। आश्चर्य है कि इस संदर्भ में प्रो. देवराज द्वारा संकल्प-स्वातंत्र्य-जो कि उत्तरदायी कर्ता होने की शर्त है-का नामोल्लेख तक नहीं किया गया है। इसका कारण यह हो सकता है कि दोनों अवधारणाओं की घनिष्ठ संबद्धता के कारण उन्होंने पृथक् वर्णन की आवश्यकता ही न अनुभव की हो।

आगे देवराज जी कहते हैं कि एक अनैतिक एवं अनुत्तरदायी व्यक्ति भी एक व्यक्ति है, किन्तु वह निकृष्ट व्यक्ति है, क्योंकि वह स्वार्थी या स्वकेन्द्रित होता है। यहाँ हमारा ध्यान प्रो. देवराज द्वारा वर्णित 'व्यक्ति' के लक्षणों पर जाता है जिनके अनुसार व्यक्ति मूल्यों का अन्वेषक-अनुसरणकर्ता, उत्तरदायी, सामाजिक प्राणी है। ऐसी स्थिति में अनैतिक, अनुत्तरदायी व स्वकेन्द्रित होने के कारण असामाजिक मनुष्य को व्यक्ति कैसे माना जाये, यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है।

आगे वे कहते हैं कि मूल्यों का समस्त सचेतन अन्वेषण-अनुसरण या तो वस्तुओं और परिस्थितियों अथवा प्रतीकों और विचारों के कार्य-साधन पर आधृत रहता है। ध्यातव्य है कि आगे की पंक्तियों में प्रो. देवराज ने 'व्यक्ति' के स्थान पर 'मनुष्य' पद का ही प्रयोग किया है, और बताया है कि नैतिक मनुष्य अन्य मनुष्यों के स्वार्थों तथा दावों अर्थात् अधिकारों को आघात पहुँचाये बिना अपने साध्यों को प्राप्त करने का प्रयास करता है। इसके विपरीत, अनैतिक और संकुचित स्वार्थवाला मनुष्य सृजनात्मक बुद्धि या मनीषा और क्षमता से रहित होने के कारण दूसरों की कीमत पर ही अपने उद्देश्यों में सफलता प्राप्त करना चाहता है। इस विवेचन से ध्वनित होता है कि सृजनात्मकता तथा 'बौद्धिकता' व्यक्ति के अनिवार्य लक्षण हैं। लोक के मतानुसार भी व्यक्ति 'चिंतनशील' प्राणी है, जिसमें 'बुद्धि' तथा 'मनन' की क्षमता है। स्मरणीय है कि सामान्यतः प्रत्येक मानव प्राणी को व्यक्ति कहा जाता है, जैसा कि ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी से स्पष्ट है, तथापि दार्शनिक प्रयोगानुसार, प्रत्येक मानव नहीं, अपितु विभेदक विशेषताओं से युक्त मानव ही व्यक्ति कहा जा सकता है। देवराज जी भी इन विभेदक विशेषताओं या लक्षणों की गणना करते हैं, तथापि लेख में इन शब्दों के प्रयोग में अनेक स्थलों पर सतर्क नहीं रहे हैं।

अपने आलेख में डॉ. देवराज ने सद्गुणी व्यक्ति की विस्तृत व्याख्या की है, जिसके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। विवेच्य बिंदु यह है कि नैतिक अथवा न्याय-व्यवस्था को वे सभ्य नागरिक के रूप में मनुष्य की उत्तरजीविता की एक अनिवार्य उपाधि मानते है, ११ किंतु यह स्पष्ट नहीं करते कि क्या 'सभ्यता' व 'नागरिकता' को 'व्यक्ति' होने की अनिवार्य शर्त माना जा सकता है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसा प्रतीत होता है मानों 'आध्यात्मिकता' के समावेश के बिना प्रो. देवराज व्यक्ति के सिद्धान्त को अपूर्ण मानते हैं, अत: उनके अनुसार, यद्यपि नैतिकता अनिवार्य शर्त है, तथापि सत्य, सौंदर्य तथा चिंतनात्मक पवित्रता के सृजनात्मक अन्वेषण में, नैतिकता के क्षेत्र से परे जाने की क्षमता ही उसे 'आध्यात्मिक प्राणी' होने की विशिष्ट अद्वितीय गरिमा प्रदान करती है।[१२] व्यक्ति के लिये उन्होंने 'आत्मा' शब्द का प्रयोग भी किया है। वे लिखते हैं कि साधारण 'आत्मायें (व्यक्ति)' जो उच्चतर आध्यात्मिक तथा सार्वजनीन मूल्यों एवं विषयों में आनंद लेने की अपनी क्षमताओं के विकास को तिलांजलि देकर, प्रतिस्पर्धात्मक भौतिक वस्तुओं तथा मूल्यों के लिये लालायित रहती हैं, आध्यात्मिक दृष्टि से अपेक्षाकृत कम साहसी होती हैं।

इस संदर्भ में 'व्यक्ति' की अवधारणा के स्पष्टीकरण से संबंधित इस प्रश्न पर ध्यान जाता है कि व्यक्ति स्वरूपत: चेतन सत्ता है या भौतिक सत्ता? दार्शनिकों का ऐसा वर्ग भी रहा है जो 'व्यक्ति' व 'मनुष्य' में भेद करते हुये व्यक्ति को अशरीरी, अभौतिक अदृश्य आत्मन् या प्राणी मानता है। लॉक, टॉमस रीड, लाइबनिज और वोल्फ आदि के मतानुसार व्यक्ति सांसारिक किन्तु अशरीर, निरबयव सत्ता है। संभवत: आत्मवादी विचारधारा के समर्थक होने के कारण देवराज जी ने 'व्यक्ति' के पर्यायवाची शब्द के रूप में 'आत्मा' शब्द का प्रयोग किया हो, तथापि उनके मतानुसार व्यक्ति केवल आत्मा नहीं है। सामान्यत: व्यक्ति का तात्पर्य 'मानवप्राणी का शारीरिक रूप है', पर इसे दार्शनिक दृष्टि से स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस संबंध में समकालीन चिंतक पी. एफ्. स्ट्रॉसन का मत विचारणीय है। वे व्यक्ति की अवधारणा को तार्किक रूप से 'आद्य' (Primitive) अवधारणा मानते है और यह दर्शाते हैं कि व्यक्ति भौतिक देह से भिन्न है, पर इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि वह अशरीरी या अभौतिक सत्ता है। व्यक्ति में चेतना की दशायें तथा शारीरिक (भौतिक) विशेषातायें दोनों पायी जाती है, किंतु वह इन दोनों में से कोई भी एक नहीं है। इस दृष्टि से वह 'आद्य' अवधारणा है।

व्यक्ति के स्थान पर पुन: 'मनुष्य'[१३] शब्द का प्रयोग करते हुये आगे प्रो. देवराज लिखते है कि 'भाषा' तथा 'प्रतीकों' के प्रयोग की क्षमता व्यक्ति की विभेदक विशेषता है जो 'सृजनात्मक कर्म' के लिए उसकी 'स्वतंत्रता' को निरापद करती व बढ़ाती है। इस मान्यता के समर्थन में वे कहते है कि हम (व्यक्ति) भौतिक वस्तुओं एवं शक्तियों के स्वरूप को परिवर्तित नहीं कर सकते, तथापि उन्हें कुशलतापूर्वक इस तरह रूपान्तरित व नियंत्रित कर सकते हैं कि वे हमारी आवश्यकताओं तथा उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक बन सकें। इस स्थल पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रो. देवराज यह नहीं समझाते कि भाषा तथा प्रतीकों के प्रयोग की क्षमता किस प्रकार स्वतंत्रता को निरापद बनाती है। 'स्वतंत्रता' के विषय में कुछ न कह कर वे सृजनात्मकता पर लौट आते हैं, और कहते हैं कि सृजनात्मक गतिविधियाँ किसी-न-किसी प्रकार के मूल्य अथवा विमूल्य उत्पादन की ओर निर्दिष्ट होती हैं। वे स्वीकार करते है कि प्रत्येक क्षेत्रमें मनुष्य की सृजनात्मक गतिविधि का एक गुणात्मक पक्ष होता है, जो चुने गये उद्देश्य एवं साध्य के रूप में प्राप्त सफलता के सापेक्ष है। इस तरह वे व्यक्ति' की व्याख्या करते समय "साध्य या उद्देश्य" का उल्लेख करते हैं।

इस स्थल पर वे इस तथ्य की ओर संकेत करना नहीं भूलते कि निरुपयोगितावादी मूल्यों-यथा ज्ञानात्मक, सौंदर्यात्मक तथा नैतिक मूल्यों-का गुणात्मक भेद सदैव चिंतकों का ध्यान आकर्षित करता रहा है और वह तथ्य मानव द्वारा निरुपयोगितावादी मूल्यों के अन्वेषण-अनुसरण में दर्शन की भूमिका[१४] को परिभाषित करने में सहायक हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रो. देवराज मनुष्य को व्यक्ति बनाने की प्रक्रिया में दर्शन की महत्त्वपूर्ण भूमिका स्वीकार करते हैं।

उपर्युक्त संपूर्ण विवेचन से वे व्यक्ति संबंधी जिस सिद्धांत पर पहुँचते हैं, उसकी निम्नलिखित रूपरेखा उन्होंने प्रस्तुत की है।[१५] प्रथम, व्यक्ति वह प्राणी है जो मूल्यों का सचेतन सृजनात्मक अन्वेषण-अनुसरण करता है। द्वितीय, किसी व्यक्ति या उसके व्यक्तित्व की विशिष्टता उन मूल्यों के प्रकारों द्वारा निर्धारित की जा सकती है जिन्हें वह खोजता है और जिन्हें वह सृजनात्मक कर्म व्दारा पाने में समर्थ है। तृतीय, मूल्यों का अन्वेषण-अनुसरण मनुष्य को 'सामाजिक' बनाता है, क्योंकि उसके क्रियाकलापों का अनुसमर्थन या प्रमाणीकरण उसी के समान विचार वाले साथी मनुष्यों की स्वीकृति एवं भागीदारी में निहित रहता है। चतुर्थ, सामाजिकता, मैत्री तथा प्रेम के संबंधों की स्थापना की ओर भी ले जाती है, क्योंकि सृजनकर्ता के रूप में मनुष्य (व्यक्ति) न केवल प्रोत्साहन व सहयोग की अपेक्षा रखता है, अपितु अभिवृत्तियों में सहभागिता के रूप में समादर, और अपने सृजनात्मक श्रम के संपोषण के लिये लोगों के स्नेह की अपेक्षा रखता है। ये अपेक्षायें व्यक्ति को गहरे अर्थ में सामाजिक बनाती हैं। इसी तरह नैतिक व्यवहार या सद्गुणों के आत्मसातीकरण का संबंध रोजमर्रा के सामाजिक जीवन से है। सामाजिकता व्यक्ति का अभिन्न अंग होने के कारण धार्मिक संत भी सजातीय आत्माओं का साथ खोजता है और पैगम्बर भी अनुयायी की अपेक्षा रखता है। निष्कर्ष यह है कि व्यक्ति की सत्ता का अन्य व्यक्तियों से, समाज से घनिष्ठ संबंध है जिसे निर्भरता के एक प्रकार के रूप में समझा जा सकता है।[१६] अंत में, श्रेष्ठता-प्राप्ति के संदर्भ में वे कहते हैं कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपयोगितावादी लाभाकांक्षी चिंताओं या स्वार्थवाद से मुक्त होने पर ही व्यक्ति 'धन्यता' या 'जीवन्मुक्ति' की अवस्था प्राप्त कर सकता है। तभी वह सुख का उच्चतर रूप या आनंद प्राप्त करता है।

समीक्षात्मक दृष्टिकोण से उपर्युक्त सिद्धान्त के विषय में यह कहा जा सकता है कि इसमें प्रो. देवराज ने 'व्यक्ति' के स्वरूप की व्याख्या प्रस्तुत कर व्यक्ति की अवधारणा को स्पष्ट करने का सार्थक प्रयास किया है, जिससे यह स्पष्ट हो सका है कि व्यक्ति सचेतन मूल्यान्वेषी (नैतिक, ज्ञानात्मक, सौंदर्यात्मक तथा आध्यात्मिक मूल्य), सृजनात्मक, बौद्धिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक प्राणी है। उत्तरदायी नैतिक कर्ता होने के कारण एक ओर तो वह दण्ड–व–पुरस्कार का भागीदार है और दूसरी ओर, केवल व्यक्ति के संबंध में ही अधिकार व कर्तव्य का उल्लेख संभव है।

वस्तुत: सोद्देश्यता तथा भूमिकाओं के संदर्भ में व्यक्ति की अवधारणा का स्पष्टीकरण अपेक्षित है। अपने सिद्धान्त में प्रो. देवराज भाषा तथा प्रतीकों के प्रयोग की क्षमता को भी व्यक्ति का लक्षण बतलाते हैं।

प्रो. देवराज व्यक्ति के साध्यों की चर्चा करते हैं, पर कांट के समान यह नहीं कहते कि व्यक्ति अपने आप में साध्य है। वे संपूर्ण लेख में कहीं पर भी व्यक्ति की अवधारणा से घनिष्ठ रूप में जुडी 'वैयक्तिक एकात्मता' (Identity) की समस्या को भी स्पर्श नहीं करते।

यह सत्य है कि प्रो. देवराज के सिद्धान्त में व्यक्ति संबंधी कुछ तथ्यों का उल्लेख नहीं है, तथापि इस आधार पर यह आलोचना नहीं की जा सकती कि यह सिद्धान्त उन तथ्यों को समझाने में असफल है। आलोचना केवल दो आधारों पर संभव है। सर्वप्रथम, यह दर्शाकर कि उनके सिद्धान्त में 'व्यक्ति' शब्द के प्रयोग के नियम किसी–न–किसी रूप में असंगत हैं अथवा यह दर्शाकर कि विश्व में ऐसा कुछ नहीं है जो उनके सिद्धान्त द्वारा प्रस्तुत किये गये व्यक्ति के लक्षणों के वर्णन को प्रमाणित कर सके। इन दो बिंदुओं को आधार मान कर हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि अनेक स्थलों पर वे व्यक्ति, आत्मा तथा मनुष्य शब्द का प्रयोग पर्यायवाची के रूप में करते है, अर्थात् सतर्क नहीं रहे हैं, परन्तु जहाँ तक आलोचना के द्वितीय बिंदु का प्रश्न है, उनके व्यक्ति संबंधी सिद्धान्त में वर्णित व्यक्ति के विभिन्न लक्षण प्रमाणित सत्य हैं। [२०]

छाया राय

दर्शनशास्त्र विभाग
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय
जबलपुर – ४८२००१
(म. प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टिप्पणियाँ

१. थ्योरी ऑफ परसन एण्ड अदर ऐसेस्, चुग्ग, इलाहाबाद, १९८५.
२. एन्साईक्लोपीडिया ऑफ फिलोसोफी, खण्ड – ६, पृ. ११०, आर्थर सी. डेण्टो.
३. ए डिक्शनरी ऑफ फिलोसोफी, – एन्टोनी फल्लू, पैन बुक्स, तृतीय संस्करण, पृ २६५।
" टुवर्डस ए थ्योरी ऑफ पर्सन, " इंडियन फिलोसोफिलक क्वार्टरली, वॉल्यूम ११, नं. १, जन. ८४, पृष्ठ ६५.
५. वहीं, पृष्ठ ९६
६. वहीं, पृष्ठ ९६
७. वहीं, पृष्ठ ९६
८. वहीं, पृष्ठ ९७
९. वहीं, पृष्ठ ९७
१०. वहीं पृष्ठ ९७
११. वहीं, पृष्ठ ९८
१२. वहीं, पृष्ठ ९८
१३. वहीं, पृष्ठ ९८
१४ वहीं, पृष्ठ ९९
१५ वहीं, पृष्ठ ९९–१००
१६. वहीं, पृष्ठ १००
१७. काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के तत्त्वावधान में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी " प्रो. न. किं. देवराज का दर्शन " में दिनांक २८ जुलाई ८९ को प्रस्तुत शोध–पत्र।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (१८)
विषयता (iv)

पिछले लेख में विषयता के प्रकारता नामक भेद पर विचार किया गया था। इस लेख में उसके विशेष्यता नामक अन्य भेद पर विचार करना अभीष्ट है। विशेष्य–विशेषणभाव सम्बन्ध होने पर जब किसी वस्तु या धर्म में प्रकारता होती है तब धर्मि के रूप में ज्ञात होने वाले पदार्थ में विशेष्यता होती है। जिस प्रकार प्रकारता, विशेष्यता–सापेक्ष होती है उसी प्रकार विशेष्यता भी प्रकारता–सापेक्ष होती है। इसलिये नैयायिक दोनों में परस्पर निरूप्य–निरूपक–भाव का सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। क्योंकि प्रकारता से निरूपित जैसे विशेष्यता होती है वैसे ही विशेष्यता से निरूपित प्रकारता भी होती है। 'पर्वतः अग्निमान्' ऐसा ज्ञान होने पर पर्वत पर रहने वाली विशेष्यता से निरूपित प्रकारता जिस प्रकार अग्नि में है, उसी प्रकार अग्नि में रहने वाली प्रकारता से निरूपित विशेष्यता पर्वत में भी होती है।

जिस तरह किसी धर्मि (आश्रय–क्योंकि धर्म का धर्मि आश्रय होता है।) में विशेषण के रूप में प्रतीत होने वाला धर्म प्रकार कहलाता है, उसी प्रकार कोई पदार्थ धर्मि के रूप में प्रतीत होने पर विशेष्य कहलाता है। किसी वस्तु की धर्मि के रूप में भासमानता को ही विशेष्यता कहा जाता है।

गदाधर[1] ने भासमान वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) के प्रतियोगित्व को विशेषणता तथा उसकी (सम्बन्ध की) अनुयोगिता को विशेष्यता कहा है। जैसे–'पर्वत अग्निमान् है' ऐसा प्रतीत होने पर अग्नि और पर्वत का जो सम्बन्ध प्रतीत होता है उस सम्बन्ध का प्रतियोगी अग्नि होने से उसमें रहने वाली प्रतियोगिता को प्रकारता तथा पर्वत में रहने वाली अनुयोगिता को विशेष्यता कहा जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका तात्पर्य यह है कि सांसर्गिक (सम्बन्ध–विषयक) अनुयोगिता का ही दूसरा नाम विशेष्यता है। यही कारण है कि समूहालम्बन (समूह विषयक) ज्ञान में जहाँ दो या दो से अधिक पदार्थों का वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) प्रतीत नहीं होता है वहाँ विशेष्यता नामक विषयता नहीं होती है (याने वहाँ विशेष्यता का बोध नहीं होता है।) इसी के आधार पर समूहालम्बनात्मक ज्ञान तथा विशिष्ट ज्ञान में भेद किया जाता है।[2]

परन्तु यह मत समीचिन नहीं है। क्योंकि सांसर्गिक प्रतियोगित्व और अनुयोगित्व को क्रमशः प्रकारता और विशेष्यता मानने पर भ्रमात्मक ज्ञान में भासमान प्रकारता–रूप विशेष्यताओं का समावेश उसमें करना सम्भव नहीं होगा। क्योंकि भ्रम में दोनों (प्रकार तथा विशेष्य) में वैशिष्ट्य सम्बन्ध नहीं होता है। विशेष्य में विशेषण के रूप में प्रतीत होने वाला मुख्य प्रकार से भिन्न धर्म विशेष्यता का अवच्छेदक (नियामक) होता है। जैसे–पर्वत में विशेषण के रूप में पर्वतत्व तथा अग्नि ये दोनों ही प्रतीत होते हैं। परन्तु उनमें से अग्नि मुख्य प्रकार है और उससे भिन्न पर्वतत्व पर्वत में प्रतीत होने वाली विशेष्य का अवच्छेदक होता है। विशेषण के रूप में प्रतीत होने वाले पर्वतत्व में विशेषणता और विशेष्यतावच्छेदकता दोनों भी हैं। परन्तु उक्त विशेषणता (याने प्रकारता) मुख्य नहीं है। मुख्य प्रकारता अग्नि में ही है। अग्नि में रहने वाली प्रकारता अवच्छेदकता-रूप न होने से वह मुख्य प्रकारता है, जब कि विशेष्यतावच्छेदकता–रूप होने से पर्वतत्व में रहने वाली प्रकारता गौण प्रकारता है।

जिस प्रकार अवच्छेदकता–रूप न होने वाली प्रकारता मुख्य प्रकारता कहलाती है, उसी प्रकार प्रकारता – रूप न होने वाली विशेष्यता मुख्य विशेष्यता कहलाती है।[3] 'नीलसरोजयुक्त सरोवर' इस ज्ञान की सरोवर में प्रतीत होने वाली विशेष्यता मुख्य विशेष्यता है, क्योंकि सरोवर अन्य किसी के विशेषण के रूप में उक्त ज्ञान का विषय नहीं है।

विशेष्यता भी कभी किसी धर्म से नियमित (अवच्छिन्न) होती है, तो कभी नहीं होती। जब विशेष्यता किसी दूसरे विशेषण से नियमित होती है,[4] तब उसे सावच्छिन्न (नियमित) विशेष्यता कहते हैं; और जब वह किसी भी अन्य धर्म से नियमित नहीं होती है तो उसे निरवच्छिन्न (अनियमित) विशेष्यता के रूप में जाना जाता है। जैसे–'घट' इस ज्ञान की घटत्व में रहने वाली (प्रतीत होने वाली) प्रकारता से निरूपित घट में रहने वाली विशेष्यता निरवच्छिन्न विशेष्यता है। इस ज्ञान में 'घटत्व' विशेषण या प्रकार के रूप में प्रतीत होने से उसमें प्रकारता (प्रकारत्व) है और घट में विशेष्यता है। जबकि 'अयं घटः' (यह घट है) इस ज्ञान की घट में प्रतीत होने वाली विशेष्यता सावच्छिन्न है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ घटत्व में रहने वाली प्रकारता से निरूपित घट में रहने वाली विशेष्यता 'इदंत्व' धर्म से नियमित होने के कारण सावच्छिन्न है। यहाँ 'इदंत्व' धर्मितावच्छेदक (धर्मिता का नियामक धर्म) के रूप में प्रतीत होता है। उसमें मुख्य प्रकारता नहीं है, यद्यपि वह घट का विशेषण है। यहाँ मुख्य विशेषण तो घटत्व ही है। विशेष्यतावच्छेदकता को हम मुख्य प्रकारता नहीं मान सकते, अन्यथा 'घट' इस ज्ञान में तथा 'अयं घटः' इस ज्ञान में भी घटत्व को ही समान रूप से धर्मितावच्छेदक मानना पड़ेगा। इस प्रकार से उस ज्ञान में प्रकार के रूप में किसी का भी ग्रहण नहीं होगा, फिर बिना धर्मितावच्छेदक-वाले ज्ञान का विलोप हो जायगा। अतः धर्मितावच्छेदक और मुख्य विशेषण में भेद मानना अनिवार्य है। वह या तो प्रतियोगितावच्छेदकता के समान स्वरूप-विशेष है, या कोई भिन्न पदार्थ है।

या यह भी मानना उचित है कि धर्मितावच्छेदकता भी प्रकारता का ही एक भेद है?[५] क्योंकि जिस ज्ञान में धर्मितावच्छेदक का प्रत्यय होता है, उसे धर्मितावच्छेदक प्रकार वाला ज्ञान कहते हैं। इसलिये उसमें भी विशेष्यताव-च्छेदकता के अलावा एक प्रकारता की भी कल्पना करनी पड़ेगी। लेकिन यदि यह स्वीकार किया तो उसमें गौरव दोष उद्भूत होता है।

दूसरे ज्ञानों में स्वीकृत उस (प्रकारतावच्छेदक) धर्म में रहने वाली प्रका-रता के आधार पर ही इस ज्ञान को भी 'तद्धर्म-प्रकारक' कहने में कोई बाधा नहीं है यह कथन भी उचित नहीं है। क्योंकि उस धर्म के धर्मितावच्छेदक के रूप में प्रतीत होने पर अनन्त ज्ञानों में उस तरह का प्रकारता-निरूपकत्व मानने की अपेक्षा उक्त धर्मितावच्छेदक में स्वतन्त्र प्रकारता मानने में ही लाघव है।

परन्तु फिर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या 'अयं घटः' इस ज्ञान में 'इदन्त्व' के समान 'स्व' को भी धर्मितावच्छेदक के रूप में ग्रहण करना पड़ेगा? इसके फलस्वरूप 'अयं घटः' इस ज्ञान के बाद 'अयमयम्' इस प्रकार का स्मरण भी होगा। परन्तु यह सही नहीं है, क्योंकि उस ज्ञान की प्रकारता से निरूपित धर्मितावच्छेदकता का आश्रय ही उस ज्ञान में धर्मितावच्छेदक होता है। 'अयं घटः' इस ज्ञान के विषय में 'इदत्व' में रहने वाली धर्मिताच्छेदकता और स्वात्मक (घटात्मक) प्रकारता में निरूप्य-निरूपक-भाव न होने से 'अयं घटः' इस अनुभव के बाद 'अयं अयम्' इस स्मरण की आपत्ति नहीं हो सकती।[६] इस तरह 'इदन्त्व' में रहने वाली धर्मितावच्छेदकता और घटत्व में रहने वाली प्रकारता में निरूप्य-निरूपक-भाव होने के सम्बध में कोई प्रमाण न होने से उनमें भी निरूप्य-निरूपक-भाव नहीं है। लेकिन परम्परा से निरूप्य-निरूपक-भाव स्वीकार करने पर वह (निरूप्य-निरूपक-भाव) उक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञान में भी है ऐसा मानना पड़ेगा । इसलिये धर्मितावच्छेदकता और विशेषण में रहने वाली प्रकारता के बीच उन्हें जोड़ने वाला निरूप्य–निरूपक–भाव यह सम्बन्ध मानना उचित है । जिसमें रहनेवाली प्रकारता से निरूपित विशेष्यता जिससे अवच्छेद्य (नियम्य) होती है वह ही विशेष्यता का अवच्छेदक कहलाता है । 'अयं घटः' यहाँ स्व–प्रकारता से निरूपित विशेष्यता स्व से अवच्छिन्न न होने से स्व में स्व (घट) का धर्मितावच्छेक के रूप में ग्रहण नहीं होता है ।

विशेष्यता के सम्बन्धावच्छिन्न (सम्बन्ध से नियमित) होने के बारे में मत-भेद है । कुछ लोक मानते हैं कि धर्मि (आश्रय) में रहने वाली अधिकरणता, अनु-योगिता, विशेष्यता, पक्षता आदि धर्म किसी भी सम्बन्ध से नियमित नहीं होते हैं । वे सब सापेक्ष शक्तियां हैं और वे केवल धर्म से ही नियमित होती हैं, सम्बन्ध से नहीं । उनको जिनकी अपेक्षा होती है वे आधेयता, प्रतियोगिता; प्रकारता आदि ही सम्बन्ध से नियमित होती हैं [७] ।

जो लोग प्रकारता–रूप विषयता को सम्बन्ध से नियमित मानते हैं लेकिन विशेष्यता को नहीं मानते, उनका कहना है कि विशेष्यता को सम्बन्ध से नियमित न मानने परही व्याप्यविशेष्य वाले-तथा पक्ष-विशेष्य-वाले ऐसे दोनों परामर्शों को एक रूप से अनुमिति का कारण मान सकते हैं, अन्यथा नहीं । इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार 'अग्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः' इस परामर्श से 'पर्वतः अग्निमान्' इस प्रकार की अनुमिति होती है, उसी प्रकार 'पर्वते (पर्वत पर) अग्निव्याप्य-धूमः' इस परामर्श से 'पर्वतः अग्निमान्' यह अनुमिति होती है । लेकिन इन दोनों परामर्शों में भेद है । 'अग्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः' इस परामर्शात्मक ज्ञान में पर्वत विशेष्य के रूप में तथा अग्निव्याप्यधूम प्रकार के रूप में प्रतीत होता है, जबकि 'पर्वते अग्निव्याप्यधूमः' इस दूसरे परामर्शात्मक ज्ञान में पर्वत प्रकार के रूप में तथा अग्निव्याप्यधूम विशेष्य के रूप में प्रतीत होता है । इन दोनों परामर्शों के संग्रह के लिये संयोग सम्बन्ध से नियमित न होने वाली विषयता वाले निश्चय के रूप में हम दोनों परामर्शों का ग्रहण कर सकते हैं । विशेष्यता को सम्बन्ध से नियमित न मानने पर दोनों ही ज्ञानों की विशेष्यताएँ सम्बन्ध से नियमित होने-वाली न होने से दोनों ही परामर्शात्मक ज्ञानों की एक रूप से ही अनुमिति के लिये कारणता सिद्ध हो जाती है । यदि प्रकारता की तरह विशेष्यता को भी सम्बन्ध से नियमित (अवच्छिन्न) मानें तो 'साध्यव्याप्यवान् पक्षः' इस पक्ष-विशेष्य–वाले परामर्श में पक्ष में रहने वाली विशेष्यता जिस प्रकार आधेयत्व से भिन्न संयोग सम्बन्ध से नियमित होती है उसी प्रकार 'पक्षे साध्यव्याप्यः' इस परामर्श में साध्यव्याप्य (धूम) में रहने वाली विशेष्यता संयोग से भिन्न आधेयत्व सम्बन्ध (क्योंकि पर्वत पक्ष पर अग्निव्याप्य धूम आधेय होता है) से नियमित होती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। लेकिन वहाँ उक्त दोनों विशेष्यताओं से कथित सम्बन्धों से अनवच्छिन्नत्व (अनियमितत्व) न होने से उक्त दोनों परामर्शों का उस प्रकार से कारण के रूप में संग्रह सम्भव तथा स्वीकार्य नहीं होगा। विशेष्यताओं को सम्बन्ध से नियमित न मानने पर उक्त परामर्शों की विशेष्यताएँ उक्त सम्बन्धों से अनवच्छिन्न (अनियमित) होने से उक्त दोनों परामर्शों को एक रूप से ही अनुमिति का कारण मान सकते हैं। अतः विशेष्यता को सम्बन्ध से नियमित न मानना ही उचित है।

तथापि अन्य कुछ नैयायिकों का कथन है कि प्रकारता को सम्बन्ध से नियमित मानना और विशेष्यता को न मानना उचित नहीं है। उनके मतानुसार संयोगेन अग्नि के अभाव का निश्चय जिस प्रकार संयोग सम्बन्ध से अग्निमान् इस ज्ञान का विरोधी होता है, उसी प्रकार महानसीय संयोगेन अग्निमान् इस ज्ञान का भी विरोधी होता है। इसलिये प्रतिबध्य की कोटि में प्रविष्ट संसर्गता (सम्बन्धता) में संयोगत्व से भिन्न धर्म से अनवच्छिन्न (अनियमित) कह कर उसका निषेध नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में 'स्वसंयोगि संयोगेन अग्निमान्' इस ज्ञान के लिये भी संयोगेन अग्नि-अभाववान् यह निश्चय प्रतिबन्धक हो जायगा। लेकिन 'स्वसंयोगि संयोगेन अग्निमान्' इस निश्चय का विरोध संयोगेन अग्नि-अभाववान् यह निश्चय नहीं करता है, यह बात अनुभव-सिद्ध है। इसलिये प्रकारता से निरूपित तथा विशेष्यता से निरूपित भिन्न संसर्गता स्वीकार करनी चाहिये। प्रकारता और विशेष्यता की तरह संसर्गता और प्रकारता तथा संसर्गता और विशेष्यता में भी परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। इस तरह प्रकारता और विशेष्यता इन दोनों से निरूपित संसर्गता से निरूपित प्रकारता और विशेष्यता एक साथ ही होती है, और संसर्गता से निरूपित होने का ही अर्थ संसर्ग (सम्बन्ध) से अवच्छिन्न (नियमित) होना ऐसा होता है। इस प्रकार विशेष्यता भी सम्बन्ध से अवच्छिन्न होती है। [८]

यदि प्रकारता से निरूपित तथा विशेष्यता से भी निरूपित उपरिनिर्दिष्ट बीचवाली संसर्गता स्वीकार नहीं की तो 'स्वसंयोगि संयोग सम्बन्ध से अग्निमान्' इस ज्ञान का संयोग सम्बन्ध से अग्नि-अभाववान् यह ज्ञान विरोधी हो जायगा। 'संयोगेन अग्निमान् ह्रदः' इस निश्चय का 'संयोगेन अग्नि-अभावमान् ह्रदः' यह निश्चय प्रतिबन्धक होता है। प्रतिबध्य होने वाले संयोग सम्बन्ध से 'अग्निमान् ह्रदः' इस ज्ञान की अग्नि में प्रतीत होने वाली जो प्रकारता है उससे निरूपित संसर्गता संयोग में है और उस संसर्गता से निरूपित विशेष्यता ह्रद में है। 'स्वसंयोगि संयोगसम्बन्धेन अग्निमान् ह्रदः' इस ज्ञान में प्रतीत होनेवाली संयोग में रहने वाली संसर्गता प्रकारता और विशेष्यता इन दोनों से निरूपित नहीं है। 'स्वसंयोगि संयोगेन अग्निमान् ह्रदः' इस ज्ञान में प्रतीत होने वाली संसर्गताएँ दो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं—एक, 'स्वयंयोगी' कहने पर प्रतीत होने वाले संयोग में है, जो कि केवल प्रकारता से निरूपित है; दूसरी, 'स्वयंयोगि संयोग' में प्रतीत होने वाला जो दूसरा संयोग है, उसमें है जो कि केवल ह्रद में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित है। उनमें से कोई भी संसर्गता अग्नि में रहने वाली प्रकारता तथा ह्रद में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित नहीं है। इसलिये पूर्वोक्त प्रकार से प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव स्वीकार करने पर 'संयोगसम्बन्धेन अग्नि-अभाववान् ह्रदः' यह निश्चय 'स्वसंयोगिसंयोगसम्बन्धेन अग्निमान् ह्रदः' इस निश्चय का प्रतिबन्धक नहीं होता है।

तथापि 'महानसीय संयोग सम्बन्धेन अग्निमान् ह्रदः' इस निश्चय का 'संयोगसम्बन्धेन अग्नि-अभाववान् ह्रदः' यह निश्चय अवश्य प्रतिबन्धक होता है, क्योंकि महानसीय संयोग में रहने वाली संसर्गता अग्नि में रहने वाली प्रकारता तथा ह्रद में रहने वाली विशेष्यता इन दोनों से ही निरूपित होने से उक्त रूप से प्रतिबध्यता होती है। अतः प्रकारता तथा विशेष्यता ये दोनों भी सम्बन्ध से नियमित होती हैं ऐसा मानना उचित है।

परन्तु नैयायिकों का बहुमत इन दोनों का इस प्रकार सम्बन्ध से नियमित मानने के विरुद्ध है। उनका कहना है कि स्वसयोगि संयोगरूप परम्परा को सम्बन्ध के रूप में स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है। अतः उसके आधार पर उपर्युक्त बीच वाली संसर्गता प्रकारता तथा विशेष्यता से निरूपित है ऐसा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसलिये विशेष्यता को संसर्ग (सम्बन्ध) से नियमित न मान कर प्रकारता को ही केवल संसर्ग से अवच्छिन्न मानना उचित है। और उसके आधार पर पक्ष विशेष्य वाले तथा व्याप्य विशेष्य वाले दोनों परामर्शों को पूर्वोक्त रीत्या एक रूप से अनुमिति का कारण मानने में कोई बाधा नहीं है।

परन्तु अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकाभाव की व्यवस्था करने के लिये यदि प्रकारता या विशेष्यता इन दोनों में से किसी एक को सम्बन्ध से नियमित है ऐसा मानना आवश्यक है तो विशेष्यता को ही सम्बन्ध से नियमित क्यों न माना जाय? या दोनों में से सम्बन्ध से नियमित किसे माना जाय इसके बारे में निर्णायक युक्ति न होने से दोनों को ही सम्बन्ध से नियमित क्यों न माना जाय? इस विषय में नैयायिकों का यह कथन है कि प्रकारता को सम्बन्ध से अवच्छिन्न मानने में लाघव है, क्योंकि 'पर्वतो अग्निमान्' इस ज्ञान का पर्वत पर अग्नि अवृत्ति है यह ज्ञान प्रतिबन्धक है। इन दोनों ही ज्ञानों में परस्पर प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव होता है। दोनों ज्ञानों में इस प्रकार प्रतिबन्धकता आने के लिये यह आवश्यक है कि ज्ञान की विशेष्यता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या प्रकारता को सम्बन्ध से अवच्छिन्न माना जाय। प्रकारता विशेष्यता से निरूपित होती है, तथा इसे सम्बन्ध से नियमित मानने पर पूर्वोक्त प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव में अग्नि में रहने वाली प्रकारता संयोग सम्बन्ध से नियमित विशेष्यता से निरूपित प्रकारता के रूप में गृहीत होती है। संयोग सम्बन्ध से नियमित विशेष्यता से निरूपित अग्नि में रहने वाली प्रकारता वाला ज्ञान संयोग सम्बन्ध से नियमित विशेष्यता से निरूपित वृत्तित्वाभाव-प्रकारता वाले ज्ञान के लिये प्रतिबन्धक होता है। प्रकारता को सम्बन्धावच्छिन्न मानने पर प्रकारता में 'संयोगसम्बन्धावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितत्व' का निवेश करना पड़ता है। संयोग सम्बन्ध से नियमित घट-ज्ञान के लिये संयोग सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता वाले घटाभाव का ज्ञान प्रतिबन्धक होने से उन में होने वाले प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक भाव में कोई दोष नहीं होता है। अतः 'विशेष्यता-निरूपतित्व' का निवेश न करने पर भी दोष नहीं होगा। परन्तु विशेष्यता को सम्बन्धावच्छिन्न मानने पर प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव की निर्दुष्टता के लिये 'उस सम्बन्ध से नियमित विशेष्यता से निरूपित प्रकारता' यह कथन आवश्यक हो जाता है। अतः प्रकारता को ही सम्बन्ध से नियमित मानना चाहिये, विशेष्यता को नहीं।

समूहालम्बन ज्ञान[१०] (जैसे-गौ, अश्व, मनुष्य आदि) की विशेष्यता प्रकार के भेद से भिन्न-भिन्न होती है। 'गौ अश्वमनुष्य' इस ज्ञान की गोत्व में रहने वाली प्रकारता से निरूपित गा में रहनेवाली विशेष्यता, अश्वत्व में रहने वाली प्रकारता से निरूपित अश्व में रहने वाली विशेष्यता से भिन्न है। समूहालम्बन ज्ञान उसमें अन्तर्भूत प्रत्येक प्रकार वाले ज्ञान-सामग्री पर आधारित होने से प्रत्येक समूहालम्बन प्रकार वाले ज्ञान की अनेक विशेष्यताएँ उक्त ज्ञान में प्रतिभासित होती हैं। परन्तु जो लोग धर्मितावच्छेदकता को भी प्रकारता के रूप में स्वीकार करते हैं उनके अनुसार 'अयं घटः' (यह घट है) या 'दण्डीकुण्डली (दण्डी कुण्डल वाला है) इस ज्ञान में मालूम होने वाली दो प्रकारताओं से निरूपित एक ही विशेष्यता होती है। धर्मितावच्छेदक में अन्य ज्ञान साधारण (अन्य ज्ञान की प्रकारता को ज्ञान की प्रकारता के रूप में) स्वीकार करने पर प्रकार के भेद से विशेष्यता का भेद मानना उचित है।

विशेषण तथा विशेष्यतावच्छेदक के रूप में जहाँ खड्ग और कुण्डल इन दोनों से युक्त देवदत्त का प्रत्यय नहीं होता है, अपितु खड्गवाला (और) कुण्डल वाला देवदत्त शूर है इस प्रकार का समूहालम्बन-बोध से अलग तरह का बोध यदि अनुभव-सिद्ध हो तो वहाँ भी दो प्रकारताओं से निरूपित एक ही विशेष्यता स्वीकार करनी चाहिये। अन्यथा उस बोध को समूहालम्बन-बोध से भिन्न नहीं किया जा सकेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसी प्रकार खड्ग और कुण्डल ये दोनों परस्पर विशेषण–विशेष्यतावच्छेदक हुए बिना 'खड्गवाला (और) कुण्डल वाला देवदत्त शूर है' ज्ञान इस में शौर्य के धर्मितावच्छेदक के रूप में प्रतीत होते हैं। जैसे – खड्गवाला कुण्डलयुक्त चैत्र शूर है' इस में खड्ग और कुण्डल इन दो में रहने वाली प्रकारताओं से निरूपित एक ही विशेष्यता होती है। वह विशेष्यता कुछ नैयायिकों के मत में खड्ग और कुण्डल इन दोनों से नियमित शौर्य में रहने वाली प्रकारता से निरूपित विशेष्यता से भिन्न है तो कुछ अन्य नैयायिकों के मतानुसार उक्त विशेष्यता से अभिन्न है।[11]

समूहालम्बन-ज्ञान और संशय में भी विशेष्यता के आधार भेद किया जाता है। संशय में दो कोटियों (भाव एवं अभाव या स्थाणु एवं पुरुष) में रहने वाली दो प्रकारताओं से निरूपित एक ही विशेष्यता होती,[12] जबकि समूच्चय विषयक ज्ञान में विशेष्यताएँ अनेक होती हैं। जैसे–भूतल, मनुष्य तथा पशु से युक्त है' इस प्रत्यय में भूतल में प्रतीत होने वाली एक विशेष्यता, मनुष्य में रहने वाली प्रकारता तथा दूसरी पशु में रहने वाली प्रकारता से निरूपित है।

यद्यपि 'रूपगन्धयुक्तघटवत्भूतलवान् देश है' इस प्रतीति में रूप और गन्ध का ग्रहण 'एकत्र द्वयम्' इस रीति से होता है और इसलिये रूप और गन्ध में रहने वाली दो प्रकारताओं से निरूपित घट में एक ही विशेष्यता है, फिर भी यहाँ विशेषण के विषय में संशयात्मक ज्ञान न होने से तथा मुख्य विशेष्य के विशेष्य के विषय में 'एकत्र द्वयम्' (एक ही स्थान में दो वस्तुएँ) इस तरह का ज्ञान न होने से संशय और एकत्र द्वय इस ज्ञान में होने वाला भेद स्पष्ट हो जाता है।

कुछ नैयायिकों का मत है कि संशय कोटिद्वय विषयताओं में परस्पर अव-च्छेद्य–अवच्छेदक–भाव होता है, जबकि 'एकत्र द्वयं' इस ज्ञान में प्रतीत होने-वाली एक विशेष्यता से निरूपित होने वाली दो प्रकारताओं में अवच्छेद्य–अव-च्छेदक भाव नहीं होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब 'नरो वा स्थाणुर्वा' इस प्रकार का संशय होता है तो स्थाणुत्व में रहने वाली प्रकारता नरत्व में रहने वाली प्रकारता से जिस तरह अवच्छिन्न (नियमित) होती है, उसी तरह नरत्व में रहने वाली प्रकारता स्थाणुत्व में रहने वाली प्रकारता से अवच्छिन्न होती है। परन्तु जब 'एकत्र द्वयम् के रूप में 'स्थाणुपुरुषवान् देश है' यह प्रत्यय होता है तो स्थाणु में रहने वाली प्रकारता से नियमित न पुरुष में रहने वाली प्रकारता होती है और न ही पुरुष में रहने वाली प्रकारता से नियमित स्थाणु में रहने वाली प्रकारता, यद्यपि वह देश में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्यपि संशय और सम्भावना इनमें से हरेक में दो कोटियाँ होती हैं, तथापि सम्भावना की दो कोटियों में से एक में उत्कटता होती है, जबकि संशय में दोनों कोटियाँ समान स्तर की होती हैं। संभावना में प्रतीत होने वाली उत्कटता भी विषयता का ही एक प्रकार है।

विशेष्यता के अतिरिक्त कोटिता, विधेयता, संसर्गता आदि भी विषयता के ही भेद हैं, जिनका विवेचन अग्रिम लेखों में किया जायगा।

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे – ४११००७

– बलिराम शुक्ल

टिप्पणियाँ

१. गदाधर; भासमानवैशिष्ट्य प्रतियोगित्वानुयोगित्वयोरेव विशेषणत्वम्-विशेष्यात्मकत्वात् । अनुमिति प्रकरणे

२. यादवाचार्य; एतद्विषयतावत्वस्य समूहालम्बने विरहात्समूहालम्बन-विशिष्टज्ञानयोर्भेदः । न्यायसिद्धान्तमञ्जरीटीकायाम्

३. गदाधर; मुख्यत्वञ्च विशेष्यतायां प्रकारतानवच्छिन्नत्वं प्रकारताभिन्नत्वं वा । विषयतावादे

४. विशेषता च क्वचिन्निरवच्छिन्ना क्वचिच्च विशेषणान्तरावच्छिन्ना । वहीं

५. अथवा प्रकारताविशेष एव तत् । वहीं

६. नचैवमयं घट इत्यादि ज्ञाने इदन्त्वादेः स्वस्यापि धर्मितावच्छेदकत्वापत्तिरिति ततोऽयमित्याद्याकारकस्मरणप्रसङ्ग इति वाच्यम् । यतस्तदीय प्रकारतानिरूपिताया धर्मितावच्छेदकताया आश्रय एव तदीयधर्मितावच्छेदकः, उक्तस्थले चेदन्त्वनिष्ठ धर्मितावच्छेदकतायाः स्वात्मकप्रकारतायां निरूप्यनिरूपकभावविरहान्नातिप्रसङ्गः । वहीं

७. लोकनाथ झा; संसर्गाविच्छिन्नत्वं प्रकारतायामेव । उभयाभावादिवारक परिष्कारे

८. गदाधर; विनिगमनाविरहेणैव विशेष्यतयापिसमं तस्याः निरूप्यनिरूपकभावसिद्धेर्निष्प्रत्यूहत्वात् । विषयतावादे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

९. वेणीमाधव शुक्ल; सम्बन्धावच्छिन्नत्वं प्रकारतायामेव न तु विशेष्यतायाम्। परिष्कारदर्पणे

१०. गदाधर; विशेष्यता च समूहालम्बने प्रकारभेदादिभद्यते। विषयतावादे

११. तादृशविशेष्यता च तादृशोभयाद्यवच्छिन्न शौर्यादिप्रकारता निरूपित विशेष्यतातोभिन्नाऽभिन्नावेति तु पूर्वोक्तवदूहनीयम्। वहीं

१२. विश्वनाथ पञ्चानन; एकधर्मिणि विरुद्धभावाभावप्रकारकं ज्ञानं संशयः। न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्याम्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रन्थ-समीक्षाएँ

१

रमेशचन्द्र (डॉ) (संपा.) **दिक्-काल : विविध वैचारिक आयाम;** राजस्थान. प्रकाशन, जयपुर, १९९०. पृ. xvi + १९६; मूल्य: रुपये ६५/- (सजिल्द)

प्रस्तुत पुस्तक अन्तर-अनुशासनीय संस्था 'सन्दर्भ' के तत्त्वावधान में प्रस्तुत दिक् तथा काल के बारे में अन्यान्य आयाम पाठकों के सामने रखने वाले पन्द्रह निबन्धों का संग्रह है। उसमें दिक् तथा काल से सम्बन्धित दार्शनिक पहलुओं की चर्चा करने वाले निबन्ध जिस प्रकार सम्मिलित हैं उसी प्रकार साहित्यिक, भाषायी वैज्ञानिक, पौराणिक, ज्योतिषीय आदि अन्य पहलुओं की चर्चा करनेवाले भी। इस प्रकार के दिक्-काल के विवेचन में एक सूत्र का ख्याल अवश्य रखा गया है कि किसी भी पहलू की चर्चा तकनीकी शब्दाडंबर में फँस कर सामान्य पाठक के लिये दुर्बोध न बने। इस प्रकार के प्रयास का यह सराहनीय पक्ष है और इसलिये सम्पादक को तथा उक्त निबन्धों के लेखकों को धन्यवाद दिये जाने चाहिये।

उक्त पुस्तक का यह सराहनीय पक्ष स्वीकार करने के बावजूद एक-दो त्रुटियों की ओर भी सुविद्य पाठकों का ध्यान विनम्रता से आकर्षित करना अनुचित न होगा। इस ग्रन्थ के अन्त में पृष्ठ १६० से पृष्ठ १९६ का समावेश अनावश्यक है, क्योंकि उनमें चर्चित 'सामाजिक यथार्थ', 'प्रतिबद्धता', 'यथार्थ की अभिव्यक्ति-भाषा', 'वाक्-ब्रह्म की शब्द—भाषा', 'वाक्-ब्रह्म की शब्द-यात्रा' आदि ऐसे प्रश्न या संकल्पनाएँ हैं जिनकी चर्चा 'सन्दर्भ' के तत्त्वावधान में हुई होने के बावजूद भी उक्त चर्चा का समावेश प्रस्तुत पुस्तक में करना सर्वथा असमर्थनीय है। उक्त चर्चा क तथा पुस्तक के मुख्य विषय का एक दूसरे से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। एक तो पुस्तक 'सन्दर्भ' के संगोष्ठियों की होनी चाहिये थी, या मात्र दिक्-काल के अन्यान्य वैचारिक आयामों की चर्चा करने वाली। 'सन्दर्भ' के वार्षिक संगोष्ठियों की चर्चा सामान्य पाठकों के सिर पर इस प्रकार बलात् थोंपने का तरीका ठीक नहीं है। मात्र पुस्तक के शीर्षक से प्रभावित हो कर जो पाठक पुस्तक की प्रति खरीदेगा उसे 'सन्दर्भ' के द्वारा आयोजित अन्य संगोष्ठियों में भी बलात् रूचि क्यों होनी चाहिये?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरी बात यह कि इस प्रकार के ग्रन्थों में अनुसन्धान की दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण बिन्दुओं की ओर पर्याप्त मात्रा में ध्यान दिया जाना चाहिये था, जैसे–विषय सूची, नाम–सूची, विस्तृत सन्दर्भ–सूची आदि। पुस्तक के पृष्ठ १६० से आगे के पृष्ठ अगर इस प्रकार के काम में लाये गये होते तो पुस्तक का आनुसन्धानिक मूल्य वृद्धिगत हुआ होता। इसके बजाय दिक्–काल के अन्यान्य वैचारिक आयामों की चर्चा के साथ 'सन्दर्भ' के प्रसार–प्रचार का कार्य भी सम्पन्न किया गया है, जो ठीक नहीं लगता। आशा है 'सन्दर्भ' द्वारा आयोजित संगोष्ठियों में प्रस्तुत निबन्धों की संपादित आवृत्ति इसके आगे पाठकों के समक्ष रखते समय संपादक इस सूचना का यथोचित सम्मान करेंगे।

दर्शन विभाग मो. प्र. मराठे
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे – ४११००७

–२–

सिंह, वीरेन्द्र (डॉ.); **अस्मिता के संवेदन: अंत:– अनुशासनीय आलोचना का सफल प्रयास**; श्याम प्रकाशन, जयपुर; १९९०; पृ १५४; मूल्य : रुपये १००/– (सजिल्द)

आधुनिक हिन्दी कविता का मूल्यांकन अनेक पद्धतियों से होता रहा है। सभी समीक्षा–प्रणालियाँ आधुनिक कविता को नूतन संदर्भों से जोड़ कर विशिष्ट अर्थवत्ता प्रदान करने का प्रयत्न करती रही हैं, किन्तु आधुनिक युग–बोध को सर्वाधिक प्रभावित करनेवाली वैज्ञानिक प्रस्थापनाओं के साक्ष्य पर आधुनिक कविता के विचार–संवेदन को अन्तर–अनुशासनीय परिप्रेक्ष्य में समझाने का व्यवस्थित प्रयत्न प्राय: नहीं हुआ है। डॉ. वीरेन्द्र सिंह की पुस्तक इसी अभाव की पूर्ति और बहुआयामी विचार–संवेदन को चरितार्थ करने का सफल प्रयास है।

आज के विज्ञान वासित युग में कोई भी विचार भाव अथवा संवेदन निरपेक्ष नहीं हो सकता। सभी ज्ञान–शाखाओं और विचार–सरणियों में परस्पर संबंध होता है और उनका समन्वितरूप ही मानवीय चिंतन को गतिशील बनाता है। चिंतन की यही गतिशीलता, रचनात्मक स्तर पर नूतन संदर्भों के साथ कला अथवा साहित्य की सृष्टि करती है। इस दृष्टि से आज की कविता का विज्ञान से प्रभावित होना नितान्त स्वाभाविक है। अत: विज्ञान–बोध के रचनात्मक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संदर्भों के वस्तुगत बोध के अभाव में आधुनिक कविता को सही दृष्टि-क्रम में आत्मसात् करना संभव नहीं है। इतना अवश्य है कि वैज्ञानिक प्रस्थापनाएँ रचनात्मक हो कर ही काव्य उपजीव्य बन सकती हैं। डॉ. वीरेन्द्र सिंह का स्पष्ट मत है कि "जिस प्रकार कवि धार्मिक, दार्शनिक और सामाजिक विचारों को काव्य-रचनात्मकता में रूपांतरित कर सकता है, उसी प्रकार 'वह' वैज्ञानिक प्रस्थापनाओं और विचारों को भी सृजनात्मक ऊर्जा प्रदान कर सकता है; शर्त केवल सृजनात्मक होने की है।" इसी अवधारणा के अनुसार आधुनिक युग के ज्ञान-संवेदन और युग-सापेक्ष नूतन सौन्दर्य-बोध का अन्वेषण और विश्लेषण इस पुस्तक में संगृहीत निबंधों का केन्द्रीय तत्त्व है।

डॉ. सिंह का दृढ़ मत है कि आज की कविता न केवल भाव-बोध को अभिव्यक्ति देना चाहती है, अपितु ज्ञान और यथार्थबोध की अभिव्यक्ति से अपने को प्रामाणिक भी सिद्ध करना चाहती है। ज्ञानात्मक संदर्भों के साथ परिवेशगत यथार्थ के सायुज्य से रचनाशीलता गतिशील होती है और युग-बोध जीवन्त बनता है। रचनाकार अपनी संवेदना के विवेकसंगत प्रयोग से अपने व्यक्तिवेद्य यथार्थ और सत्य को सर्वजन-संवेद्य बनाने में सफल होता है। आज की कविता में वैज्ञानिक निष्पत्तियों की उपेक्षा करना उसके भीतर विद्यमान दृष्टि-विकास के स्वरूप और तज्जनित नूतन सौन्दर्य बोध की उपेक्षा करना होगा। डॉ. सिंह ने इसी दृष्टि से वैज्ञानिक प्रस्थापनाओं की रचनात्मक चरितार्थता और उनकी काव्यगत मूल्यवत्ता का उद्घाटन करने का सफल प्रयत्न किया है। इस दृष्टि से "वैज्ञानिक परिदृष्टि से कामायनी का नया मूल्यांकन," "वैज्ञानिक दर्शन में सत्य या ईश्वर और हिन्दी की आधुनिक कविता" "आधुनिक कविता और परमाणु", "वैज्ञानिक परिदृष्टि से आधुनिक और समकालीन कविता" जैसे निबंध विशेषरूप से लक्षणीय हैं। इन निबंधों में आधुनिक विज्ञान के उन सभी सृजनात्मक स्वरूपों को प्रामाणिक तर्कों के आधार पर सिद्ध किया गया है जो आधुनिक काव्य को एक अर्थवान् आयाम प्रदान करते हैं। लेखन ने अपनी स्थापनाओं की पुष्टि के लिए जहाँ एक ओर भारतीय चिंतकों और रचनाकारों को उद्धृत किया वहीं दूसरी ओर सी. इ. एम्. जोड; सर आर्थर एडिंगटन, हर्बर्ट डिन्जिल; वैटले ग्लास; न्यूटन, मैक्सवेल; जे. सूलीवेन; आइन्सटाइन, जे हक्सले, बट्रेण्ड रसेल, फ्रेड हायल जैसे लब्धप्रतिष्ठ वैज्ञानिक चिंतकों के मतों को भी प्रस्तुत किया है। इन लेखों में लेखकों के व्यापक अध्ययन और विवेकपूर्ण चिंतन प्रणाली के दर्शन होते हैं। सृष्टि-विकास की प्रक्रिया, अणु, परमाणु, एलेक्ट्रान, न्यूटान, प्रोटान, मीसोट्रान यूरेनियम जैसी सूक्ष्म वस्तुओं के विश्लेषण और आधुनिक हिन्दी कविता में उनकी उपस्थिति का अनुसंधान लेखक की विज्ञान में गहरी रुचि के साथ चिंतन की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैज्ञानिक प्रणाली को भी सिद्ध करता है। ध्यातव्य है कि डॉ. सिंह ने विज्ञान-दर्शन पर एक स्वतंत्र पुस्तक भी लिखी है।

डॉ. बीरेन्द्र सिंह की पुस्तक **मिथक-दर्शन का विकास** उनके मिथक संबंधी गंभीर अध्ययन और चिंतन का पुष्ट प्रमाण है। इस पुस्तक में संगृहीत उनके दो निबंध-'राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त का मिथक काव्य-नए संदर्भ' और 'महाभारत-प्रसंगों का रचनात्मक संदर्भ'- काव्य में मिथकों के महत्त्व और औचित्य पर प्रकाश डालते हैं। उनकी मान्यता है कि 'मिथक सोये हुए जातीय भावों के जगाने का एक सशक्त माध्यम है। मैथिली शरण गुप्त, राम, कृष्ण, बलराम, तथागत, उर्मिला, यशोधरा जैसे आद्यरूपों को अपने समकालीन जातीय परिवेश के साथ संदर्भित करके शोषण विरोधी जन-चेतना को उद्‌बुद्ध किया है। डॉ. सिंह के अनुसार सहज, सुबोध भाषा में मिथकीय अर्थ के रूपान्तरण द्वारा गुप्त जी ने 'परतंत्र राष्ट्र को ऊर्जस्वित और आंदोलित' किया है और उनका यही विशिष्ट प्रदेय उन्हें राष्ट्र-कवि की महिमा से मंडित करता है।

डॉ. सिंह का निबंध 'महाभारत प्रसंगों का संदर्भ : परिप्रेक्ष्य आधुनिक कविता का' में महाभारत के प्रसंगों पर आधारित आधुनिक कविता में मिथकीय ट्रीटमेंट और तज्जनित प्रभावान्विति पर चिंतन परक विचार किया गया है। मिथकीय ट्रीटमेंट के संदर्भ में लेखक ने तीन प्रधान तत्त्वों को रेखांकित किया है - १. दिव्यता और अलौकिकता के स्थान पर मानवीय अस्तित्व और संघर्ष पर बल २. इतिहास की सापेक्षता ३. विचार-तत्त्व की प्रधानता। इन्हीं तत्त्वों के आधार पर आधुनिक कविता में भाव-स्फीति के स्थान पर 'सोच-संवेदन' की सघनता उत्तरोत्तर बढ़ती गई। परिणाम स्वरूप जन-संस्कृति के मिथकों में जनवादी चेतना का प्रक्षेपण हुआ। 'जयभारत' जयद्रथ वध, बकसंहार, प्रिय प्रवास जैसी कृतियों में इस नूतन मिथकीय ट्रीटमेंट का आरंभिक स्वरूप दिखाया गया है। डॉ रामकुमार वर्मा की 'एकलव्य', उदयशंकर भट्ट की 'कौन्तेय कथा', नरेन्द्र शर्मा की सुवर्णा और 'दिनकर' की कुरुक्षेत्र जैसी कृतियों में यह मिथकीय ट्रीटमेंट अपेक्षाकृत अधिक उभर कर आया है। आधुनिक काल की वैचारिक गतिशीलता के विविध आयामों को प्रभावी अभिव्यक्ति देने के लिए एक उपयोगी माध्यम के रूप में इन प्रसंगों को ग्रहण किया गया है। अंधायुग, महाप्रस्थान, सूर्यपुत्र जैसी कृतियों के माध्यम से वर्तमान युग की बहुविध विकृतियों और विद्रूपों से उद्‌भूत वैचारिक द्वंद्वों और विडम्बनाओं के प्रभावी चित्रण में मिथकीय ट्रीटमेंट की नूतनता और उपादेयता को रेखांकित किया गया है। इन मिथकीय रचनाओं के सामाजिक और वैयक्तिक सरोकारों के साथ भावानुगामिनी रचनात्मक भाषा के स्वरूप को भी रेखांकित किया गया है। यह लेख पुनर्जागरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काल से ले कर अद्यतन हिन्दी कविता का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है और मिथकीय प्रसंगों की अर्थ-रूपान्तरण-प्रक्रिया का प्रामाणिक दस्तावेज प्रस्तुत करता है।

'समकालीन कविता में अस्वीकार का स्वरूप" और "समकालीन काव्य-सर्जना और एब्सर्ड-बोध" निबंधों में आधुनिक कविता की उस प्रवृत्ति को विश्लेषित किया गया है जो नये मूल्य-बोध के सृजन की आकांक्षा से विद्रोह और अस्वीकार के दर्शन में विश्वास करती है तथा युग-व्याप्त विकृतियों और विद्रूपों को दुःखद परिणतियों की अनौचित्यपूर्ण और अप्रासंगिक स्थितियों के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि रखती है। लेखक की मान्यता है कि अस्वीकार और विद्रोह में सहसंबंध होता है और मुक्ति उनका लक्ष्य है। इसी दृष्टि से "आज की व्यवस्था तथा विरूपताओं के बीच आज का आक्रोशी कवि इन विरूपताओं के चित्रण को ही लक्ष्य न मान कर, इनके माध्यम से क्रान्ति तथा विद्रोह की तलाश में है।" आज का कवि ज्ञानात्मक स्तर पर असंस्कृत और कुरूप परिवेश को यथार्थ रूप में स्वीकार करता है और उस पर ध्वंसधर्मी प्रहार करता है। वह काल-सापेक्ष नये प्रतिमानों की खोज और संकीर्णता के स्थान पर विराट् की तलाश करता है। इसी प्रकार आज की कविता में एब्स-डिटी को जो स्वरूप मिलता है उसे लेखक आज की अस्तित्व और संघर्ष की तणावपूर्ण स्थितियों का परिणाम मानता है। भारतीय लेखन के संदर्भ में लेखक की मान्यता है कि सांस्कृतिक प्रक्रिया में यहाँ के किसान, मजदूर और बाबू वर्ग के सक्रिय सहभाग के अभाव में यहाँ तीखे और अर्थवान् एब्सर्ड की अभिव्यक्ति नहीं हो पाई। अर्थवत्ता प्रदान करना ही एब्सर्ड बोध का रचनात्मक महत्त्व है। लेखक का स्पष्ट मत है कि "जहाँ पर कोई भी एब्सर्ड अनर्गल प्रलाप की कोटि में आ जाए तो वह अपनी सर्जनात्मक अर्थवत्ता खो देता है और बेभान हो जाता है।" अर्थात्, एब्सर्ड-बोध सर्जनात्मक सापेक्षता में ही स्वीकार्य और सार्थक होता है।

'नई और समकालीन कविता की भाषिक संरचना' और 'फस्ट्रेशन की भंगिमा में भाषिक व्यंग्य' निबंधों में आधुनिक कविता की भाषा पर विचार किया गया है। डॉ. सिंह की मान्यता है कि कविता की भाषिक संरचना का सीधा संबंध समकालीन सामाजिक सरचना से होता है। सामाजिक संरचना की सापेक्षता में ही भाषा जन-जीवन की यथार्थ स्थितियों को व्यक्त कर पाती है। भाषा के स्तर पर ही युगीन वैचारिक संघर्ष अपनी गहरी संवेदनाओं के साथ, जातीय अस्मिता के वाहक मिथकों का रूपान्तरण होता है। इस संदर्भ में डॉ. सिंह उस दुखती रग पर उंगली रखना नहीं भूलते जहाँ किसी अतिरिक्त आवेश या उबाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के प्रभाव से भाषिक संरचना अपनी रचनात्मकता को खो कर बड़बड़ाहट की दशा को पहुँच जाती है। उनके अनुसार–' सच तो यह है कि आवेश या कोई अन्य मनोभाव उसका सर्जनात्मक महत्त्व उच्छृंखल अभिव्यक्ति में न हो कर एक संयमित अभिव्यक्ति में होता है। " अनेक युवा कवियों में वे संयमशील रचनात्मक भाषा के अभाव को लक्षित करते हैं। डॉ. सिंह की मान्यता है कि रचनात्मकता के अभाव में काव्य–भाषा अपनी सार्थक संप्रेषण–क्षमता खो देती है। सृजनशीलता ही काव्य–भाषा की अनिवार्य शर्त है। भाषा के विविधरूप रचनात्मकता के कारण संवेदन तत्त्व की सापेक्षता में सगुण साकार होते हैं।

धूमिल के काव्य संग्रह ' संसद से सड़क तक ' का मूल्यांकन करते हुए डॉ. सिंह उनकी कविताओं में निहित सार्थक वक्तव्य को युग–सापेक्ष एक अर्थवान् तथ्य के रूप में स्वीकार करते हैं किन्तु धूमिल के वक्तव्यों के उस स्वरूप को एक बडी कमजोरी मानते हैं जहाँ उनकी कविताएँ अपने कसाव और गठन को खो कर और अपने स्वरूप से हट कर ' आलोचना का एक गद्यात्मक टुकड़ा बन जाती हैं।' इसी क्रम में उन्होंने धूमिल, जगूडी, मणि मधुकर, राजीव सक्सेना, ललित शुक्ल जैसे कवियों के एक टाइप हो जाने और संवेदना की गहराई के अभाव में कुंठित हो जाने की विडंबना पर असंतोष व्यक्त किया है।

' अज्ञेय की काल सर्जना ' और ' बलदेव वंशी के काव्य में दिक् काल-बोध ' निबंधों में इन रचनाकारों की काल–चिंतन संबंधी अवधारणाओं से उनकी कविताओं में प्राप्त परिणतियों का वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इन रचनाकारों का दिक् और काल का बोध सायुज्यभाव से प्रकट होता है। डॉ. सिंह के अनुसार अज्ञेय ने दिक् काल को संवेदन और विचार के धरातल पर ग्रहण किया है जब कि बलदेव वंशी की रचनाओं में दिक् काल, यथार्थ, संघर्ष, प्रकृति तथा मानव संबंधों के विभिन्न स्तरों पर प्रस्तुत होता है। डॉ. सिंह का मत है कि ' काल का अस्तित्व घटना–सापेक्ष है और दिक् पदार्थ सापेक्ष। इन घटनाओं और पदार्थों का अस्तित्व द्रष्टा सापेक्ष है। " रचनाकार द्रष्टा की भूमिका में दिक् काल का सापेक्षिक अनुभव करता है।

' महावासना से अध्यात्म तक ', सेक्स और काम का संतुलित रचनात्मक संदर्भ' 'नागार्जुन का काव्य: विविध आयाम,' 'बलदेव वंशी की कविता: प्रकृति संदर्भ ' निबंधों में क्रमशः वीरेन्द्रकुमार जैन, डॉ. जगदीश गुप्त, नागार्जुन और बलदेव वंशी की कृतियों को अनेक कोणों से देखने का सफल प्रयत्न किया गया। इन सभी निबंधों की विश्लेषण–प्रक्रिया से डॉ. सिंह की मौलिकता और वैज्ञानिकता स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। इन कृतियों और कृतिकारों के संबंध में डॉ. सिंह की स्थापनाएँ तार्किक चिंतन पर आधारित और उनकी नूतन उपलब्धियों का संकेत करती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. वीरेन्द्र सिंह अन्तः–अनुशासनीय आलोचना प्रणाली के स्थापित हस्ताक्षर हैं। आधुनिक हिन्दी कविता को विभिन्न कोणों से आकलित करने में उनका महत्त्वपूर्ण योग है। प्रस्तुत पुस्तक भी अनेक अछूते संदर्भों को उजागर करती है और आधुनिक कविता ठीक–ठीक समझने के लिए वैज्ञानिक दृष्टि का विकास करती है। आधुनिक कविता का काल–सापेक्ष सौन्दर्यबोध विकसित करने में डॉ. वीरेंन्द्र सिंह की इस पुस्तक का महत्त्व निर्विवाद है और इसलिये पाठकों से पुस्तक का यथोचित स्वागत होना चाहिये।

– रामजी तिवारी

हिन्दी विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे – ४११००७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिन्दी) के स्वामित्व एवं अन्य विषयों से सम्बन्धित विवरण
(फॉर्म ४ नियम ८ देखिये)

१. प्रकाशन स्थान : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय पुणे – ४११००७

२. प्रकाशन अवधि : त्रैमासिक

३. मुद्रक का नाम : डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बारलिङ्गे
पता और राष्ट्रीयता : १ मोरेश्वर हाऊसिंग सोसायटी, बाणेर रोड, पुणे – ४११००७ भारतीय

४. प्रकाशक का नाम, डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बारलिङ्गे
पत्ता और राष्ट्रीयता १, मोरेश्वर हाउसिंग सोसायटी, बाणेर रोड, पुणे ४११००७, भारतीय

५. सम्पादकों के नाम, : १. डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बारलिङ्गे
१, मोरेश्वर हाउसिंग सोसायटी
बाणेर रोड, पुणे ४११००७ भारतीय

२. डॉ. राजेन्द्र प्रसाद,
स्टेडियम मुख्य दरवाजे के सामने, प्रेमचन्द पथ,
राजेन्द्र नगर, पटना – ८०००१६, भारतीय

३. डॉ. आनन्द प्रकाश दीक्षित,
'कलापी', प्लॉट क्र. २५३७. पुलिस परिवहन
कार्यशाखा के पीछे, बाणेर रोड, औंध
पुणे – पुणे – ४११००७,

४. डॉ. मोरेश्वर प्रभाकर मराठे
दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे – ४११००७, भारतीय

६. उन व्यक्तियों/संस्थाओं : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय पुणे–४११००७
के नाम व पते जो और प्रताप तत्त्वज्ञान, केन्द्र, अमलनेर–४२५४०१
समाचारपत्र के स्वामी हों। जिला–जलगाँव, (महाराष्ट्र)

मैं सुरेन्द्र शिवदास बारलिङ्गे, एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

– सुरेन्द्र बारलिङ्गे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिक्रियाएँ

—१—

डॉ. गौतम का निबन्ध – 'भारतीय सन्दर्भ में धर्मनिरपेक्षता का आदर्श' विचारोत्तेजक और तथ्य–पूर्ण है। निबन्ध में संस्थाबद्ध धर्म की स्वीकृति को धर्म–निरपेक्षता के लिए बाधक माना गया है क्यों कि इससे सामाजिक जीवन में धर्म को हस्तक्षेप करने का अवसर मिल जाता है। डॉ. गौतम का प्रमुख तर्क यह है कि कोई भी धार्मिक व्यक्ति स्वभावत: अपनी धार्मिक आस्था को अन्य धर्मों से श्रेष्ठतर स्थान देगा, इसलिए वह सर्व धर्म समभाव का कभी सच्चाई से निर्वहन नहीं कर सकता। इस तरह संवैधानिक रूप सें धर्म के प्रति उदासीनता न रख कर विभिन्न धार्मिक समुदायों के धार्मिक अधिकारों को संरक्षण देने की भारतीय (सरकारी) नीति धर्म–निरपेक्षता के आदर्श में बाधक बनती है। यदि संस्थाबद्ध धर्म की प्रचलित धारणा और उसके प्रति आशंका की भावना धर्म की स्वरूपगत सच्चाई हो तो डॉ. गौतम का तर्क अकाट्य है। पर यह सच नहीं है। वर्तमान सामाजिक-राजनैतिक परिवेश में हमारे मन में एक सामान्य-सी धारणा बन गई है कि किसी भी संस्थाबद्ध धर्म का अन्य धर्मों से विरोध होना स्वाभाविक है। अगर विरोध का अर्थ भिन्नता हो तो एक हद तक यह धारणा ठीक मानी जा सकती है; पर विरोध का अर्थ प्राय: टकराव से लिया जाता है। यानि हम यह मान कर चलते हैं कि एक धार्मिक समुदाय अपने धार्मिक हितों में अन्य धार्मिक समुदायों से टकराने की प्रवृत्ति रखता है। यह बात कहाँ तक सच है? – इसकी परीक्षा आवश्यक है।

धर्म एक चेतना के रूप में नितान्त वैयक्तिक अनुभव में जन्म लेता है। यह अनुभव इतना अनजाना-सा होता है कि इसे किसी अन्य पर व्यक्त करना भी अति दुरूह होता है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि हर धर्म के आदि पुरुषों को इस कठिनाई का सामना करना पड़ा है। इसलिए धर्म अपने इस रूप में बड़ा नाजुक और असहाय होता है। (यद्यपि यह प्रारंभिक अवस्था है पर अपनी विवेचना और आलोचना में इसे याद रखना जरूरी है। अन्यथा इसे भूल कर हम धर्म को उस रूप में देखने लगते हैं जो कि वह है नहीं।) अगर दुरूह अन्तर्वैयक्तिक संवाद द्वारा इस अनुभव को अन्य तक पहुँचाने का प्रयास न किया जाय तो इस स्मृतिअवशेष तक के खो जाने की सम्भावना रहती है। इसे खोने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से बचाने के लिए ही परम्परा का जन्म होता है। समय के साथ परम्परा क्रमश: स्वयं को सामाजिक रूप से ग्राह्य बना लेती है और संस्थाबद्ध धर्म का रूप प्रकट होने लगता है। संस्थाबद्ध हो कर धर्म अपने अस्तित्व की सुरक्षा सुनिश्चित कर पाता है। लेकिन ध्यातव्य है कि यह सुरक्षा किसी बाहरी खतरे के विरुद्ध नहीं है। यह सिर्फ स्वयं खो जाने से बचने का उपाय है जो हर धर्म को करना ही पड़ता है। हर धर्म की नियति है कि कालक्रम में वह संस्थाबद्ध हो जाता है। साम्प्रदायिक टकराव के आधुनिक सन्दर्भ में यह नियति दुर्भाग्यपूर्ण प्रतीत होती, है, पर दूसरी ओर अगर इसे मूल्यवान् धार्मिक अनुभव के संरक्षक के रूप में देखा जाय तो इसी का एक अच्छा रूप भी दिखायी देगा।

धार्मिक अनुभूति कोई मूल्यवान् अनुभूति है या नहीं इस पर विवाद हो सकता है। यहाँ वह विवाद विषयान्तर पैदा करेगा। लकिन अपने विषय के सन्दर्भ में इतना उल्लेख करना आवश्यक है कि धर्म-निरपेक्षता के पक्षधर होने के नाते धार्मिक अनुभूति के मूल्य को ही नकार देना पूर्वाग्रहपूर्ण मत होगा।

संस्थाबध्द हो कर धर्म अपने अस्तित्व की सुरक्षा तो कर लेता है लेकिन इसके साथ ही वह भूमि भी तैयार हो जाती है जिसमें राजनैतिक महत्वाकांक्षा के बीज आसानी से पनप सकते हैं। धर्म में जब सामुदायिक धार्मिक हितों के संरक्षण की माँग उठने लगे तो समझना चाहिए कि धर्म में राजनैतिक घुसपैठ शुरू हो गई। सामुदायिक धार्मिक हितों के संरक्षण की माँग राजनैतिक आकांक्षा है, धार्मिक नहीं। धार्मिक मान्यताओं की पृष्ठभूमि रखने के कारण यह विभ्रम होने लगता है कि ये धार्मिक माँगें हैं। एक सादृश्य से यह स्पष्ट हो सकेगा। यथार्थ शैली का चित्रकार समुदाय अमूर्त शैली के चित्रकारों से भिन्न प्रकार से चित्रांकन करता है। पर दोनों में परस्पर द्वन्द्व नहीं होता। लेकिन मान लें कि यथार्थ शैली के चित्रकारों में किसी तरह यह भावना आ जाय कि उनकी शैली ही चित्रकला की एकमात्र शैली के रूप में मानी जानी चाहिए, तो परस्पर संघर्ष अनिवार्य होगा। लेकिन क्या इस प्रकार की आकांक्षा को कलात्मक आकांक्षा या उसका आवश्यक परिणाम कहा जायेगा? स्पष्टत: नहीं। पर कल्पना करें कि कला जगत् में ऐसे द्वन्द्व आम होते और हमारा परिचय ऐसे ही कला जगत् से होता तो हमें यही प्रतीत होता कि एक कला शैली के समर्थक होने का अर्थ ही है दूसरी कला शैली के विरुध्द होना। वैसी स्थिति में यह भी तर्क दिया जायेगा कि अब कोई एक कला शैली को स्वीकार करता है तो स्वभावत: वह उसी शैली को अन्य से श्रेष्ठ मानेगा। अत: अन्य कला शैली के समर्थकों से उसका विद्वेष आवश्यक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपरोक्त वैचारिक प्रयोग हमें यह समझने में थोडी मदद करता है कि संस्थाबद्ध धर्म में सामुदायिक धार्मिक हितों के नाम पर जो विकृतियाँ दिखार्या देती हैं वे वास्तव में धार्मिक हित या आकाक्षाएँ नहीं हैं।

यहाँ यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि चित्रकला या कोई भी कला कलाकार के जीवन को वैसी सम्पूर्णता से प्रभावित नहीं करता जिस तरह धर्म धार्मिक व्यक्ति के जीवन को करता है। व्यक्ति कला सीखता है। धर्म उसे बचपन से मिलता है और उस के व्यक्तित्व को ढालता है। इसलिए संस्थाबद्ध धर्म की मान्यताओं को स्वीकार करने का अर्थ है जीवन को पूरी तरह उसके हवाले करना। फिर वहाँ व्यक्तिगत और सामाजिक का भेद नहीं रह जाता। यह बात सच होते हुए भी परिणाम रूप में गलत है। धर्म जीवन को सम्पूर्णता में प्रभावित करता है इस का अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति को धार्मिक मान्यता उसके हर पल के छोटे-छोटे निर्णयों का विस्तृत निर्देश देती है। इस तरह की जड़तापूर्ण धारणा काफी समय तक इस देश में प्रचलित रही। किस तिथि को कौन सी सब्जी खाई जाए या नहीं इसे भी धार्मिक अनुमति का विषय माना जाता रहा। पर निश्चय ही धार्मिक मान्यता के समग्र प्रभावी होने का ऐसा हास्यास्पद अर्थ स्वीकार्य नहीं है। वास्तव में इस का अर्थ यह है कि धार्मिक मान्यता व्यक्ति के मौलिक चिन्तन के ढग को प्रभावित करती है जिससे उसका सारा जीवन व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों तलों पर प्रभावित होता है। लेकिन यह प्रभाव एक प्रभाव न हो कर भौतिक और सामाजिक सभी प्रकार के प्रभावों से स्वयं को मुक्त कर लेने की स्थिति है। इसलिए इसे अगर प्रभाव कहा भी जाय तो इससे कोई सामुदायिक टकराव पैदा नहीं होता।

भ्रान्त धारणाओं के आधार पर कोई वास्तविक सुधार सम्मत नहीं है। धार्मिक टकराव के प्रसंग में धर्म-निरपेक्षता की सरकारी धारणा की विसंगतियों को, गौतम ने बखूबी प्रकट किया है। लेकिन उनकी आलोचना में धर्म के उपरोक्त विकृत स्वरूप को ही संस्थाबद्ध धर्म का यथार्थ स्वरूप मान लिया गया है। इसलिए अत्यंत प्रासंगिक होते हुए भी धार्मिक समुदायों के टकराव की समस्या के मूल तक वह पहुँच नहीं पाती और इस निष्कर्ष पर जा अटकती है कि धार्मिक मान्यता की स्वीकृति धर्म-निरपेक्षता के आदर्श की विरोधी है।

धर्म ने राजनीति में दखलन्दाजी की है यह बहुत बाद का सच है। प्रारंभिक रूप से सच यह है कि राजनैतिक आकांक्षाओं ने संस्थाबद्ध धर्म के निर्दोष स्वरूप को दूषित और विकृत किया है। सामान्यतया इस प्रारंभिक सच की तरफ हमारा ध्यान नहीं जाता या शायद कुछ प्रतिबध्दताओं के चलते इसे हम नज़रअन्दाज़ करने की कोशिश करते हैं। लेकिन इसे स्वीकार किए बिना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म–निरपक्षता के आदर्श को फिर भी नहीं पाया जा सकता। इसे स्वीकार किए बिना हम सिर्फ संस्थाबद्ध धर्म से पीछा छुड़ाने की कोशिश कर सकते हैं, पर सफल नहीं हो सकते। जब तक मूल आकांक्षाओं के तल पर धर्म और राजनीति का भेद नहीं किया जाता तब तक राजनैतिक आकांक्षाएं धार्मिक जीवन को दूषित करती रहेंगी और परिणामस्वरूप वह दूषित धर्म आवश्यक रूप से लोक-जीवन में अशान्ति और वैमनस्य का विष घोलता रहेगा। संस्थाबद्ध धर्म का यथार्थ स्वरूप पारस्परिक टकराव में कभी नहीं ले जाता। उस के यथार्थ निर्दोष स्वरूप को समझे बिना धर्म-निरपेक्षता के आदर्श को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

दर्शन शास्त्र विभाग, हिरेन्द्र प्रसाद साह
पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ

–२–

परामर्श (हिन्दी) के सितम्बर, १९९० के अंक में डॉ. सत्यपाल गौतम का लेख "भारतीय संदर्भ में धर्म निरपेक्षता का आदर्श : एक विवेचन" पढ़ा। लेख में डॉ. गौतम ने कुछ प्रश्न उठाये हैं। इनमें से कुछ का सम्बन्ध धर्म के साथ है तथा कुछ प्रश्न शुद्धत: साम्प्रदायिक हैं। कहीं कहीं उन दोनों को एक करके देखा गया है। साथ ही जहां जहां भारतीय परिवेश में धर्म व उसके इतिहास से सम्बन्धित विवेचन हुआ है वह कई बार एक पक्षीय व अंशीय हो गया है। डॉ. गौतम द्वारा सुझाये गये कुछ सुझाव महत्त्वपूर्ण हैं। ऐसे ही विभिन्न सुझाव पिछले कुछ वर्षों से समन्वय वादियों द्वारा तथा राजनीति करने वालों द्वारा दिये जाते रहे हैं। किन्तु सुझावों को व्यवहार में उतारने की प्रक्रिया या प्रणाली का पक्ष अनछुआ ही रहा है। हम आदर्श की स्थापना के बारे में निश्चित अभिमत रख सकते हैं परन्तु साथ ही उन आदर्शों की व्यवहार में लाने अथवा उनकी व्यवहारिकता के प्रश्न को सुलझाने की नैतिक जिम्मेदारी भी हम पर ही आती है। डॉ. गौतम के लेख को गौर से पढने पर सिद्धान्त एवं व्यवहार की इस दुविधा को अपने समक्ष पा रहा हूं। साथ ही विचार एवं संवाद की बेहतर स्थितियों का अभाव भी महसूस हो रहा है। लेकिन उनका प्रयास भी स्तुत्य है, आशा है, मंथन की यह प्रक्रिया आगे बढेगी तथा कुछ ठोस निष्कर्ष सामने आयेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. गौतम ने धार्मिक सहिष्णुता की भावना को सशक्त न मानते हुए इसे 'झूठा गौरव' बतलाया है। यह बात ऐतिहासिक दृष्टि से उचित नहीं है। भारतीय संस्कृति में प्रत्येक मत को अपने मत के प्रतिपादन तथा अपनी विचार पद्धति के अनुसार अपना जीवन–दर्शन विकसित करने आदि की पूर्ण स्वतंत्रता रही है। भारतीय समाजों में इन बातों को लेकर कभी हिंसात्मक संघर्ष नहीं हुए हैं, बल्कि इन्हें सहजता से स्वीकार किया है। वैदिक दर्शन से लेकर वेदोत्तर बौद्ध, जैन मतों को स्वीकार किया गया है तथा बहाई, राधास्वामी, स्वामी-नारायण आदि आधुनिक विभिन्न मत मतान्तरों को पनपने एवं पल्लवित होने के पूर्ण अवसर देने की विशेषता इस संस्कृति की रही है। अतः यह कहना कि धार्मिक सहिष्णुता की भावना एक झूठा गौरव मात्र है, उपयुक्त नहीं है। भारतीय सस्कृति एवं दर्शन के इतिहास पर दृष्टिपात करें ते यही स्पष्ट होता है कि यहाँ पर विभिन्न विचारों, विश्वासों तथा मतों के विवादों को खुले शास्त्रार्थों द्वारा सुलझाया जाता रहा है। यहाँ यह भी कहना अनुचित नहीं होगा कि आनेवाले समय में हमें फिर से इसी प्रक्रिया को अपनाना होगा क्योंकि युद्ध और हिंसा तो किसी भी समस्या का हल नहीं है।

यद्यपि सर्व प्रथम भारत में संगठित धर्म–संघ अस्तित्व में आये किन्तु बाद में इन्ही धर्म–संघों के अनुयायियों द्वारा धर्म के संगठित स्वरूप को भुला कर उसे रूढ़ीवादी बना दिया गया। परिणामस्वरूप आज संगठित साम्प्रदायिक हित एवं उन्हीं के उद्देश्यों की प्राप्ति ही धर्म के आधार एवं उद्देश्य बन गये हैं। आवश्यकता फिर इसी बात की है कि हम इन पृथक्–पृथक सम्प्रदायवादों में गुम न हो जाय तथा धर्म के सच्चे स्वरूप को, जो इस भीड़ में खो गया है उसे उजागर करें। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो भी पाते हैं कि अलग–अलग संगठित संघों का सह–अस्तिव में पूर्ण विश्वास था तथा उनकी अच्छाइयों को परस्पर सहिष्णुता के आधार अपनाया गया था। वे स्थितियां–परिस्थितियाँ भावनायें क्या थी जिन्होंने सहिष्णुता को व्यावहारिक रूप प्रदान किया? इस प्रश्न पर विचार किया जाना आवश्यक है। हो सकता है कि इस के मंथन द्वारा हमें कोई स्वीकार्य हल मिल जाये।

धार्मिक कट्टरता का जोर भारत में इस्लाम के आगमन के साथ बढ़ गया इस बात को केवल अंग्रेजी इतिहासकार ही नहीं लिखते बल्कि भारतीय इतिहासकार भी इसे स्वीकार करते हैं। इस्लाम के अनुयायी एवं शासक भारत की भूमी पर एक आक्रामक के रूप में आये। उन्होंने भारतीय मन्दिरों, विद्यालयों, नगरों–ग्रामों को बार–बार लूटा, बल पूर्वक धर्म परिवर्तन कराये तथा अन्य अत्याचार किये। ये सब बातें हमारे इतिहास का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिस्सा है। एवं आक्रमक के रूप में वे जो कर सकते थे, उन्होंने किया। परन्तु समस्या तब बढ़ी जब वे यहीं रह गये तथा उन्होंने धर्म के नाम पर दो साम्प्रदायिकता के स्वरूप को विकसित किया तथा एक सम्प्रदाय को दूसरे सम्प्रदाय के विरोधी माना गया। इस प्रकार सदियों से भिन्न मत–मतान्तरों के रहते हुए भी एक समाज के रूप में स्थापित भारतीय समाज इस्लाम के आगमन के बाद दो वर्गों में बँट गया। स्पष्ट है कि दो विरोधी समुदाय एक साथ एक ही समाज बन कर नहीं रह पाये। भारतीय इतिहास के इस तथ्य को डॉ. गौतम अंग्रेज इतिहासकारों द्वारा रचा–बुना विकृत तथा एक पक्षीय चित्रण मानते हैं, जो ठीक नहीं है। इतिहास के इन्ही पन्नों में अकबर जैसा महान् शासक हुआ है जिसने इस समस्या को समझ तथा उसके निराकरण हेतु कुछ सीमा तक सार्थक प्रयास भी किये। लेकिन उनके बाद में इस प्रकार के प्रयासों की कमी ही रही है।

साम्प्रदायिक अस्मिता की सुरक्षा का जिक्र करें तो यह कहना उचित होगा कि उसका धर्म से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। एक व्यक्ति जिस प्रकार अपनी अस्मिता की रक्षार्थ संघर्ष करता है वैसा ही एक समुदाय–विशेष का आग्रह अपनी संस्कृति के प्रति रहता है। लेकिन भारत में ऐसा कभी नहीं हुआ कि एक समुदाय ने अपनी अस्मिता के लिये दूसरे समुदाय से संघर्ष किया हो। हाँ ' फूट डालो और राज करो " उक्ति को चरितार्थ करते हुए अंग्रेजों ने युक्तिपूर्वक इन अस्मिताओं को विकृत करने के अथक प्रयास अवश्य किये थे, जिनका व्यापक फायदा भी उन्हें मिला। हमारी विषमताओं का फायदा बाहर के लोगों ने उठाया लेकिन कुछ समय के लिये। विविधताएँ कहाँ नहीं होती ? लेकिन इनके होते हुए भी हमारी संस्कृति में एकता एवं आत्मसंगतता को आज भी देखा जा सकता है। हमारे पूर्व धार्मिक जीवन, चिन्तन–शैली, जीवन–दर्शन सभी में एकरसता है। विषमता केवल लोक जीवन से जुडी संस्कृति एवं भाषा की है, न कि धर्म में। यहाँ अविश्वास, संदेह एवं विरोध उसी के प्रति हुआ है जिसने बलपूर्वक या हिंसक प्रयासों द्वारा मानवीय मूल्यों को नष्ट करने का प्रयास किया है। आतताई के प्रति विरोध व अविश्वास स्वाभाविक है। अपनी अस्मिता की पहचान हम दूसरे की अस्मिता को नुकसान पहुँचाये बिना भी बनाये रख सकते हैं। जो इस बात को स्वीकार न करके दूसरे समुदायों, संस्कृतियों के प्रति दुर्भावना एवं हिंसा को अपनाते हैं उनका संगठित विरोध भारत में ही नहीं बल्कि विश्व में भी सभी स्तरों पर किया जाना आवश्यक है, यही हमारा धर्म कहता है।

लेख में दंगों तथा भारतीय मध्यम वर्ग की भूमिका एवं दंगों से प्रभावित खास कर उन क्षेत्रों को ध्यान में रखा गया है जो बड़ें बडे कस्बे या नगर हैं। लेकिन यहाँ पर भारत के उन ७० टक्के देहाती क्षेत्रों का जिक्र नहीं किया गया है जहाँ कभी भी साम्प्रदायिक ज्वार नहीं उठता। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में देश का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विभाजन कांग्रेस की कूटनीति की हार है न सहिष्णुता, सद्भावना की। हिंसा तथा स्वार्थ का सुख जिन लोगों को रास आता है वे इस प्रकार के विभाजनों एवं खण्डित समाज के निर्माण की प्रक्रिया में संलग्न रहते हैं। इन समाजविरोधी व्यक्तियों व संगठनों के अस्तित्व के लिये असंगठित समाज सबसे बडी सुरक्षा है। आज सबसे बडी आवश्यकता इस प्रकार सम्प्रदायिक राजनीति से मुक्त होने की है। भारत का ७० % देहाती किसान मजदूर अपनी धार्मिक आस्थाओं पर जीवन को जीता है। विनम्रता उसका उच्च संस्कार है। उनकी विनम्रमता का ही स्वार्थी तत्वों द्वारा शोषण किया गया है। शेख सादी ने ठीक ही कहा है कि "इतने विनम्र मत बनों कि भूखे भेडिये अपने दांत तुम्हारी गर्दन में गाड़ दें।" अतः जनपद एवं जनसाधारण की जागृति ज्यादा आवश्यक हो गई है। कांग्रेस द्वारा दिया गया 'सर्व धर्म समभाव' का नारा राजनैतिक एवं राष्ट्रीय उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये दिया गया था। लेकिन वह नारा सामयिक था। आज संदर्भ बदल चुके है। अब धर्म का प्रचलित अर्थ स्पष्टतया सम्प्रदाय विशेष एवं उसके आग्रहों के अतिरिक्त कुछ नहीं है। लेखक की यह बात ठीक है कि धर्माधिकारियों, गुरुओं आदि द्वारा नियंत्रित सामाजिक मानसिकता एवं स्वार्थ-परता इस समस्या का एक मुख्य कारण है। किन्तु इनका निराकरण कैसे, किस प्रकार किया जाये यह प्रश्न विचारणीय है।

सर्वधर्म समभाव एवं धर्म परिवर्तन की समस्या को लेखक ने जिस दृष्टि से देखा है उससे भिन्न दृष्टिकोण की आवश्यकता आज है। जहाँ तक धर्मनिर-पेक्षता के अर्थ का प्रश्न है लेखक ने उसे सम्प्रदायनिरपेक्षता माना है जो गैर है। किन्तु इसी को और स्पष्ट करने की आवश्यकता है। वस्तुतः हमें न तो सर्वधर्म समभाव की तथा न ही निरपेक्षता की हिमायत करने की आवश्यकता है। आवश्यकता इस विचार को विकसित करने की है कि शिक्षा एवं विज्ञान के प्रसार द्वारा जो सकारात्मक परिवर्तन सम्प्रदायों के प्रति विचारों में आ रहा है वह ठीक है। प्रश्न मानवीय संदर्भ में सम्प्रदायों के औचित्य का है। कहना तो यह चाहिये कि सर्वधर्म समभाव नहीं अपितु सर्व सम्प्रदाय से मुक्ति का विचार उठना चाहिये। समाज को सम्प्रदायों, रूढीयों, अन्ध विश्वासों से मुक्त करना दर्शन का दायित्व है। भारतीय संस्कृति इसे स्वीकार करती है। इसलिये पूजा पद्धतियों, आस्थाओं की विविधता को यहाँ अपनाया गया है। शिक्षा के प्रसार द्वारा हम इस स्थिति से फिर से प्राप्त कर सकते हैं। इसमें तर्क एवं विज्ञान की भी सहायता ली जा सकती है। संवाद का अभाव न तो व्यक्तिगत स्तर पर है न ही बुद्धिजीवि समुदाय में है। यह अभाव तो केवल नेतृत्व के स्तर पर है और अभी हाल में और अधिक गहरा हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेख में प्रस्तुत सुझावों को लें तो डॉ. गौतम के पहले तीन सुझाव स्वागत-योग्य है। लोकतन्त्र की भारत में पुनर्स्थापना के पश्चात् हमें उन कारणों के प्रति सतर्क व सचेत रहना है जो पहले राजतंत्र की स्थापना में सहायक हुए थे। राजनीति तथा राजनैतिक चरित्र को भारतीय जनमानस अभी भी ठीक प्रकार समझ नहीं पाया है। अत: राजनीतिज्ञों के प्रति बहुत श्रद्धावान् होना तथा उनसे अधिक अपेक्षा रखना व्यर्थ ही है। साम्प्रदायिक एवं जातीय आधारों पर चुनाव में प्रतिबन्ध लगाना तथा दण्ड की व्यवस्था का विचार चल ही रहा है। परन्तु प्रभावशाली कानूनों की व्यवस्था करके भी हम इस समस्या को हल कर पायेंगे, यह भ्रामक ही है। मुख्य समस्या आचरण के संकल्प की है, क्योंकि राज्य के पास स्पष्ट विचारधारा तथा उसे क्रियान्वित करने की संकल्प-शक्ति का नितान्त अभाव है। व्यवस्था की बात करें तो व्यवस्था का प्रश्न इतना सीधा नहीं है। अतएव ये सुझाव व्यवस्था के 'आदर्श' को ही निर्देशित करते हैं, क्योंकि व्यवस्था के परिवर्तन का बीड़ा उठाने वाले नेतृत्व एवं संगठन अभी इतने प्रभावशाली एवं इच्छुक नहीं है।

प्रस्तुत 'विवेचन' में दर्शन तथा दार्शनिक के योगदान के प्रश्न का विवेचन नहीं हो पाया है। उनका योगदान अपेक्षित है. इसमें दो राय नहीं है। लेकिन दर्शन के पठन-पाठन करने वालों के विचारों एवं क्रियाशीलता में तालमेल का अभाव ही इस दिशा में सबसे बड़ी रुकावट है। इस लेख में समाज, राज्य, धर्म आदि के क्षेत्र में परिवर्तनों के लिये अपेक्षित साहस, सद्बुद्धि, सुलझे दृष्टिकोणों एवं लक्ष्य-बद्ध कार्यक्रमों में दर्शन एवं दार्शनिकों की समसामयिक भूमिका पर विचार किया जाना अपेक्षित था, जिसका यहां अभाव महसूस होता है।

अंत में यही कहा जा सकता है कि भारतीय परिप्रेक्ष्य में ही नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व के लिये धर्म तथा दर्शन की चिरन्तन परिभाषा तथा उसके सत्य स्वरूप की पुनर्व्याख्या के प्रयासों की आज महती आवश्यकता है। दर्शन-शास्त्र अपनी इस भूमिका तथा दायित्व से बच नहीं सकता है।

डी. आर. भंडारी

दर्शनशास्त्र विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय
जोधपुर – ३४२००१
(राजस्थान)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत् सुखितोपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि ।।

यह अबोधपूर्वता वैचित्र्य और वैविध्य के संघात के कारण है। और इसका प्रामाण्य भी स्वतः ही माना जाना चाहिये। आचार्य प्रभाकर यही बताते हैं। उनके अनुसार संविद्रूप में प्रत्येक ज्ञान प्रत्यक्ष है। स्मृति, अनुमान, स्वप्न आरोप, मिथ्याध्यवसाय या अख्याति -- इन सभी का प्रभाकर भट्ट के अनुसार स्वतःप्रामाण्य ही स्वीकार किया जाना चाहिये।

सहृदय व्यक्ति के चित्त को और संस्कारित करने तथा संस्कारहीन में संस्काराधान की काव्यानुभूति से उपक्रान्त प्रक्रिया धीमी पर अधिक स्थायी और दूरगामी प्रभाव छोड़ने वाली होती है। जो काव्य केवल रसास्वाद की दशा मात्र में रिझा कर, लुभा कर पर्यवसित हो जाय, उसका प्रामाण्य सर्वमान्य तो नहीं ही हो सकता है। रसास्वाद के क्षणों में प्रमाता के व्यक्तित्व के निस्सीम होने की... प्रमृष्टपरिमितभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरिमितभाव की ... चर्चा आचार्यों ने की है। जिस साहित्य के रसास्वाद के काल में इस अपरिमेय भाव की दशा में रह कर विभावादिविनाश पर रसास्वाद की निवृत्ति होने पर प्रमाता 'पुनर्मूषको भव' के न्याय से अपने प्रकृत रूप में वापस आये, काव्यानुभव के दौरान जिस आनन्त्य का सार्वजनीन अनुभव हुआ, उसकी बाद में चित्र पर कोई छाप ही न बचे, तो ऐसा अनुभव वस्तुतः सार्वभौम अनुभव नहीं है, उसमें भूमा से योग ही हो नहीं सका, वह छद्म ही है, और उसमें कथित विश्रान्ति देने वाला साहित्य भी कुछ तथाकथित रसिकों की अय्याशी का साधन भर है। ऐसे साहित्य से होने वाले बोध का प्रामाण्य मान भी लिया जाय, तो बोद्धा और प्रतिपादयिता दोनों का अप्रामाण्य तो मानना ही होगा। बौद्धा और प्रतिपादयिता में संकल्प की परिशुद्धि भी साहित्य के सर्वतोमुख प्रामाण्य के लिये अपेक्षित है। तब इन दोनों के बीच जो साहित्य रहेगा, उसका अनुभव निरन्तर संस्कार और परिष्कार देता रहेगा। अभिनव ने नाट्य, काव्य आदि के माध्यम से संस्कार की ऐसी सतत प्रक्रिया का विशद विवेचन किया है :

नाट्ये तु परमार्थिकं किञ्चिदद्य मे कृत्यं भविष्यतीत्येवम्मताभिसन्धिः संस्काराभावात् सर्वपरिषत्साधारणप्रमोदसारापर्यन्त समादरणीय लोकोत्तर दर्शनश्रवणयोगी भविष्यामीत्याभिसन्धिसंस्कारादुचितगीतातोद्यविस्मृत चर्वणा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'काव्यालापांश्च वर्जयेत्' या 'रण्डागीतानि काव्यानि' आदि वचन इस प्रकार की धारणा से प्रेरित हैं। यदि कहा जाय कि इस प्रकार के कथित धर्मशास्त्र-वचन कुकाव्यों के सम्बन्ध में हैं, तो कुकाव्य और सुकाव्य का निर्धारण विषयिनिष्ठ दृष्टि से अथवा देशकालानुरोध से होने लगेगा और अव्यवस्था होगी। उदाहरण के लिये विद्याधरकृत एकावली की तरल-व्याख्या में मल्लिनाथ कहते हैं कि 'काव्यालापांश्च वर्जयेत्'। इस प्रकार के निषेधवचन मुद्राराक्षस आदि असत्काव्यों के लिये हैं, सत्काव्यों के लिए नहीं। अन्यथा रामायण आदि भी हेय कहे जाने लगेंगे।[७] विद्याधर व्दारा अपने आश्रयदाता नृसिंहभूप की प्रशस्ति में लिखे चाटुश्लोकों को तो मल्लिनाथ कदाचित् देशकालविशेष के आग्रह से, उत्तम काव्य मान कर टीका करते हैं, और मुद्राराक्षस जैसी मनुष्य का उदात्त गरिमापूर्ण चरित्र प्रस्तुत करने वाली कालजयी कृति को वे असत्काव्य कह कर हेय घोषित करते हैं। ऐसी अराजकता की स्थिति में उत्तम काव्य के प्रामाण्य का निकष खोजा जाना चाहिये।

अभिनव आदि आचार्यों ने रस या काव्यानुभूति को संस्कार से जोड़ कर यह निकष सामने रखा है। काव्य, धर्मशास्त्रादि के समान सीधे सदुपदेश नहीं देता। वह प्रत्यक्षायमाण या साक्षात्कारकल्प अनुभूति के व्दारा चित्त को परोक्षरूप से संस्कारित करता चलता है।

साहित्यशास्त्र के आचार्यों की एक परम्परा रस को भ्रम के स्थान पर अनिर्वचनीय अनुभव के रूप में देखती है। सौन्दर्यानुभूति, स्मृति, अनुमान, स्वप्न, विलक्षण सवेदन, भ्रम, साक्षात्कार, कल्प-बोध इन सब की सम्भेदात्मक या सम्प्लवात्मक स्थिति है। इसमें परस्पर विरुद्ध प्रतीतियां परस्पर सम्मिश्र हो जाती हैं। शङ्कुक कहते है:

> विरुद्धबुद्धिसम्भेदादविवेचितसम्प्लवः।
> युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्नुभवः कया ?॥

काव्यबोध को युक्ति से परे या तर्कातीत बताने वाली यह विचार-सरणि उसे लोकातीत अनुभव के रूप में तो फिर भी नहीं देखती। उसे अलौकिक कहने का आशय भी लोक के बाहर का अनुभव बताने से कदापि नहीं है, उसकी लौकिक प्रमाण-सापेक्षता का निवारण करने से है। कलाजन्य पर्युत्सुकीभाव -- चित्त को उन्मथित करने वाला अनुभव -- बोध के लौकिक स्तर पर नहीं, अबोधपूर्वक होता है। अभिनवगुप्त रसास्वाद की व्याख्या के उपक्रम में शाकुन्तल का यह पद्य उद्धृत करते हुए यही बताते हैं:

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिर भी काव्यार्थ के प्रामाण्य पर अनादि काल से आज तक संशय उठाया जाता रहा है। संशय उठाने वाले प्राचीनों में जड़बुद्धि धर्मशास्त्री, तार्किक और मीमांसक तथा नव्यों में आधुनिक उपभोक्ता संस्कृति से प्रभावित समीक्षक आते हैं।

तार्किक की दृष्टि से साहित्य के प्रामाण्य-मात्र पर आपत्ति उठती है। प्रमा यथार्थ अनुभव है और प्रामाण्य यथार्थानुभूति का ही हो सकता है। काव्य की अनुभूति यथार्थानुभूति नहीं, वह असत् है। काव्यशास्त्री भी रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया के निरूपण में रसग्राहक समस्त सामग्री को कृत्रिम मानता है, जो सहृदय को अकृत्रिम भासित होती है। इस मिथ्य सामग्री से अन्य अनुभव प्रमाण कैसे हो सकता है? काव्य के आचार्यों की एक परम्परा रस को भ्रमात्मक अनुभव भी मानती है।[५] यदि रस का अनुभव शुक्तिरजतन्याय से अन्यथा-ख्याति का है, तो वह प्रमाण नहीं है – इतना यहां पूर्वपक्ष बनता है।

इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि लौकिक प्रमाणों की अपेक्षा से काव्यानुभूति को भ्रमात्मक अनुभव कहा गया, इससे उसका स्वतः प्रामाण्य विखण्डित नहीं हो जाता। भ्रमात्मक अनुभव में भी अर्थक्रिया-कारिता रहती है। सम्पुष्टि में काव्यानुभव के विचार में धर्मकीर्ति की यह कारिका उद्धृत की जाती रही है:

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावताम्।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ।।

प्र. वार्तिक, II--५७

काव्यानुभव के प्रामाण्य या अप्रामाण्य का यह विचार लौकिक अर्थ में उसके सत्य या असत्य होने की दृष्टि से किया जाता है, जो सन्दर्भच्युत होने से निरर्थक है। काव्यानुभव स्वायत्त और स्वशासी होने से लौकिक प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता। भारतीय काव्यदृष्टि इसीलिये कवि को काव्यविश्व का प्रजापति घोषित करती है। महिम-भट्ट कहते हैं कि काव्य--हेतु और काव्यास्वाद के सत्यासत्यत्व का विचार करने की प्रवृत्ति ही अनुचित है।[६]

धर्मशास्त्र का आश्रय ले कर काव्य तथा काव्यानुभव के प्रामाण्य पर दूसरे कोण से आपत्ति उठायी जाती है। स्थूल अर्थ में काव्यविश्व की सत्ता नहीं है – यह तो आपत्ति है ही। इसके साथ काव्य के प्रामाण्य को यहां अग्राह्य इस आधार पर भी माना जाता है कि वह अपनी परिणति में असत् का उपदेश करता है, मिथ्यात्व या वंचना की ओर ले जाता है। धर्मशास्त्र के नाम से उद्धृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य का प्रामाण्य

आचार्य कुन्तक के मतानुसार साहित्य, शब्द और अर्थ के सहभाव की अन्यून, अनतिरिक्त और मनोहारिणी अवस्थिति है।[1] शब्दार्थ का गुम्फ या बन्ध इसमें ज्ञानजनक सामग्री है। यह सामग्री अपने ज्ञान का प्रामाण्य स्वत: सत्यापित करती है, अत: साहित्यजन्य शाब्दबोध स्वत:प्रमाण है।

काव्यशास्त्र की परम्परा तो निर्भ्रान्त रूप से यही स्वीकार करती आयी है कि काव्यार्थ का अनुभव स्वार्थसिद्धि के लिये अन्य किसी प्रमाण पर अवलम्बित नहीं है — "सचेतसामनुभव: प्रमाणं तत्र केवलम्।' काव्यार्थ को रस के द्वारा परिभाषित किया गया है। रस अखण्ड, प्रकाशानन्दमय, स्वसंवेदनसिद्ध और साक्षात्कार–कल्प कहा गया है।[2] स्वसंवेदनसिद्धि के कारण इसे अन्य ग्राहक सामग्री की अपेक्षा नहीं है. साक्षात्कारकल्प होने से यह प्रत्यक्षवद् ग्राह्य है। प्रमाता का अनुभव स्वयम्प्रकाश्य ही होता है। साक्षिभास्यता के कारण विषय तथा तद्विषयक बोध का साक्षात्कार साक्षी स्वत: करता है। रामानुजाचार्य इसी दृष्टि से अनुभूति की अनुमेयता का खण्डन करते हैं। अनुभूति को अनुमित नहीं किया जा सकता, अन्य ज्ञान से उसे साध्य बनाने की अपेक्षा भी नहीं होती। वह आत्मा में नित्य स्वप्रकाश्य ही है।[3]

अभिनवगुप्त ने काव्य या नाट्य से भावक अथवा प्रेक्षक को होने वाले अनुभव को 'अनुव्यवसाय' माना है। अनुव्यवसायरूप–परिणति की प्रधानता के कारण नाट्य उनकी दृष्टि में 'अनुव्यवसायापरपर्याय' ही है।[4] अनुव्यवसाय भी भावक या प्रेक्षक के भीतर उद्भूत अनुभव है, प्रमाणान्तरनिरपेक्षता के कारण अनुव्यवसायरूप काव्यार्थबोध या नाट्यानुभव का स्वत:प्रामाण्य ही ग्राह्य है।

परामर्श (हिन्दी), खण्ड १२, अंक ३, जून १९९१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१४. इशाक अश्क;– नवगीत अर्द्धशती – पृ. ५५

१५. चन्द्रसेन विराट् – भीतर की नागफनी – पृ. १३
प्र. सं. १९७७

१६. डॉ. रामसनेही लाल शर्मा 'यायावर' –मन पलाशवन और दहकती सन्ध्या
पृ. १८ – प्रथम संस्करण – १९८७ पोरवाल प्रकाशन – टूण्डला

१७. योगेन्द्रदत्त शर्मा – खुशबुओं के वंश, पृ. ६८
प्रथम संस्करण – १९८६ – काकली प्रकाशन – गाजियाबाद

१८. डॉ. नरेन्द्रमोहन – आधुनिक हिन्दी काव्य में अप्रस्तुत विधान – पृ. ९.
प्रथम संस्करण – १९७२ – नेशनल पब्लिशिंग हाऊस दिल्ली

१९–२०. बुद्धिनाथ मिश्र – नवगीत दशक – ३ – पृ. १०६–१०७

२१. देवेन्द्र शर्मा – 'इन्द्र'; नवगीत अर्द्धशती – पृ. १२८

२२. बुद्धिनाथ मिश्र; वहीं – पृ. १६१

२३. राजकुमारी रश्मि; वहीं – पृ. २०१

२४. उमाकान्त मालवीय – एक चावल नेहरौंधा – पृ. १०१
प्र. सं. १९८३ – स्मृति प्रकाशन – इलाहाबाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७. तितली को पंख से,
फूलों को गन्ध से
लय को मानवता से
मन को संवेदना से जोड़ेगा
लकिन भावुकता की
रीत गए छन्दों की रूढ़ियाँ तोड़ेगा
जीने की शर्तों से जुड़ा हुआ
अंकुराती पीढ़ी का नवप्रयास
गीत नया जन्मा –

बाल स्वरूप राही — जो नितान्त मेरी है
प्रथम संस्करण – १९७१ – नेशनल पब्लिशिंग
हाऊस – नई दिल्ली.

८. अचरज क्या
यदि नए गीत में
स्वर–तुक–ताल नहीं
उसमें स्पन्दित है
इस युग का
उठता हर भूचाल

विद्यानन्दन राजीव – नवगीत अर्द्धशती
(सम्पा. डॉ. शम्भुनाथ सिंह) पृ. २२७–२२८
प्रथम संस्करण – १९८९ पराग प्रकाशन–दिली.

९. डॉ. कुअर बेचैन – **पिन बहुत सारे** – पृ. २६
प्रथम संस्करण १९७२ – स्वयं प्रकाशन, गाज़ियाबाद

१०. डॉ. चित्रा शर्मा – **कामायनी में प्रतीक–विधान** – पृ. २४
प्रथम संस्करण – १९७२ – पंचशील प्रकाशम – जयपुर

११. उमाकान्त मालवीय – **सुबह एक पलाश की** – पृ. ५२
प्रथम संस्करण – १९७६ – स्मृति प्रकाशन – इलाहाबाद

१२. डॉ कुंअर बेचैन – **भीतर सांकल बाहर सांकल** – पृ. ६४
प्रथम संस्करण – १९७८ – प्रगीत प्रकाशन – गाज़ियाबाद

१३. अमरनाथ श्रीवास्तव – **नवगीत दशक २** – सम्पादक डॉ. शम्भुनाथ सिंह
पृ. १३० – प्र. सं. १९०३ पराग प्रकाशन दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि रूपों में स्वीकृत हुए हैं। कवि इनके प्रयोग में अतिरिक्त सजग है। जहाँ भी मिथक स्वीकृत हुआ है. वह शिल्प के उपादान के रूपमें ही स्वीकृत है। इस रूप में मिथकीय घटनाएं भी ली गयीं हैं और पात्र भी। इन्हें पूरेपूरे बिम्ब के रूप में भी स्वीकृति मिली है, और खण्डित रूप में भी। कुल मिला कर कहा जा सकता है कि शिल्प का उपादान बन कर नवगीतकारों के हाथों मिथकों का भी संस्कार हुआ है. उन्हें नयी अर्थवत्ता और प्रतीकात्मकता मिल गयी है।

हिन्दी विभाग
एस्. आर्. के. स्नातकोत्तर महाविद्यालय
फीरोज़ाबाद – २८३२०३
(उ. प्र)

राम सनेहीलाल शर्मा

टिप्पणियाँ

१. डॉ. विजयेन्द्र स्नातक – भूमिका – **भारतीय मिथक कोश** (सम्पादक– डॉ. उषा पुरी विद्या वाचस्पति)
पृ. ८ – प्रथम संस्करण – १९८६ – नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली

२. डॉ. बच्चनसिंह - **समकालीन हिन्दी साहित्य,**
पृ. ३५ – प्रथम संस्करण – १९६८ – हिन्दी प्रचारक संस्थान-वाराणसी

३. डॉ शंभुनाथ – **मिथक और आधुनिक कविता**
पृ. १४–१५ – प्रथम संस्करण – १९८५ – नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली

४. डॉ. विजयेन्द्र स्नातक – भूमिका – **भारतीय मिथक कोश** – (सम्पा. डॉ. उषा पुरी विद्यावाचस्पति) – पृ. ११

५. **मानविकी पारिभाषिक कोश (साहित्य खण्ड)** सम्पादक – डॉ. नगेन्द्र
पृ. १७७ – १९६५ – राजकमल प्रकाशन दिल्ली

६. **गीति–सप्तक** (भूमिका) सम्पादक – डॉ. राकेश गुप्त एवं ऋषिकुमार चतुर्वेदी,
(पृ. १३ – प्रथम संस्करण – १९७२ – राजपाल एण्ड सन्स – दिल्ली.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहीं–कहीं संश्लिष्ट मिथकों के प्रयोग भी हुए हैं। सलीब पर लटका हुआ मनु (ईसा और मनु के मिथक का समन्वित रूप) रन्तिदेव और शाइलॉक (स्वयं भूखा होने पर भी भोजन याचक को दे देने वाला रन्तिदेव और कानून के नाम पर ऋणी का माँस काटने की आज्ञा चाहने वाला शाइलॉक का संश्लिष्ट रूप) आदि ऐसे ही संश्लिष्ट मिथकीय प्रयोग हैं।

अप्रस्तुत योजना काव्य-शिल्प की सबसे बडी कसौटी है, यह कवि के अर्थों के शरीरीकरण का उपाय है। अप्रस्तुत योजना के द्वारा काव्यगत भावसादृश्य के लिए संवेदनशील बनता है। कवि जितना ही भावप्रवण एवं सहृदय होगा उतनी ही उसकी अप्रस्तुत योजना मार्मिक एवं अखण्ड आनन्द का स्त्रोत होगी। "... अनुभूतियों का परस्परान्वय, अर्थों का घनी-भाव, केन्द्रीकरण और अर्थों के सूक्ष्म स्वरों की एक साथ प्रतिष्ठा काव्य के अप्रस्तुत विधान पर ही आधृत है। काव्यानुभूति की अभिव्यक्ति और उसके सम्प्रेषण के लिए तो यह अनिवार्य ही है"[१८] अप्रस्तुत विधान में भी नवगीतकारों ने मिथकीय पात्रों, घटनाओं और सन्दर्भों का सफल प्रयोग किया है। कबन्ध, तक्षक, परीक्षित अभिमन्यु, सुरसा, रावण, पचवटी, धृतराष्ट्र, गान्धारी, अश्वत्थामा, एकलव्य आदि को अप्रस्तुत के रूप में बडी कुशलता और सिद्ध-हस्तता के साथ प्रयोग में लाया गया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

i) यह कवन्ध सा युगबन बैठा। मूल्यों का पर्याय [१९]
ii) मणि हारे तक्षक सी। बस्ती की है। नींद हराम [२०]
iii) अश्वत्थामा के घायल मस्तक सी। यह जो झिल मिल होती शाप की मणी [२१]
iv) रति सी लाज घोल तालों में [२२]
v) कर्जे की सुरसा को किस तरह उतारें [२३]
vi) संवरायें घन बीथी सौदामिनी गोरी
जैसे कान्हा की बाँहों में हो ग्वालिन छोरी [२४]

इन उद्धरणों में नवगीतकारों के अप्रस्तुत विधान की सामर्थ्य व्यंजित है। इन मिथकीय अप्रस्तुतों के प्रयोग द्वारा कवियों ने अपनी संवेदना को अधिक प्रामाणिक और मार्मिक बना दिया है।

नवगीत युग की गीतात्मक अभिव्यक्ति है। यह आधुनिक युग की संवेदनात्मक पुकार है। इसमें शिल्प की सहजता और सार्थकता के लिए मिथकीय सन्दर्भों का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। ये मिथकीय सन्दर्भ प्रतीक, बिम्ब, अप्रस्तुत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिथक के अनेक स्रोत हैं। पुराण, धर्म, इतिहास, लोक–गाथा, दन्त कथा, किम्वदन्ती और परम्परा आदि सभी क्षेत्रों से मिथक अपने सृजन की सामग्री खोज लेते हैं। साहित्य की बहुत सी कृतियाँ, पात्र तथा घटनाएं भी मिथक बन जाती हैं – कुछ अपने जीवन-काल में ही, और कुछ कुछ काल गुजर जाने के बाद। **मेघदूत** का यक्ष और **कामायनी** के मनु एक समर्थ और सार्थक 'मिथ' बन चुके हैं। प्रणय का कथानक सहस्त्राब्दियों पुराना है या यों कहें कि शायद उतना पुराना है जितनी पुरानी मानव–जाति है तो अतिशयोक्ति न होगी। इस चिर–पुरातन कथानक को हर कवि ने चिर नवीन बना के रखा है। यह नित नया है। मनुष्य–जाति की समाप्ति के साथ भले प्रणय कथाएं समाप्त हों; अन्यथा वे नित नवीन् हो कर अमर हैं। इस संवेदना को **कामायनी** के मिथक के माध्यम से चन्द्र सेन विराट् ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है –

"वही है महाकाव्य मनु की व्यथा का / कि शायद तभी गीत अन्तिम लिखें हम। कि जब आखिरी क्षण निकट हो प्रलय का।"[१५]

क्रौञ्च युगल का अहेरी द्वारा वध और क्रौञ्च वध से वाल्मीकि के मन में उपजी करुणा से काव्य का प्रस्फुटन भारतीय सन्दर्भों में पुराकाल से चला आता हुआ मिथक है। यह मिथक कवियों की सर्जना–शक्ति में करुणा का प्रतिपादन है। यह गीतकारों को बहुत प्रिय है। कई गीतकारों ने इस मिथक का सार्थक प्रयोग किया है यथा–

१. जब सृजन क्रौञ्च के वध को निकले। तीर नये तीखे। तब तब। रत्नाकर वाल्मीकि सबको। बनते दीखे[१६]

२. क्रौञ्च के वंशधर। जब भी उड़ानों के लिए। निकले खुले आकाश में। तब तब। अहेरी की कुटिलता ने इन्हें बांधा। जकड़ कर पाश में।[१७]

यहाँ प्रथम में क्रौञ्च सृजन का प्रतीक है और द्वितीय में स्वयं सर्जक का।

नवगीतों में कहीं–कहीं कवियों ने मिथकीय सन्दर्भों को थोड़ा सा परिवर्तन करके भी कथन की वक्रता और कथ्य के पैनेपन को बढ़ाया है। जैसे राम और इन्द्र–पुत्र जयन्त के मिथक में जयन्त को राम के बाण से भयभीत हो कर भागना पड़ा था और त्रिभुवन में किसी की शरण न मिलने पर अन्ततः राम को शरण में आना पड़ा था। परन्तु कवि ने मेहनतकश को राम और व्यवस्था के सूत्रधारों को कौवा बता कर मेहनतकश के कष्ट को इस प्रकार व्यक्त किया है –" मेहनत कश वनवासी को। कौवों ने रुला दिया (रमेशचन्द्र पन्त – **नवगीत अर्द्धशती** पृ. ३४)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवियों ने मिथकीय पात्रों को प्रतीकात्मकता सौंपी है। एकलव्य शिष्य-परम्परा का एक उदात्त मिथक है। ज्ञान की साधना में रत, गुरु के द्वारा उपेक्षित हो कर भी वह एकान्त साधना कर के ज्ञान का सागर-संतरण कर सका और फिर भी जिसने गुरु-दक्षिणा चुकाई। एकलव्य के नाम के मिथकीय प्रतीक का प्रयोग-कवि ने अपनी (कवि की) जातीय चेतना के लिए किया है – (हमसे ही जीवित है। इतिहासों में। एकलव्य की परम्परा-देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' - नवगीत अर्द्धशती पृ १२८) इसी तरह नहुष को राज्य-व्यवस्था या शासन-व्यवस्था का प्रतीक बनाया गया है (हमने कब ढोयी है पालकी नहुष की – वहीं)

प्रतीक भाषा को रमणीयता और अर्थ-गाम्भीर्य सौंपते वाले साधन हैं। प्रतीक किसी वस्तु या भाव अथवा गुण की सूचना देने वाले विधान हैं। परिस्थिति तथा सन्दर्भ के अनुसार प्रतीकों के अर्थ में भी परिवर्तन हो जाता है। फिर मिथक तो यों भी सतत गतिशील कथा-परम्परा होते हैं। इसलिए प्रयुक्त पात्रों या संकेतों के प्रतीकात्मक प्रयोग से अर्थ-वैचित्र्य का लक्ष्य आसानी से पूरा कर लेता है। 'दधीचि' का मिथक सर्वविदित है। अपनी हड्डियाँ देवहित के लिए दान दे कर दधीचि ने त्याग का एक अपूर्व आदर्श स्थापित किया था। स्वतन्त्रता से पूर्व जिन्होंने सर्वस्व दान किया था, स्वतन्त्रता लाने के लिए जो प्राणपण से जुटे रहे, वे ही स्वातन्त्र्योत्तर भारत में उपेक्षित रहे। कवि अनिल-कुमार गौड़ ने दधीचि के मिथकीय प्रतीक का इसी सन्दर्भ में प्रयोग किया है (हड्डी-हडडी दे कर। मर गया दधीचि। जुटे हुए हैं कुत्ते / गीध काक नीच – नवगीत अर्द्धशती- पृ ५०)। इसी प्रकार नवगीतकारों ने अन्य अनेक मिथकीय प्रतीकों के आधुनिक संवेदना को व्यक्त करने वाले सार्थक प्रयोग किए हैं यथा—सुधा कलश (सुधा कलश लुढ़का कर मरु में – राजेन्द्र गौतम – नवगीत दशक – ३ पृ. ३९) चक्रव्यूह (चक्रव्यूह में घायल मुक्ति छीन लाए-घनश्याम अस्थाना – नवगीत अर्द्धशती – पृ. १००) द्रौपदी का चीर (योगेन्द्र दत्त शर्मा – खुशबुओं के दंश--पृ ५२) फूल में दुबका तक्षक और परीक्षित (फूल दुबके तक्षकों से क्षण हुए / और यह मन परीक्षित का वश -) वहीं – पृ. ६०) धृतराष्ट्र, गान्धारी (वहीं – पृ. ६६) नचिकेता व यम (नचिकेता के शिखर-स्नेह से यम की आँख भरी-उमाकान्त मालवीय-एक चावल नेहरौंधा-पृ. ८४) और अभिमन्यु (क्या हुए अभिमन्यु के वे व्यूह भेदी दाँव – श्रीकृष्ण तिवारी – नवगीत दशक – २ पृ. ११२) आदि मिथकीय प्रतीकों के भी बड़े सार्थक, समर्थ और प्राणवान प्रयोग हुए हैं। गीतकारों ने इनके माध्यम से कथ्य को बहुत रमणीय और भव्य बना कर प्रस्तुत किया है, और शिल्प-कौशल का परिचय दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लक्ष्य–हीनता, या जीवन में किसी उदात्त उद्देश्य के अभाव को इस पीढ़ी के जीवन में सिंहासन और जड़ाऊ मुकुट की ही नहीं, राम की खड़ाऊं के सेवने के अवसर के अभाव को प्रकट करके किया है। राम खड़ाऊ का मिथक जीवन की महानता को संकेतित करता है। इसी प्रकार मानव–जीवन में आज धूर्तता घर कर गई है, सहजता खो गई है। मनुष्य एक दूसरे को ठगने में लगा हुआ है। हम अपनों के लिए ही गड्ढे खोदने में लगे हुए हैं। स्वार्थ और धूर्तता आज मानव के अस्त्र बन गए हैं। इस कष्ट, कठोर स्थिति को प्रकट करने के लिए नवगीतकार को शकुनि के मिथक का सन्दर्भ सर्वोपयुक्त लगा है। इसीलिए उसने बात को यों कहा–

"धूप के हुए। न कभी छांव के हुए। हम जब भी हुए। शकुनि दांव के हुए। फेंके हमने। झूठे वचनों के पांसे। जैसे कोई। धीवर मछली को फांसे × × लाक्षागृह। षड्यन्त्रों के सुघड़ बनाएं। अपने ही। स्वजन हमें शत्रु नजर आए।"[१४]

माना कि जीवन कष्टप्रद हो गया है। जीवन में बहुत कुछ ऐसा है जो पीडादायक है, जिजीविषा को सोखता है, यातनाएं बढ़ाता है, आत्मीयता का औपचारिकता में पर्यवसान है, ऊब है, ऊब से उत्पन्न संशय, तनाव, व्यस्तता; भीड़भाड़, निराशा, कुण्ठा, अनास्था, घबराहट, हृदय-हीनता, सडकें, भीड़, बसें, दुर्घटनाएं, चीखें, रोजी–रोटी का संकट, बौने होते आदमी, मूल्य–संकट, आदि बहुत कुछ है, जो आदमी को निरन्तर कष्ट देता है। परन्तु इस सबके बावजूद बहुत कुछ ऐसा भी है जिसे ले कर जिया जा सकता है। मानव के पास आस्था भी तो है। कम से कम कवि के पास बहुत–कुछ है। उसके पास उसकी रचना-धर्मिता का वरदान है, उसकी परम्परा है, उस परम्परा के गलत बिन्दुओं को तोड़ने का साहस भी है। परम्पराओं के तोड़ने की इस शक्ति और नया समाज गढने को ललक को कई कवियों ने शिवधनुष और सीतास्वयंवर के मिथक से व्यक्त किया है। कहीं कवि के लिए ये तोडी गयी परम्पराएं जीवन के व्यापक सन्दर्भों की थीं, और कहीं गीत–रचना में छन्द की परम्परा के रूप में। गीतकार देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' ने गीत के स्वयंवर में छन्द की प्रत्यंचा तोड़ने की बात कही है और गिरिजाकुमार माथुर ने परम्पराओं के शिव–धनुष के अपने द्वारा अनायास टूट जाने का संकेत किया है (क्या हुआ। जो शम्भु–धनु टूटा तुम्हारा। तोड़ने को मैं विवश हूँ – अन्तराल)

इन मिथकीय बिम्बों से भाषा की क्षमता बढ़ी है। अभिव्यक्ति में वक्रता, प्रामाणिकता और पैनापन आया है, क्योंकि इनमें पूरे सन्दर्भ को प्रतीकात्मकता मिल गयी है। कहीं–कहीं पूरे सन्दर्भ या घटना को प्रतीक बनाने के स्थान पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहीं स्थिर, कहीं गत्यात्मक और संश्लिष्ट बिम्बों के माध्यम से नवगीतों में जीवन–गत यन्त्रणा और पीड़ा को व्यक्त किया गया है। ये मिथकीय बिम्ब कथ्य को रमणीयता और भव्यता दे सके हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर काल में बढ़ते हुए औद्योगीकरण ने महानगरी–करण को प्रश्रय दिया। महानगर केवल धरती पर नहीं, जीवन में भी प्रवेश करते गए। महानगर में व्यक्ति भीड़ का अंश बन जाता है, वह अपनी अस्मिता खो देता है। सारे चेहरे, सारी पहचानें और एक दूसरे को अलगाने वाले सारे तत्त्व खो जाते हैं। जीवन के भावुक और संवेदनशील क्षण खो जाते हैं। महानगरीय बोध को समग्रता के साथ ग्रहण करते हुए नवगीतकारों ने अनेक रचनाओं का सृजन किया है – चन्द्रसेन विराट (नित घोल रहा नसनस में मधुर जहर। यूं मन को मार रहा है महानगर–भीतर की नागफनी पृ. १०–११) कुंअर बेचैन (ऊपर लेबिल अमृत का है। भीतर भरा जहर। जिस बोतल में कैद हुआ हूँ उसका नाम शहर–भीतर सांकल बाहर सांकल–पृ. २२) रमेश रंजक, उमाकान्त मालवीय, कुमार रवीन्द्र, किशन सरोज, और बालस्वरूप राही आदि ने अनेक गीतों में इस महानगरीय जीवन की यंत्रणाओं को प्रकट किया है। गीतकार अमरनाथ श्रीवास्तव ने द्वारिका और मथुरा के द्वापरयुगीन मिथकीय बिम्ब के माध्यम से इस बोध को प्रकट किया है। द्वारिका ऐसा स्थल है जिसने कृष्ण को जीवन के दुर्दान्त कर्मक्षेत्र में फेंक दिया था और वे जीवन की भावुकता, मथुरा, यमुना, गोपग्वाल, गोपियों और वृन्दावन से इतनी दूर चले गए थे कि फिर लौट कर उधर देख भी नहीं सके थे। इसलिए गीतकार कहता है हे महानगर तुम्हें द्वारिकापुरी पर पूरा–पूरा हक है उसके साथ रहो या उसे अपने साथ रखो; परन्तु यमुना तट पर बैठी हुई मथुरा की उस शाम को मेरे पास छोडते जाओ। जीवन में संवेदनशीलता की कमी की कचोट और उसके प्रति यह गहन अनुरक्ति यों है।–

"महानगर द्वारिकापुरी पर। तुमको पूरा हक है लेकिन। जमुना तट पर बैठी मथुरा की। यह शाम छोड़ते जाओ।"[२३]

नवगीतों में द्रौपदी, अभिमन्यु और कृष्ण के मिथकों का बहुतायत के साथ प्रयोग हुआ है। कोई लक्ष्य, कोई उद्देश्य और कोई बडी अभिलाषा न होते हुए भी हम जीने को विवश हैं। जीवन में पीड़ा है, अनास्था है, यन्त्रणा है, फिर भी जीने की विवशता है। कहीं यह विवशता सभा के बीच विवश खडी द्रौपदी और पांसे फेंकते धर्मराज युधिष्ठिर (सत्यनारायण–नवगीत अर्द्धशती–२६७) के मिथक से अभिव्यक्त हुई है, और कहीं विवशता से पंख कटाने वाले जटायु के मिथक से (रमेश चन्द्र पन्त–नवगीत–अर्द्धशती–पृ. १९४) और जीवन की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नवगीत में मिथकीय सदन्भों का सर्वाधिक प्रयोग युगबोध की अभिव्यक्ति के लिए किया गया है। आधुनिक युग की जीवनगत विसंगतियों और प्राणघाती यंत्रणाओं को विविध मिथकों के प्रयोग से बड़ी सार्थकता से व्यक्त किया गया है। बीसवीं सदी यान्त्रिकता का वरदान (या अभिशाप) ले कर आयी है। यह आत्मयन्त्रणा को लेकर चल रही है। इस सदी में सत्य पराजित है। पौरुष पराजित है, और वेदना केवल अकेले अकेले सहने को है। पीड़ा द्रौपदी की तरह सभा के मध्य लज्जा खो रही है। इस युग–सत्य को महाभारत के प्रसिद्ध मिथकीय बिम्ब के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है –

"हर सत्य का युधिष्ठिर बैठा है मौन सहने / ये पार्थ, भीम सारे आए हैं जुल्म सहने / आँसू हैं चीर जैसे, हर औरत द्रौपदी है। यह बीसवीं सदी है।[९]

इस तरह के मिथकीय बिम्बों के प्रयोग से कथ्य की जीवन्तता और सामर्थ्य बहुत बढ़ गयी है। यद्यपि मिथकीय बिम्बों का प्रयोग थोड़ा कठिन कार्य है क्योंकि "मिथ मनुष्य की सामूहिक चेतना की उपज है और बिम्ब व्यक्ति–चेतना की।"[१०] बिम्ब को ग्रहण करने के लिए केवल अनुभूति की गहनता और संवेदन–शीलता ही पर्याप्त है, जबकि मिथक को ग्रहण करने के लिए एक पूरे सांस्कृतिक सन्दर्भ से परिचित होने तथा गहन विश्वास से संयुक्त होने की आवश्यकता है। और एक कठिनाई यह भी है कि बिम्ब की प्रवृत्ति स्थिरता की है और मिथक गतिशील एवं बराबर परिवर्तित होने वाले सीमान्तों से युक्त होता है। फिर भी मिथकीय बिम्बों का प्रयोग हुआ है और पूरी सार्थकता के साथ हुआ है। आधुनिक युग की असत्य जीवन–स्थितियों को देख कर भी शान्त रह जाने वाले मानव को उत्प्रेरित करने के लिए राजा शिवि और कपोत के मिथकीय बिम्ब को उपादान बना कर प्रस्तुत किया गया है –

"बाज जब कपोत को / दबोच ले / और शिवि / समर्पण की सोच ले/ ऐसे में भी / क्यों नहीं तिरो / आँखों में ज्वलित और रक्तिम।"[११]

आज जीवन बहुत क्षिप्रता से बदल रहा है। यह परिवर्तनों की सदी है। क्षिप्रता से बदलाव हो रहे हैं। राजनीतिक व्यवस्थाएं बदल रही हैं, मानसिकता बदल रही है। व्यवस्थाओं के सूत्रधार बदल रहे हैं, परन्तु आम आदमी के जीवन की यन्त्रणा नहीं बदल रही। जीवन वनवास हो गया है, राम का वनवास। परन्तु जीवन की यन्त्रणाएं नहीं बदल रहीं। यही स्थिति एक नये ढंग से रामकथा के मिथकीय बिम्ब के माध्यम से व्यक्त की गयी है –

"जो समय के फेर का बन्दी / राम का वनवास है जीवन / रोज कैकेयी बदलती है। मन्थराएँ तो नहीं बदलीं।"[१२]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसमें युग अपनी समग्रता के साथ उपस्थित है। नवगीत में बौद्धिकता की उत्तप्त चेतना है, रोमान की अस्वीकृति है, परम्पराओं की नकार है, अनास्था है; युगबोध से उपजा अजनबीपन है, संस्कारों से मुक्ति की माँग है, सामाजिक और राज-नीतिक यथार्थ का खुरदुरापन है, जीवनगत संघर्ष है, प्रणय की भूख की सहज स्वीकृति है, जीवनगत विसंगतियाँ और विषमताएं हैं, जूझता, टूटता और निरन्तर गतिपथ की ओर बढ़ता मानव है, नया सौन्दर्य-बोध है, आधुनिकता के स्वर हैं, और सहज अनुभूति की आँच। इस सबको सहज रागात्मक चेतना के साथ अभिव्यक्त करने के लिए गीतकार ने जिस शिल्प को अपनाया है उसमें संक्षिप्तता है। नये अप्रस्तुत, नये बिम्ब, नये प्रतीक और नया छन्द-विधान है। लयात्मक संगीत है जिसमें पुरानी गीतात्मकता के कई प्रतिमान या तो टूट गए हैं या परिवर्तित हो गए हैं। इन गीतों में सम-सामयिकता तो है ही, उसे व्यक्त करने का जो व्यंग्यात्मक तेवर है, वह उन्हें 'नवता' प्रदान करता है। प्रणय की पुकार हो, या टूटती आस्थाओं का दर्द, नये मूल्यों का स्वागत हो या पुरातन की विदाई का कष्ट, लोक-जीवन से सम्पृक्ति हो या महानगरीय संत्रास का पीडा-जनक चित्रण, प्रकृति के प्रति अनुराग हो या प्रणय की वासना का धरातल-छूती सहजता, इन का शिल्प ही इनकी सहज स्वीकृत विशेषता है। इसकी दूसरी सहज-स्वीकृत विशेषता है भावुकता के अतिवादी स्वरों का तिरस्कार। यह सहज मानवता का गीत है। यह तितली को पंख से, फूलों को गंध से, लय को मानवता से, और मन को संवेदन से जोड़ने वाला गीत है। इसने भावुकता और समाप्त-प्राय छन्दों को रूढ़ियों को तोड़ दिया है; यह जीने की शर्तों से जुड़ा हुआ है और अंकुराती पीढ़ी का नवप्रयास है।" [७] उसमें यदि स्वर, तुक, ताल और पुरातन मूल्य नहीं है तो न सही, स्पन्दित होता युग का हर भूचाल तो है, अनिवार्य रूप से है।[८]

नवगीत ने अपने अभिनव शिल्प-विधान में मिथक को भी महत्त्व दिया है। यद्यपि यह कहा जा चुका है कि मिथक की प्रवृत्ति के कारण गीत में उसकी स्वीकृति सम्पूर्णतः सम्भव नहीं है, परन्तु युग-बोध को वाणी देने, सामाजिक धारणाओं के खण्डन-मण्डन, जीवन-गत यथार्थ को अधिक क्षिप्र बनाने और जीने की यातना, संघर्ष और जिजीविषा को प्रकट करने के लिए मिथकों का प्रयोग बिम्ब-प्रतीक, अलंकार या अप्रस्तुत के रूप में हुआ है। मिथक के प्रयोग से नवगीतकार ने शिल्प-विधान में रमणीयता, तीव्रता एवं कथ्य में प्रभावोत्पादकता उत्पन्न की है। गीत को बोधगम्य और जनसामान्य के लिए सरल भी बनाया है। मिथकीय सन्दर्भों के प्रयोग से भाषा को गरिमा और कथ्य को एक नयी भंगिमा मिल गयी है। इनसे कथन में प्रामाणिकता भी आयी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परम्पराएँ भी झांकी नहीं जातीं। " मिथक अतीत की घटनाओं से जुड़े होने पर भी वर्तमान के सामूहिक राष्ट्रीय जीवन के सन्दर्भ में नई अर्थवत्ता की तलाश करते हैं।[३] मिथक की शक्ति–सामर्थ्य का पता इसी बात से चल जाता है कि यह निरक्षर व्यक्ति के पास जितनी आस्था–निष्ठा से रहता है उतनी ही आस्था निष्ठा से यह बुद्धिमान् और विद्वान् व्यक्ति के साथ रह कर उसकी रचना-धर्मिता और सृजनशीलता को प्रभावित करता है। "[४]

मिथक कथा–तत्त्व के रूप में संघटित होता है। प्रबन्धत्व उसका अनिवार्य उपादान है। इसलिए उसे " विचारणा एवं आलोचना–शक्ति से सर्वथा शून्य आदिम चेतना की स्वतःस्फूर्त उद्भावना को व्यक्त करनेवाली कथा के रूप में परिभाषित किया गया है, जिसमें " अतिमानवीय व अतिप्राकृतिक कार्यों का वर्णन हो।"[५] यह कहा जा चुका है कि मिथकीय सत्य एवं ऐतिहासिक सत्य में मौलिक अन्तर होता है क्योंकि मिथक अखण्ड श्रद्धा और प्रबल विश्वास (या अन्धविश्वास) पर आधारित है और इतिहास घटित सत्य पर। इतिहास सत्य विज्ञान पर आधारित है और मिथकीय सत्य कर्मकाण्डों पर। वस्तुत: मिथक प्रतीकी-करण की प्रक्रिया के नित्य नवीन बने रहने के कारण शाश्वत और अमर हो जाता है; फिर भी हर स्थिति में कथा–तत्त्व उसका मेरुदण्ड होता है। कथा-तत्त्व की प्रधानता के कारण मिथक का प्रयोग प्रबन्ध कृतियों के लिए तो पूर्ण उपयुक्त रहता है, परन्तु गीतिकाव्य की ऋजु, तरल और संवेदनशील प्रकृति के वह अधिक उपयुक्त नहीं बैठता। गीतकार तो मिथक का प्रयोग शैल्पिक उपादान के रूप में ही कर सकता है, जबकि प्रबन्धकार समूचे मिथक को नयी प्रतीकात्मक अर्थवत्ता दे कर सांस्कृतिक पुनर्जागरण और पुनर्व्याख्या का कार्य करता है और मिथक की चिरन्तनता को भी सुरक्षित रखता है। आत्माभिव्यञ्जन की तीव्रता, प्रखर रागात्मकता, तरल संवेदनशीलता, मार्मिकता, ऋजुता, संक्षिप्तता और संगीता-त्मकता आदि सभी तत्त्व गीतिकाव्य को मिथक के अधिक और पूर्ण प्रयोग से रोकते हैं, क्योंकि मिथक में प्रतीकात्मकता रहती ही है और " जो कवि अपने वक्र व्यापार को एक हल्की छुअन के साथ भाव के प्रकृत सौन्दर्य को उभारना जानता है वही सफल गीतिकार हो सकता है। बिम्बों और प्रतीकों की तह पर तह लगा कर भाव की तीव्रता को दफना देने वाला कवि गीति रचना में सफल नहीं हो सकता। "[६]

' नवगीत ' सातवें दशक के प्रारम्भ में नई कविता के समान्तर जन्मी सहज काव्य–प्रवृत्ति है। वस्तुत: आधुनिकता के जिस खुरदुरे यथार्थ ने जीवनगत विसंगतियों को प्रकट करने के लिए नयी कविता में गद्यात्मकता का आश्रय लिया, उसी को थोड़े नये शैल्पिक विधान के साथ ' नवगीत ' ने ग्रहण कर लिया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी नवगीत में मिथकीय सन्दर्भ : प्रयोग और औचित्य

मिथक जातीय जीवन की गतिशील चिन्तन-परम्परा होते हैं। यों वे स्वच्छ और निर्मल दर्पण हैं जिनमें कोई भी जाति अपने विश्वासों, परम्पराओं, जीवन मूल्यों, आस्थाओं, सांस्कृतिक उत्थान-पतन, संघर्षों, विजयों-पराजयों समष्टि-गत विचारों, आदर्शों, कल्पनाओं, इच्छाओं, आकांक्षाओं, स्वप्नों, अनुभवों और सम्वेदनों के प्रतिबिम्ब देखती है।[1] किसी जाति के मिथक उसकी पहचान होते हैं। इनकी मूल्यवत्ता, इनकी पुरातनता, परम्परा और गतिशीलता में होती है। प्रवहमान जीवनधारा को प्रतीकित करते हुए मिथक काव्य और धर्म के बीच का सेतु बन कर लोक-जीवन को समृद्ध करते हैं। ये प्रकृति और आदिम विश्वासों से मानव को अविच्छिन्न रूप से सम्बन्धित रखते हैं। ये समष्टिगत जीवन की अमूर्तताओं को इतिवृत्तात्मक आधार प्रदान करते हैं। लोक-जीवन के गहरे विश्वास इनका आधार होते हैं इसीलिए ये "मिथ्या कल्पना या युटोपिया न होकर सत्य के मूल तक पहुँचने का एक नैतिक उपक्रम' होते हैं। अंग्रेज़ी के Myth (मिथ) के रूपान्तरण के रूप में प्रचलित मिथक शब्द का हिन्दी में सर्व प्रथम प्रयोग आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किया था। उन्होंने इन्हें मिथुनी कृत मनुष्य भावों का बिम्ब[2] कहा था। ये. पुराकथा, इतिहास, पुराण, धर्मकथा, कल्पकथा, गाथा नाराशंसी, लोक-गाथा और लोक-विश्वासों का अद्भुत संगम होते हैं। इन सबके तत्त्व मिथक में किसी न किसी रूप में अनुस्यूत रहते हैं। लौकिक विश्वासों की दृढ भूमि पर अवस्थित इन कथाओं को इतिहास के किसी साक्ष्य की अपेक्षा नहीं होती। इसकी जडें सुदूर अतीत के उस धुंधले और तमसावृत काल तक जा पहुँचती है जहाँ सम्भवत: प्रागैतिहासिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विस्मृतसांसारिक भावतया विमलमुकुरकल्पीभूतनिजहृदयः, सच्चाद्यभिनयावलोकनोद्भिन्न प्रमोदशोकादितन्मयीभावः, पाठ्याकर्णनपात्रान्तरप्रवेशदशात् समुत्पन्ने देशकालविशेषवेशानालिङ्गते सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यसम्भावनादिज्ञानविज्ञेयत्वपरामर्शानास्पदे, रामरावणादिविषयाध्यवसाये, तत्संस्कारानुवृत्तिकारणभूत – तत्सहचरहृद्यवस्तुरूपपीतातोद्यप्रमदानुभवसंस्कारसूचितसमनुगतत – दुक्तरूपपरामाध्यवसायसंस्कार एव भवन्त चेष्टैर्दिवसैः सचमत्कारतदीयचरितमध्य प्रविष्टस्वात्मरूपमतिः स्वात्मद्वारेण विश्वं तथा पश्यन् प्रत्येकं सामाजिको देशकालविशेषापरामर्शेन एवंकारिणामिदमिति लिङ्गात्मकविधि समर्पित संविज्जातीयमेव संविद्विशेषरञ्जकप्राणवल्लभाप्रतिभरसास्वादसहचररम्यगीतातोद्यादिसंस्कार–रसानुभववशेन हृदयाभ्यन्तरनिखातं तत एवोत्पुङ्खशतैरपि म्लानिमात्रमप्यभजमानं भजंस्तत्तच्छुभाशुभप्रेप्साजिहासाततस्यूतवृत्तित्वादेव शुभमाचरत्यशुभं समुज्झति ।

(अभिनवभारती, भाग–१, पृ. ३६)

काव्यप्रामाण्य पर एक अन्य आपत्ति काव्यसर्जन तथा काव्य के संरचनात्मक पक्ष की दृष्टि से उठायी जाती है। इस आधार पर कविता और कला का प्रबल विरोध पश्चिम में बहुत पहले प्लेटो ने किया। प्लेटो का तर्क यही था कि कविता अनुकृति की भी अनुकृति है, अतएवं सत्य से वह और भी अधिक दूर है। हमारे यहां के जड धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण के समान प्लेटो ने भी इस तर्क को आगे बढाते हुए देवों के स्तुति में लिखे जाने वाले सूक्तों के अलावा बाकी सारे ललित वाङमय––त्रासदी, महाकाव्य तथा प्रगीत––को मिथ्यात्व से प्रेरित और मिथ्यात्व में गुमराह करने वाले बताया। अपने आदर्श राज्य में होमर तक को जगह देने को प्लेटो तैयार न था, यद्यपि होमर की कविता के प्रति दुर्निवार आकर्षण उसके मन में था, जिसे रिपब्लिक के दसवें अध्याय में स्वीकार किया है।

प्लेटो के इस अन्तर्विरोध का समाधान करते हुए, अनुकृति का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट कर, कविता के प्रामाण्य को अरस्तू ने स्थापित किया। अनुकृति का स्थूल सतही अर्थ–अपने से भिन्न किसी पदार्थ की हूबहूब नकल उतारने की कोशिश–कविता के सन्दर्भ में लागू नहीं होता। नाट्य को भावानुकीर्तन या लोकवृत्तानुकरण बताते समय भारतीय नाट्शास्त्र के प्रवक्ता भी इस तथ्य को रेखांकित करते हैं। अभिनवगुप्त कहते हैं कि दूसरे की चेष्टाओं की नकल हास या हास्यास्पद स्थिति को ही उत्पन्न करती है। (काव्य या कला को नहीं।) अतः अनुकरण का आशय अनुव्यवसायविशेष माना जाना चाहिये, अन्यथा अनुकरण के प्रकृत स्थूल रूप का कविता में या नाट्य में प्रयोग द्वेष, असूया आदि को जन्म देगा[८] सार्वजनीन मनुष्यता के या आनन्द्य के अनुभव को नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्य, नाट्य आदि में अनुकृति बाहर के दिक्काल को काव्य या नाट्य के अपने दिक्काल में पुन: रच कर की जाती है । दिक्काल की यह पुन:सृष्टि थोड़ी देर के बहलाव में ही उपरत न हो, न द्वेष, असूया आदि संकीर्ण वैयक्तिक प्रतिक्रिया में भटकाये, बल्कि हमें अपने दिक्काल के बीच समृद्धतर व्यक्तित्व प्रदान करे – इसमें कविता और कला की प्रामाणिकता है ।

ज्ञानमीमांसा के स्तर पर कविता के विश्व की सत्ता प्रातिभासिक सत्ता कही जा सकती है, पर यह प्रातिभासिक सत्ता पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्ताओं के बीच सेतु की तरह अवस्थित है । हम सेतु के रूप में इसका प्रामाण्य नकारने वाली दृष्टियों का स्वत: अप्रामाण्य इतिहास और कालचक्र का विवर्तन सत्यापित करता रहा है । डॉ. जिवागो हमारे युग में दिक्काल की पुन: सृष्टिमूलक अनुकृति का अच्छा उदाहरण है । इस उपन्यास के प्रामाण्य को नकार कर पास्तरनाक को प्रताड़ित और लांछित करने वाली अधिनायकतावादी निरंकुश प्रशासनसरणि को काल के विवर्तन ने स्वत: अप्रमाणित घोषित कर दिया है ।

डॉ. जिवागो या वॉर एंड पीस जैसी महान् कृतियां विस्तीर्ण फलक पर दिक्काल के आयामों को रचती हैं । प्रगीत में किसी एक नन्हें क्षण का अनुभव स्पन्दित होता हुआ ब्रह्माण्ड को अपने क्रोड में समेट लेता है । यह भी अनुकृति का एक रूप है । इसका भी प्रामाण्य स्वत: स्वीकार करना ही चाहिये । जगन्नाथ पाठक जब कहते हैं :

चषका इह जीवने मया
परिपीता अपि चूर्णिता अपि ।
मदमेष बिभर्मि केवलं
क्षणपीतस्य मधुस्मितस्य ते ।।

पी कर खाली किये गये या तोड़ दिये गये प्यालों की सापेक्षता में किसी एक स्मित का क्षण जो यहां विराट् हो कर परिव्याप्त हो गया है, उसमें प्रकृत दिक्काल की नश्वरता और ऐहिकता के आगे काव्यविश्व की सार्थकता का प्रामाण्य होता है । इस प्रकार की कविता इतिहास के दिक्काल की एकरेखीयता में जो कुछ मूल्यवान् जीवनांश रिपट कर निकल गया है, उसे लौटा कर हमारे जीवन में पुन: स्थापित कर देती है । पुन: कापिशायनी से ही :

अवलोक्य नतानना-भवत्
पुनरुन्नीय मुखं ददर्श माम् ।
इयति क्षण एव जीवितं
मरणं नन्वनुभूतवानहम् ।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहां पुनः प्रश्न उठ खड़ा होता है लौकिक प्रत्यक्ष से अनुभूयमान जगत् के आगे काव्य का यह जगत् क्या दिग्भ्रम मात्र अथवा दिग्भ्रमकारकमात्र नहीं है ? तब प्रतिप्रश्न भी खड़ा किया जा सकता है जो दर्शन या धर्मशास्त्र स्वर्ग, नरक, अपूर्व, अदृष्ट आदि के द्वारा अनुभूयमान गोचर वास्तव के ऊपर एक अगोचर वास्तविकता को स्थापित करते हैं और उसका स्वतः प्रामाण्य घोषित करते हैं, उनको काव्यविश्व की वास्तविकता पर सवाल उठाना कहां तक उचित है ? यदि प्रश्न जड धर्मशास्त्रीय दृष्टि से आबद्ध न हो कर वस्तुनिष्ठ अथवा जिज्ञासापरक दृष्टि से उठाया गया है, तो इसका समाधान काव्यानुभूति की अर्थक्रियाकारिता के आधार पर किया जा सकता है। अर्थक्रियाकारिता प्रसुप्त, अव्यक्त संस्कारों के उद्‌बोध और परिमार्जन में है।

वस्तुतः साहित्य के सन्दर्भ में प्रश्न प्रामाण्य के स्वतस्त्व और परतस्त्व का नहीं, उसके प्रामाण्य मात्र का व्याहनन करने वाले विजातीय तत्त्वों द्वारा उठायी गयी चुनौतियों के आगे उसकी अर्थवत्ता को स्थापित करने का है। कविता के विश्व में ही यह संभव है कि व्याहारिक, प्रातिभासिक तथा पारमार्थिक सत्ताओं की कृत्रिम विभाजक रेखाएं मिटा दी जाती हैं और मनुष्य अपने सम्पूर्ण जगत् में स्थापित हो पाता है। मनुष्य को उसका सम्पूर्ण जगत् दे सकने की सामर्थ्य में कविता का प्रामाण्य है, स्वतःप्रामाण्य भी।

संस्कृत विभाग राधावल्लभ त्रिपाठी
डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर – ४७०००३
(म प्र.)

टिप्पणियाँ

१. साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रतिकाव्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥ वक्रोक्तिजीवित, १।१७

२. सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥ साहित्यदर्पण, ३।२

३. श्रीभाष्य १।१।१, पं. ब. ला. अवस्थी की चक्रमुद्रित पुस्तिका भारतीयदर्शनेषु प्रामाण्यवादः में उद्धृत।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४. (क) तदिदमनुकीर्तनमनुव्यवसायो नाट्यापरपर्यायः ।
(ख) तेनानुव्यवसायवद् विशेषविषयीकार्यं नाट्यम् ।
(ग) तस्मादनुव्यवसायात्मकं कीर्तनं रूषितविकल्पसंवेदनं नाट्यम् ।
अभिनवभारती, भा. १, पृ ३६, ३७)

५. भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा :–व्यक्तिविवेक, वाराणसी, १९६४, पृ.७६।

६. काव्यविषये च वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीतीनां सत्यासत्यत्वविचारो निरुपयोग एवेति तत्र प्रमाणान्तरपरीक्षोपहासायैव सम्पद्यत इति। वही, पृ. ७८

७. ननु 'काव्यालापांश्च वर्जयेत्– इति काव्यालाप एव निषिद्ध इति कुतः काव्यनिर्माणावकाशः ? . . . निषेधो मुद्राराक्षसाद्यसत्काव्यविषयतया व्यवस्थापनीयः । अन्यथा रामायणादीनामपि हेयत्वप्रसङ्गादिति भावः ।
(विद्याधर, एकावली, तरलटीका, हैदराबाद, १९८१, पृ. १६)

८. अभिनवभारती, भा. – १, पृ. ३६.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'पद्मावत' का उपसंहार : पाठ और अर्थ

धनि सो पुरुख जस कीरति जासू । फूल मरै पै मरै न बासू ॥
केइ न जगत जस बेंचा, केइ न लीन्ह जस मोल ।
जो यह पढ़ै कहानी, हम संवरै दुइ बोल ॥ ६५२

पाठांतर :– १) धनि सो पुरुख जेहि कीरति जासू ।
२) जो यह सुनै कहानी ।
३) हम समुझैं दुर बोल ।

पद्मावत – का पाठ और पाठान्तर माताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित पद्मावत से उद्धृत है । मैं समझता हूँ उपर्युक्त पाठान्तर स्वीकृत पाठ की अपेक्षा भाव के अधिक निकट है इससे अर्थ अधिक सुबोध और प्रभविष्णु बनता है; प्रसंग के अनुकूल भी हैं ये ।

अर्थ : वासुदेव शरण अग्रवाल द्वारा दी गयी व्याख्या : " धन्य है वह पुरुष जिसके यश की कीर्ति है। फूल मर जाता है, पर उसकी गंध नहीं मरती। किसी ने जगत् में यश नहीं बेचा । किसी ने यश मोल नहीं लिया । (अपनी करनी से सब उसे खोते और पाते हैं ।) जो इस कहानी को पढ़े वह हमारे लिये दो शब्द स्मरण करे " ।

'हम संवरै दुइ बोल ' पर अग्रवाल जी की विवृति:
' वह हमारे लिए भी दो बोल याद कर ले । '

श्री. शिरेफ के अनुसार " दो बोल कुरान शरीफ के दो छोटे सुरे हैं । कब्रों के पत्थर पर प्राय: यह प्रार्थना लिखी रहती है कि जाने वाले पथिक उन दो कलमों को पढ़ दें । उससे मृत व्यक्ति को पुण्य और शान्ति मिलती है। " यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्य जायसी का स्मारक है। जो इस स्मारक को पढ़े वह उसके कर्ता के लिए 'दो बोल' पढ़ दे। यह कवि की नम्र उक्ति है। ये दो शब्द 'दुआएँ मग़फ़िरत' कहलाते हैं, जो इस प्रकार हैं – 'रब्बे इग़फ़िर' = हे ईश्वर, क्षमा कर। इस काव्य से तृप्त हुए सहृदय का मन कवि के लिए ईश्वर से क्षमा की प्रार्थना करे।

२) कवि ने अपने काव्य को भी संक्षेप में 'बोल' कहा है। इसमें एक रतनसेन का बोल है, दूसरा पद्मावती का। सारा काव्य इन्हीं दो बोलों की व्याख्या है —

'रतन पदारथ बोलइ बोला।' २३

३) काफ़ और नून को मिला कर भी दुइर्फ़ कहते है। अर्थात् कुन = 'हो जा'; सृजनात्मक शक्ति या प्रवृत्ति का सबसे बड़ा प्रतीक है (स्टाइनगास; फारसी कोश, पृ ५४१)।

मीमांसा : अग्रवाल जी 'दुइ बोल' को एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त मान रहे हैं। पद्मावत में अन्यत्र भी 'बोल' है–'बोल अरथ सो बोलै।' तथा, 'कोइ बिनु पूंछ बोल जो बोला। होइ बोल माटी के मोला ॥' ८१

बोल, उपर्युक्त संदर्भ में, वाणी, वचन, भारती, शब्द के आकूत में है। दुइ संख्यावाचक अभिधात्मक अर्थ के साथ, सांकेतिक आशय में कहा है; यथा,

'सुनहु जे अब अवगुन दुइ चारी। मानस; १.९१।

जायसी कहना चाहते हैं कि इस प्रेम कहानी पद्मावत में रतन पदारथ की कहानी और उनके प्रेम के बोल हैं। ये बोल अपना महत्त्व रखते हैं। ये बोल अर्थ से भरे हुए हैं। सुआ बोल के कारण ही राजमंदिर में रखने योग्य है :-

'बोल अरथ सौं बोलै सुनत सीस पै डोल।
राजमंदिर महँ चाहिअ अस कह सुआ अमोल।' ७८

गुप्त जी द्वारा स्वीकृत पाठ 'जो यह पढ़ै कहानी हम सँवरै दुइ बोल' में, पाठान्तर के अनुसार, संशोधन करें तो पढ़ै की जगह सुनै और संवरै की जगह समुझै होना चाहिए। 'संवरै' के कारण ही अग्रवाल जी का अर्थ है—'वह हमारे लिए दो शब्द 'स्मरण करे'–इस 'स्मरण' ने अग्रवाल जी को सम्यक् अर्थ की खोज में बाधा पहुँचाई। और 'बोल' को अनावश्यक ढंग से अग्रवाल जी ने कुरानशरीफ़ के 'दो सूरे' मान लिए अथवा 'कुन' से इसे संबंधित किया।

पद्मावतकार जायसी का कथन है कि जो यह प्रेम कथा सुनै (पढ़ै) वह हमारे बोल के अमिअ रस को समझे। वह इसके अर्थ की गहराई में जाए। ऐसा होने पर कवि की भारती अमर रहेगी और कवि के यश का विस्तार होगा। कीर्तिलता (विद्यापति) का उपसंहार पद्मावत से मिलता-जुलता है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माधुर्य को जन्म देनेवाली कवि विद्यापति की यह वाणी (भारती) जब तक यह संसार में है तब तक क्रीडा करती रहे। २९१ (४.९२)।

कवि कुतबन **मृगावती** के उपसंहार खंड में जायसी की भाँति अपने बोल के अर्थ के संबंध में कहते हैं :—

बहुत अरथ इहि एहि मंह जो कोइ सुधि सेइं बूझ।
कहेउ जहाँ लगि पोरउँ जो किधु हिरदै में सूझ॥

मझन भी **मधुमालती** (सं. डॉ. माताप्रसाद गुप्त) में अपनी कविता (काव्य) और अपने यश के अमर होने की अभिलाषा करते हैं :—

औ अंब्रित जह छाजै असो सुभर सो ठाउं।
कविता गात जबहि तहि रहइ जगत मंह नाउ॥ ५३८

जायसी भी इसी यश के लिए उपसंहार में अपने **बोल** (काव्य) की महत्ता की ओर इंगित करते हैं। जायसी का कथन है कि जो भी उनके काव्य को सुनेगा वह इस काव्य के बोल को स्मरण करेगा और बोल का अर्थ, मर्म समझ कर हमें याद करेगा। फलस्वरूप, जो यश क्रय नहीं किया जा सकता उसकी प्राप्ति कवि को अपनी सरस, अमृतमय कृति से होगी। 'सँवरै' की जगह 'समझै' अधिक उपयुक्त है — अर्थ-गांभीर्य को समझने पर ही कवि को कीर्ति मिलेगी। जायसी मानते हैं जीवन उसी का धन्य है जिसका यश रहे — शरीर चला जाए पर सुगंध बनी रहे। काव्य इस सुगंध (वास) को अक्षुण्ण रखने में सहायक है। भर्तृहरि ने कहा है :—

'जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः कार्यं जरामरणसंभवम्।'

चंद विरदिया (वरदायी) **पृथ्वीराज रासउ** के अंत में अपनी कृति को अमृत समान बताते हैं — वे कहते हैं, यह नव रसों से युक्त काव्य है :

'रासउ जुसंभु नव रस सरस छंद चंदु किअ अमिअ सम।
श्रृंगार वीर करुणा विमछ भय अद्भुत्तह संत सम॥' १२-४१

काव्य संबंधी इस परंपरा से ही जायसी के भाव को समझना चाहिए। 'हम सँवरै (समुझै) दुइ बोल' जायसी की ही नहीं सभी कवियों की अभिलाषा रही है। जायसी के 'बोल' को कुरआनशरीफ़ से जोड़ना अथवा उससे मुसलमानी मज़हब का अर्थ निकालना कवि के प्रति सर्वथा अन्याय है। जायसी मानते हैं (अन्य संतों की ही भाँति) कि यह 'पिरथिवी झूठी' है — यहाँ कोई अमर नहीं —

'जो रे उवा सो अथवा रहा न कोई संसार।' ६४०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमर होने के लिए सत्पुरुष अथवा सही बनना चाहिए। प्रेमपंथ अमरत्व देता है। 'दुहूँ जग' में प्रेम ही साथी है। जायसी प्रेम कहानी रचकर अमर होना चाहते हैं :-

'औ मन जानि कबित अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महं चीन्हा ॥'

'चीन्हा' का अर्थ कविता की अमरता है। भर्तृहरि से चली आई परंपरा से जुड़े हैं जायसी। जायसी मानते हैं कि कवि के यशस्काय को उसकी कृति जरामरण से मुक्त रखती है।

'धनि सो पुरुख जस कीरति जासू।
फूल मरै पै मरै न बासू॥'

पाठान्तर को स्वीकारने पर पाठ होगा – 'धनि सो पुरुख जेहि कीरति जासू —।' कवि का कथ्य है कि पुरुष वही धन्य है जिसे यश मिले, अथवा जो यश का कार्य करे। किताईचरित (सं. श्री. हरिहर निवास द्विवेदी) में कवि नारायण दास अपनी कथा की विशेषता बताते हुए कहते हैं :-

'अरु किधु करउं वीर सिंगारू। नव रस कथा करइ बिस्तारू॥
जंपइ बिस्तु नारायन दासू। मरइ फूल जीवइ दिन बासू॥ ॥ २९॥

नारायनदास स्पष्ट कहते हैं यह नव रस कथा युक्त काव्य उनकी कीर्ति को अमर करेगा – फूल नष्ट हो जाता है पर उसका सुवास संसार में रहता है। यहाँ फूल प्रतीक है मनुष्य का, और वास प्रतीक है उसकी कृति का। काव्य 'यशः काय' है कवि का। जायसी की फूल और वास संबंधी कल्पना परंपरा से गृहीत है।

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल की पद्मावत की व्याख्या सन १९५६ में और डॉ. गुप्त जी की टीका सन १९६३ में प्रकाशित हुई। इसमें संदेह नहीं कि गुप्तजी ने शब्दों की व्युत्पत्ति के सहारे अनेक स्थलों पर नया और समीचीन अर्थ दिया है; पर उन्होंने भी परंपरा की ओर ध्यान नहीं दिया, यद्यपि **मधुमालती** का संपादन (सटीक) वे कर चुके थे सन १९६१ में ही। गुप्त जी द्वारा दिया गया अर्थ : 'वह पुरुष धन्य है जिसका यश और जिसकी कीर्ति (शेष) है। (सुगंधयुक्त) फूल (सूख कर) मर जाता है, किंतु उसकी वासना नहीं मरती है। संसार में किसने नहीं यश को बेचा और किसने नहीं उसे मोल लिया–किसने यश का सौदा नहीं किया? जो इस कहानी को पढेगा, वह मुझे दो वाक्यों में स्मरण करेगा।'

यश का अर्जुन और उसकी रक्षा भारतीय संस्कृति का मूल सिद्धान्त है। 'यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः।' (रघुवंश ३।४८)। यश धन या–धनों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वोत्तम। पर अन्य धन की भाँति यह क्रय नहीं किया जा सकता और न इसे अन्य द्रव्य की भाँति बेचना ही संभव है। **मनुस्मृति** (७।३४ में लिखा है —

'विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि।'

यशस्काय का अर्थ है कीर्ति देह = प्रसिद्धि के रूप में शरीर। सत्पुरुष (**सतुरुख – पद्मावत २७८**) की कीर्ति ही उसका सर्वस्व माना जाता था। भरत माँ कौशल्या से कहते हैं – 'जिसकी अनुमति से भैया श्री राम ने वन में पदार्पण किया है वह पापी सत्पुरुषों के लोक से, सत्पुरुषों की **कीर्ति से** तथा सत्पुरुषों द्वारा सेवित कर्म से शीघ्र भ्रष्ट हो जाए।' (**रामायण** २.७५-४७)। यश को सत्य और धर्म की श्रेणी में बताया गया है। **रामायण** १.८ में राजा कुशनाभ अपनी बेटियों से कहते हैं – 'क्षमा दान है, क्षमा सत्य है, क्षमा यज्ञ है, क्षमा यश है, क्षमा धर्म है।' राजा जनक **धनुषभंग** होने पर मुनि विश्वामित्र से कहते हैं – 'मेरी पुत्री सीता **दशरथ कुमार** श्रीराम को पति रूप में प्राप्त करके जनक वंश की कीर्ति का विस्तार करेगी।' (१.६७.२२)

इसी कीर्ति-शरीर की कामना करते हैं जायसी, इन शब्दों में – '**औ मन** जानि कबित अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा।' जगत् में कवि का यशस्काय अमर रहता है। 'फूल मरै पर मरै न बासू' प्रतीकात्मक शैली में है– फूल मनुष्य जीवन सदृश है और उसका बास मनुष्य का गुण अथवा उसकी कीर्ति। शरीर छूट जाता है पर यशस्काय इस संसार में रहता है। किसी की कृतियों अथवा उसके गुणों का वर्णन उस व्यक्ति की कीर्ति है। इसीलिए जायसी कहते हैं :–

धन्य सो पुरुख जेहिं (जस) कीरति जासू।
फूल मरै पै मरै न बासू॥'

उपसंहार के छंद ६५२ की अंतिम तीन पंक्तियों की मीमांसा के अनन्तर अब उसकी आरंभ की तीन पंक्तियों पर विचार किया जा रहा है :

मुहमद यहि कबि जोहि सुनावा। सुना जो प्रेम पीर गा पावा॥
जोरी लाइ रकत कै लेई। गाढ़ी प्रीति नैन जल भेई॥
औ मन जानि कबित अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा॥

पाठान्तर : (१) गाढ़ी प्रीति नैन जल भेई' के स्थान पर '**प्रेम प्रीति** नैनन्ह जल भेई।'

अग्रवाल जी की **टीका** : मुहमद ने यह काव्य रचकर सुनाया। जिसने सुना उसे प्रेम की पीड़ा का अनुभव हुआ। इस प्रेमकथा को रक्त की लेहीं लगाकर जोड़ा है। इसकी गाढ़ी प्रीति को आँसुओं से भिगोया है। मन में यह समझ कर ऐसा कवित्व रचा है कि शायद जगत् में यही निशानी बची रह जाए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'जोरी लाइ रकत कै लेई' रतनसेन में प्रेम की पीडा उत्पन्न हुई। उसने उसे सींचा। पद्मावती के मन में गाढी प्रीति थी। अंत में उस गाढी प्रीति को उसने अपने आँसुओं से सींचा। आटे से लेई बनाते समय उसमें पानी मिलाना आवश्यक है। ऐसे ही राजा ने प्रेम की पीडा में अपना रकत मिला कर उसे जोड़ा। गाढी होने पर लेई में पानी मिलाया जाता है। ऐसे ही जब प्रेम गाढ़ा हुआ तो रानी ने उसमें अपने आँसू मिलाए। यही इस प्रेमकथा का सूत्र है – रतनसेन के रकत और पद्मावती के नेत्र–जल मिलने से यह प्रेमकथा पूरी हुई।

कवि जायसी के पक्ष में भी यह अर्द्धाली घटित होती है। अपने शरीर के श्रम और हृदय की करुणा से उसने यह काव्य जोड़ा है।

रामचंद्र शुक्ल जी बताते हैं :– 'इस कविता को मैंने रक्त की लेई लगा कर जोड़ा है और गाढी प्रीति को आंसुओं से भिगो कर गीला किया है।'

माताप्रसाद गुप्त की व्याख्या है : "मुहम्मद जायसी ने इस कविता को जोड़ कर (बनाकर) सुनाया और जिसने इसे सुना, वह प्रेम की पीड़ पा (ले) कर गया। यह रचना उसने रकत की लेई लगा कर जोडी है जो गाढी प्रीति के नेत्र–जल (अश्रुओं) से भिगोई हुई थी। और मन में यह जान कर ऐसा कवित्व किया कि संभव है यह जगत् में उसके चिह्न के रूप में रह जाए।'

मीमांसा : 'मुहमद यह कबि जोहि सुनावा।' तथा 'जोरी लाइ रकत कै लेई।' में जोरना महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। **पद्मावत** में कहा गया है :– 'जानै प्रीति जो मरि कै जोए।' २३४ **मधुमालती** में है :–

१) जहाँ न अच्छर जुरै संवारहु। ४१।

२) जओ आखरहि जोरि बनाइहि। ४०।

३) कथा एक बाँधउ रस भाखा। ३९।

मृगावती में है :–

१) दुइ रे मास दिन दस मँह जोरत यह ओशनें जाइ।
एक एक बोल मोति जस पिरोवा बकता चितमन लाई॥ ११॥

२) जहिया हुत पंद्रासै साठी। तहिया एइरे चौरई गांठी॥ ४२६॥

चाँदायन (स. माताप्रसाद गुप्त) में है :–

१) भयो राजु कुनि बररुचि जोरत अरथ अगाइ। १०।

२) जुरत बोल चित सबहु टूटत लेहु संवारि। ११॥

इसी परंपरा ने जायसी का 'यह कबि जोरि सुनावा' तथा 'जोरी लाई रकत कै लेई' है। उपर्युक्त उदाहरणों में **अच्छर जोरना, अखरहि** जोरना, **चौपाई गाँठना, बोल जोरना,** अरथ जोरना, **बोल पिरोना**, एक ही आशय में हैं। जायसी मुहम्मद ने **पद्मावत** काव्य अन्य कवियों की भाँति ही जोरा – एक एक अक्षर जोरा–गाँठा अथवा मोती की तरह पिरोया। कवि ने अपने काव्य में अर्थ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जोरे। जुड़ना का विरोधी टूटना है। अक्षरों का जोड़ना असाधारण काम है। इस जोड़ने में कहीं भूल हो तो पंडित-गुणी उसे सँवार लें। जायसी को अपने काव्य-सर्जन पर आस्था है। उसी आत्म-विश्वास को अभिव्यक्त करने के लिए वे कहते हैं 'जोरी लाइ रकत कै लेई।' जायसी का यह भी कथ्य है : यह प्रेमकथा आरंभ से अंत तक प्रेम के रकत से जोड़ी और सींची गयी है। 'रकत की लेई' के भाव को नीचे दिए गए उद्धरणों से समझा जा सकता है। जायसी ने अन्यत्र भी रकत, रुहिर आदि शब्दों का प्रयोग किया है :

१) रकत न रहा बिरह तनगरा, रती रती होइ नैनन्हि ढ़रा। ३५१।
२) रकत आँसु घुंघुची बन बोई। ३५९
३) रोई रुहिर आँसु तस ढरै। ६०८

जायसी – काव्य पद्मावत में विरह प्रधान है। सूफी मानते हैं कि विरह की पीर बिना प्रीति नहीं। जायसी की पंक्तियाँ हैं :–

'जेहि के बोल बिरह कै घाया। कहं तेहि भूख कहाँ तेहि छाया।
मुहमद कबि जो प्रेम का ना तन रकत न मांसु।
जेइ मुख देखा तेइं हँसा तो आए आसु ॥ २३

'गाढ़ी प्रीति नैन जल भेई' का भाव है : 'सुना तो आए आँसु।' अन्यत्र भी 'सोइ बिमोहा जेइ कबि सुनी'। २१ (द्रष्टव्य लेखक की कृति–जायसी काव्यः प्रतिभा और संरचना १९८२)। पद्मावत के एक-एक अक्षर को कवि ने विरह को पीरा सह कर, रकत के आँसू बहा कर जोड़ा। यह 'प्रेमपीर' काव्य सुनने वाले में उत्पन्न होती. तो उसमें प्रीति उपजती। फलतः उसके नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगती। 'प्रेम पीर' का प्रभाव ही जायसी उपर्युक्त आखसे में व्यक्त कर रहे हैं। 'गाढी प्रीति' की जगह यदि 'प्रेम प्रीति' पाठ स्वीकारें तो तो 'गाढी' के प्रयोग से उत्पन्न भ्रम समाप्त हो जाता है। अग्रवाल जी की व्याख्या :– 'इस प्रेमकथा को रकत की लेई लगा कर जोड़ा है। 'इसकी गाढी प्रीति को आँसुओं से भिगोया है' कवि के आशय को सुबोध बनाने में सक्षम नहीं, प्रत्युत भ्रामक है। रतनसेन ने रकत से सींचा और पद्मावती ने अपने आसुओं से, यह कल्पना औचित्य से परे है। लेई का सादृश्य जोड़ कर दृढ़ता को व्यक्त करने के लिए दिया गया है। यह कहना हास्यास्पद है कि 'प्रेम गाढा हुआ तो रानी ने इसमें आँसू मिलाए।' प्रीति और प्रेमाश्रु का सहज संबंध है। अग्रवाल जी मानते हैं : 'रतनसेन के रकत और पद्मावती के नेत्रांजल से प्रेमकथा पूरी हुई' पर पद्मावत में रतनसेन और पद्मावती दोनों ही विरह-मरण से पीड़ित चित्रित हुए हैं। नागमती भी। कवि स्वयं के ईश्वर के प्रेम-विरह में रक्तहीन हो चुका था। अग्रवाल जी का एक निष्कर्ष यह भी है – 'जायसी ने अपने शरीर के श्रम और हृदय की करुणा से यह काव्य जोड़ा है। निश्चय ही यह अर्थ पद्मावत से पुष्ट नहीं है। शुक्ल जी द्वारा किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया अर्थ – गाढी प्रीति को आँसुओं से भिगो–भिगोकर गीला किया है।' अग्रवाल जी ने स्वीकार किया और सत्य से दूर हो गए। गाढो प्रीति (प्रेम प्रीति) 'नैन जल भई' श्रोताओं से संबंधित है। काव्य को जिसने सुना उसके हृदय में प्रेम पीर उत्पन्न हुई और प्रेम प्रीति से उसके नेत्रों से आँसू बहने लगे। रकत से जोरी प्रीति का आशय है – 'जानै प्रीति जो मदि कै जाए।' २३१

"औ मन जानि कबित अस कीन्हा।

मकु यह रहै जगत मँह चीन्हा।।" में मकु का अर्थ अग्रवाल जी ने 'शायद' और गुप्त जी ने 'संभव है' किया है।

१) मकु = कदाचित्, संभव है।

'जोगी केर करहु पै खोजू। मकु यह होइ न राजा भोज।। (पद. २६०)

२) मकु = चाहे :

'तिमिर तरुन तरनिहि मकु गिलई।'

मसक फूंक मकु मेरु उड़ाई। मानस. २.२३२

३) मकु = मानों :

'रोकहि रोक बान पै फूटै। सोतहि सोत रुहिर मकु टूटै।।' २२५

४) मकु = जिससे, ताकि (सौ दैट) :

i) 'गहै बीन मकु रैनि विहाई।' १६५ पद्मावत

ii) 'चोर नाउ आपन कहि मोही।

बोलु मछ मकु चीन्हउ तोहीं।।' (२०१ चाँदायन)

'मकु यह रहै जगत मँह चोन्हा' में 'मकु' 'जिससे' के आशय में है। कवि का कथ्य है कि मैंने ऐसा काव्य रचा है जिससे संसार में यश अमर रहे। अमृत रस–प्रेम रस से भरी यह रचना जब तक जगत में रहे मेरी कीर्ति को अक्षुण्ण रखे। चीन्हा = चिन्हानो, पहचान। जगत् में वह कृति यश का विस्तार करेगी, क्योंकि प्रेम प्रीति की सुन्दर व्यंजना है – इस कृति की रचना रकत के बूँद से, विरह की पोड़ा से हुई है। 'औं मन जानि' से कवि की दृढ इच्छा और आत्मविश्वास प्रकट होता है। सभी काव्यकारों ने ऐसी अभिव्यक्ति की है जैसा ऊपर विवेचित है। जायसी मानते हैं :–

"धनि सो पुरुख जस कीरति जासू।

फूल मरै पै मरै न बासू।।' ६५२

शरीर छूट जाता है पर विचार रह जाते हैं।

१४७, त्रिवेणी रोड
इलाहाबाद–२११००३
(उ. प्र.)

हरिहर प्रसाद गुप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

औद्धव-मत में प्रत्यक्ष प्रमाण का विचार

भारतीय दर्शन में विशिष्टाद्वैत वेदान्त का महत्वपूर्ण स्थान है। इस सिद्धान्त के प्रवर्तक श्रीरामानुजाचार्य हैं। रामानुजाचार्य के मत को ही आधार बना कर १८ वीं शताब्दी में औद्धव-सम्प्रदाय का प्रभाव हुआ। यह सम्प्रदाय स्वामी सम्प्रदाय के रूप में आज भी गुजरात में सर्वातिशयेन जाना जाता है। गुजरात में ही उत्पन्न हुए श्रीहरिजीवनदास ने इस सम्प्रदाय के प्रचार एवं प्रसार हेतु अत्यन्त योगदान दिया। इन्होंने **मानमेयप्रकाशिका** नामक दार्शनिक कृति का निर्माण करके इस मत का सर्वाधिक रूप में प्रचार किया। इस मत के प्रमाण एवं प्रमेय द्विविध पदार्थ के अनुशीलनपूर्वक श्रीहरिजीवनदास ने रामानुजसम्मत विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का ही प्रकाशन किया।

औद्धव मत में विशिष्टाद्वैत के चित्, अचित् एवं ईश्वरतत्त्व को ही प्रकरान्तर से जड, जीव, एवं ईश्वर इन त्रिविध प्रमेय पदार्थों के रूप में स्वीकार किया गया है। साम्प्रदायिकगण ब्रह्म के सगुण एवं साकार रूप का ही प्रतिपादन इस मत के आधार पर किया करते हैं। परमज्ञानी उद्धव को इस मत का आदि गुरु मानने के कारण ही इस मत को औद्धव मत कहना अभिप्रेत है। उद्धव के शिष्य रामानन्द हुए तथा उनके शिष्यत्व को ही स्वामीनारायण ने प्राप्त किया। अतः गुरुपरम्परागत सदुपदेश के रूप में प्रोक्त होने के कारण इस मत को स्वामी-नारायण मत के नाम से विशेष ख्याति प्राप्त हुई।[1]

श्री हरिजीवनदास की कृति **मानमेयप्रकाशिका** में इस मत के प्रमाण एवं प्रमेयों का विवेचन प्राप्त होता है। प्रमाणों के अन्तर्गत इस मत में प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम ये तीन प्रमाण स्वीकृत हैं। प्रमेय पदार्थ का द्विधा तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंचधा विभाग मान्य है। द्विधा विभाग के अन्तर्गत प्रमेय द्रव्य एवं अद्रव्य के रूप में विभाजित हैं। त्रिधा विभाग के अन्तर्गत माया, जीव एवं ईश्वर-तत्त्व का पृथक् निरूपण किया जाता है। साथ ही पंचधा विभाग के अन्तर्गत माया, जीव, ईश्वर, ब्रह्म एवं परब्रह्म के रूप में प्रमेय निरूपण विहित है। प्रमाणों की मान्यता में प्राय: न्यायदर्शनसम्मत स्वरूपविमर्श यहाँ भी प्राप्त होता है, किन्तु विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के प्रकाशनार्थ कतिपय भेद एवं मान्यतायें भी प्रसिद्ध रहीं हैं। इस लेख में सम्प्रदायगत मान्यताओं के प्रकाश में प्रत्यक्ष प्रमाण का ही विवेचन किया जा रहा है।

प्रत्यक्ष प्रमाण सभी अनुमानादि प्रमाणों का उपजीव्य है। अनुमानादि प्रमाण उपजीवक हैं। प्रत्यक्षपूर्वक ही अनुमानादि की प्रवृत्ति होती है। अनुमान तो पूर्ण रूपेण प्रत्यक्ष के आधार पर ही सिद्ध होता है। अनुमान की प्रवृत्ति व्याप्तिज्ञान के बिना नहीं होती तथा व्याप्तिज्ञान प्रत्यक्ष-पूर्वक ही सिद्ध होता है। अत: सभी प्रमाणों में प्रत्यक्ष ही सभी वादी एव प्रतिवादियों को सम्मत प्रमाण है।

प्रत्यक्ष का लक्षण : साक्षात्कारिणी प्रमा प्रत्यक्ष है, एवं उसका करण प्रत्यक्ष प्रमाण है।[२] साक्षात् अपरोक्ष अनुभव ही प्रत्यक्षात्मक ज्ञान है। प्रत्यक्ष का विशिष्ट गुण यह है कि यह ज्ञान अन्य ज्ञान के माध्यम से नहीं होता है। इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान को ही प्रत्यक्ष का स्वरूप मानने पर ईश्वर के नित्य ज्ञान में अव्याप्ति होती है। अत: इस अव्याप्ति के वारणार्थ वेंकटनाथ ने भी इसे अपरोक्ष ज्ञान माना है तथा इसका लक्षण " जिस ज्ञान में करण ज्ञात न हो तथा जो स्मृतित्व से रहित हो " इस रूप में किया है।[३] अनुमानादि ज्ञानों में लिंग ज्ञात रहता है, तथा स्मृत्यादि ज्ञान में पूर्वानुभव करण रूप में ज्ञात रहता है। अतएव प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण की अनुमानादि ज्ञानों में व्यावृत्ति के लिए ही मानमेयप्रकाशिका में अपरोक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष माना गया है।

नव्य नैयायिकों के अनुसार जिस ज्ञान में अन्य ज्ञान की कारणता न हो; ऐसा प्रत्यक्ष का लक्षण है।[४] इस लक्षण से भी ईश्वर के नित्य ज्ञान में अव्याप्ति का परिहार हो जाता है। यह लक्षण ईश्वर तथा जीव के प्रत्यक्ष के लिए समान है।[५] नैयायिक केशवमिश्र भी प्रत्यक्ष में साक्षात्व मानते हुए साक्षात्कारिणी प्रमा को इन्द्रियजन्य स्वीकार करते हैं।[६] न्याय मत के साथ ही प्रभाकर मीमांसक साक्षात् प्रतीति को प्रत्यक्ष प्रमाण मान कर स्मृति में प्रत्यक्षापत्ति को निर्दिष्ट करते हैं।[७] हरिजीवनदास ने प्रत्यक्ष के विषय में विभिन्न लक्षणों के प्रकाश में साक्षात्कारिणी प्रमा को प्रत्यक्ष तथा उसके करण को प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध किया है। साक्षात्कारिणी प्रमा का आपरोक्ष्य उसके विशदावभासक होने से है।[८] जैन तार्किक हेमचन्द्र सूरि ने भी प्रत्यक्ष को अपरोक्ष प्रमाण मानते हुए उसको

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैशद्यमूलक लक्षित किया है।[९] वस्तुतः वैशद्य का तात्पर्य असाधारण रूप से वस्तु का प्रकाशन है। प्रत्यक्ष लक्षण के सम्बन्ध में उपर्युक्त लक्षणों में साम्य होने पर भी ज्ञान के प्रकारों के विषय में मतभेद पाया जाता है, जिसे प्रस्तुत किया जा रहा है :

प्रत्यक्ष के भेद : सामान्यतः प्रत्यक्ष के दो भेद माने जाते हैं : निर्विकल्पक एवं सविकल्पक। **मानमेयप्रकाशिका** में नैयायिकों को मान्य निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के स्वरूप का खण्डन किया गया है। हरिजीवनदास का अभिमत है कि निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों ही प्रकार के ज्ञान सविषयक सिद्ध होते हैं। नैयायिक निर्विकल्पक ज्ञान को निष्प्रकारक, नाम, जाति तथा योजना से हीन मानते हैं।[१०] किन्तु हरिजीवनदास का मन्तव्य रहा है कि बालमूकादि ज्ञान भी संज्ञा, विकल्प आदि से रहित होने पर विशिष्टविषयक माने जा सकते हैं। हेयोपादेयता का ज्ञान होने से ही बाल, मूकादि की इष्ट में प्रवृत्ति तथा दिष्ट से निवृत्ति देखी जाती हैं। इसके अतिरिक्त व्यक्तिमात्र में राग, द्वेष, भयादि प्रवृत्तियों की समानता के कारण ही रज्जु को रज्जुत्वेन देखने से प्रवृत्ति एवं सर्पत्वेन देखने से निवृत्ति होती है। गोसर्पादि को देखने से हानोपादान की प्रवृत्ति से भी यह सिद्ध होता है कि निर्विकल्पक ज्ञान विशिष्टविषयक है, निष्प्रकारक नहीं।[११]

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष विचार:–जिस ज्ञान में पदार्थ के विशिष्ट गुण को प्रत्यवमर्श के अभाव में उस पदार्थ के रूप में जाना जाता है, वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है।[१२] संस्कारों के उद्बुद्ध हुए बिना ही होनेवाला इन्द्रियजन्यज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है।[१३] कुमारिलभट्ट ने निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को बालमूकादि ज्ञान के समान आलोचन मात्र मान कर उसे शब्द–सम्बन्ध से रहित माना है।[१४] बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति के मत में भी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का यही स्वरूप है।[१५]

मानमेयप्रकाशिका में यह स्वीकार किया गया है कि ज्ञान में शब्दानुवेध होने से उसे भी विशिष्ट ज्ञान मानना चाहिए। भार्तृहरि के वचन द्वारा भी ज्ञानों के शब्दानुवेधत्व की सिद्धि होती है।[१६]

निर्विकल्प ज्ञान जात्यादिक कल्पना से युक्त है। संस्थान ही जातिरूप है। यद्यपि प्रथम पिण्ड के ग्रहण के समय यह इस जाति का है इस रूप में वस्तु का ग्रहण नहीं होता, तथापि दृष्ट पदार्थ में ' यह विजातीय है ' इस रूप में ग्रहण अवश्य होता है। गुण का ज्ञान भी शुक्ल, नीलादि के वैषम्य से गृहीत है। जाति एवं व्यक्ति में अभेद होने से व्यक्ति के साथ ही जाति का ग्रहण अवश्यम्भावी है।[१७] अतएव प्रथम पिण्ड के दर्शन से ' यह गो है ' यह ज्ञान निर्विकल्पक है तथा सामान्य (सादृश्य) के ग्रहणपूर्वक द्वितीयादि पिण्डों में ' यह भी गो है ' यह निश्चयात्मक ज्ञान सविकल्पक माना जाता है। निर्विकल्पक में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तु को विशेषशून्य नहीं कहा जा सकता है। इसका अन्य सिद्धान्त से विरोध होगा क्योंकि धर्म एवं धर्मी भाव को स्वीकार किए बिना कोई भी वस्तु विषय हो नहीं बन सकती है। अतः नैयायिक को मान्य वस्तुमात्रावगाहि ज्ञान उपपन्न हो नहीं कहा जा सकता है। इसलिए दर्शन मात्र से 'यह इस प्रकार का है' यह विशिष्ट ज्ञान अबाधित रूप में मानना तर्कप्रतिष्ठित है।

सविकल्पक प्रत्यक्ष विचार : प्रत्यवमर्श के सहित होने वाला प्रत्यक्ष सविकल्पक है।[१८] प्रत्यवमर्श से तात्पर्य पदार्थ का विकल्पों के साथ पुनर्ग्रहण से है। गुण, संस्थानादि से विशिष्ट प्रथम पिण्ड का ग्रहण निर्विकल्प प्रत्यक्ष, तथापि पूर्वकालिक अनुभव का संस्कारसहित गुण, संस्थानादि से विशिष्ट रूप में द्वितीयादि पिण्ड का ग्रहण सविकल्पक प्रत्यक्ष है। न्याय मत से यहाँ यह भेद है कि इस मत में सभी ज्ञान सविषयक ही माने गये हैं।[१९] पूर्व में न देखे गये गवादिक पदार्थ का दर्शन करने में 'यह इस प्रकार का कोई पशु है' ऐसा प्रत्यवमर्शरहित ज्ञान होता है। जब कि सजातीय द्वितीयपिण्ड में 'यह भी वही है' इस प्रकार से प्रथम पिण्ड के रूप में दृष्ट पश्वादि की जाति–विशेष का प्रत्यवमर्श होता है। इस प्रकार होने वाले पुनर्ग्रहण में सहकारी हेतु पूर्व के अनुभवजन्य संस्कारों का उद्बुद्ध होना ही है।[२०] कोई भी ज्ञान इन्द्रियमात्र से जन्य नहीं कहा जा सकता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी विषय, आलोक एवं उद्बुद्ध रूप सहकारी बनते हैं उसी प्रकार सविकल्पक प्रत्यक्ष में पूर्वानुभवजन्य संस्कारों का उद्बोध सहकारी बनता है। सविकल्पक को प्रत्यक्ष का प्रकार भी मानना इसलिए आवश्यक होता है कि इसे न मानने पर प्रत्यभिज्ञा के प्रत्यक्षत्व की क्षति होती है।

संक्षेप में वर्णित उभयविध प्रत्यक्ष का निष्कृट लक्षण यह है कि उद्बुद्ध संस्कारों से होने वाला इन्द्रियजन्य ज्ञान सविकल्पक प्रत्यक्ष तथा अनुद्बुद्ध संस्कारों से होनेवाला इन्द्रिजन्य ज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है।[२१]

प्रत्यक्ष के अवान्तर भेद : सर्वप्रथम ज्ञान के प्रकारों की दृष्टि से निर्विकल्पक एवं सविकल्पक रूप से प्रत्यक्ष ज्ञान की द्विविधता का परिचय प्रस्तुत किया गया। अब अवान्तर भेद से प्रत्यक्ष के अर्वाचीन एवं अनर्वाचीन विभाग का परिचय प्रस्तुत किया जाता है :

अर्वाचीन प्रत्यक्ष : अर्वाचीन प्रत्यक्ष के दो भेद हैं : इन्द्रियसापेक्षप्रत्यक्ष एवं इन्द्रियनिरपेक्षप्रत्यक्ष।

(क) इन्द्रियसापेक्ष : अस्मदादिजनों को इन्द्रियों के साहाय्य से होनेवाला प्रत्यक्ष ही इन्द्रियसापेक्ष प्रत्यक्ष है।[२२] यह पंचविध ही है, षड्विध नहीं।

१. **चाक्षुष** – नेत्रेन्द्रियद्वारा रूप का ग्रहण होता है। नेत्रेन्द्रिय से ग्राह्य प्रत्यक्ष की चाक्षुष संज्ञा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२. रासन – रसनेन्द्रिय द्वारा रस का ग्रहण होता है; अतः रसनेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य प्रत्यक्ष की रासन संज्ञा है।

३. घ्राणज – घ्राणेन्द्रिय से गन्ध का ग्रहण होता है, अतः घ्राणेन्द्रिय से ग्राह्य प्रत्यक्ष की घ्राणज संज्ञा है।

४. त्वाच – त्वगिन्द्रिय से स्पर्श का ग्रहण होता है, अतः त्वगिन्द्रिय से ग्राह्य प्रत्यक्ष की त्वाच संज्ञा है।

५. श्रावण – श्रवणेन्द्रिय से शब्द का ग्रहण होता है। अतः श्रवणेन्द्रिय से ग्राह्य प्रत्यक्ष की श्रावणसंज्ञा है।

मानस प्रत्यक्ष का अभाव : नैयायिक मत में आत्मा जड है, किन्तु विशिष्टाद्वैत मत में आत्मा स्वयंप्रकाश द्रव्य है। नैयायिक मन को इन्द्रिय मानने के कारण मानस प्रत्यक्ष मानते हैं, किन्तु विशिष्टाद्वैत मत में यद्यपि मन का इन्द्रियत्व स्वीकार है, पुनरपि मानस प्रत्यक्ष की मान्यता इष्ट नहीं है। अतः मानस सुख, दुःखादि की उपपत्ति के लिए मानस प्रत्यक्ष कारण न होकर ज्ञान का स्वयंप्रकाशत्व ही कारण है[२३] विशिष्टाद्वैती स्मृति आदि के करण के रूप में ही मन इन्द्रियत्व का साधन करते हैं।[२४]

(ख) इन्द्रियनिरपेक्ष प्रत्यक्ष : इन्द्रियनिरपेक्ष प्रत्यक्ष योगिजनों का होता है। यह द्विविध है।

१. स्वयंसिद्ध – योगज प्रत्यक्ष स्वयंसिद्ध कहलाता है। योगज प्रत्यक्ष में योगाभ्यास एवं तपश्चर्यादि से उत्पन्न सूक्ष्म अदृष्ट कारण होता है।[२५] योगज महर्षियों का ज्ञान है।

२. दिव्य – भागवत्कृपा से होने वाला प्रत्यक्ष दिव्य है। परांकुश आदि भक्तों तथा गोपालानन्द प्रभृति जनों का इस प्रकार का प्रत्यक्ष औद्धव मत में मान्य है। यह प्रत्यक्ष ईश्वर, मुक्त तथा आर्ष पुरुषों का ही होता है।[२६]

अनर्वाचीन प्रत्यक्ष : ईश्वर एवं मुक्त पुरुषों का अनर्वाचीन प्रत्यक्ष मान्य है। वेंकटनाथ ने भी साक्षात्व के दो भेदों में ईश्वरीय ज्ञान को नित्य माना है।[२७] ईश्वर को प्रत्येक वस्तु का साक्षात्कार देश, काल तथा अवधि में सर्वदा होता रहता है। श्रीनिवासदास ने अनर्वाचीन प्रत्यक्ष को ईश्वरीय कहा है।[२८]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्निकर्ष – इन्द्रिय सन्निकृष्ट अर्थ की ही ग्राहिका होती है। अतः प्रत्यक्ष में द्विविध इन्द्रियसन्निकर्ष मान्य है :।– संयोग २ – संयुक्ताश्रय। घटादि अर्थ के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष को संयुक्ताश्रय सन्निकर्ष कहते हैं। वस्तु को ग्रहण करके शीघ्र प्रकाशित करना ही इन्द्रिय का स्वभाव है। चाक्षुष प्रत्यक्ष में अन्तःकरण की वृत्ति विषय देश में जा कर विषय का ग्रहण करती है। अन्य इन्द्रियसापेक्ष प्रत्यक्षों में विषय ही इन्द्रिय प्रवेश में सन्निकृष्ट माने गये हैं। श्रावण प्रत्यक्ष में भी वायु द्वारा समीप लाया गया शब्द श्रोत्रप्रदेश में सन्निकृष्ट होता है। सन्निकर्ष की द्विविधता इन्द्रियसापेक्ष प्रत्यक्ष के लिए ही चरितार्थ होती है।

उक्त समस्त विवेचन के आधार पर यह सहज रूप में कहा जा सकता है कि विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के प्रकाशन के अनुरूप ही औद्धव मत में प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वरूप पर विचार प्राप्त होता है। इस तरह नैयायिक मान्यता से औद्धव मत में प्रत्यक्ष का भेद भी स्फुट हो जाता है।

कौस्तुभानन्द पाण्डे

संस्कृत विभाग
कुमाऊँ विश्वविद्यालय परिसर
अल्मोड़ा – २६३६०१
(उ. प्र.)

टिप्पणियाँ

१ मन्त्रादीनां श्रीहरेर्यद्गुरुशिष्यक्रमागतम्। सम्यक् प्रकर्षवद्दान सम्प्रदायः स उच्यते ॥ हरिजीवनदास, मानमेयप्रकाशिका, पृ. ५१४।

२. साक्षात्कारिप्रमाप्रत्यक्षम्, तत्करणं प्रत्यक्षप्रमाणम्। तदेव, पृ. १९।

३. वेंकटनाथ (वेदान्तदेशिक), न्यायपरिशुद्धिः, पृ. ६९।

४. न्यायसिध्दान्तमुक्तावली, पृ. १२८।

५. न्यायपरिशुध्दिटीका, पृ. ६९।

६. केशवमिश्र, तर्कभाषा, पृ. १।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७ प्रकरणपंचिका, पृ. १४६–१४७।

८. वरद विष्णुमिश्रैर्मानयाथात्म्यनिर्णये त्वेवमुक्तम् – अपरोक्षप्रमा, प्रत्यक्षम्, प्रमाया आपरोक्ष्यं नाम विशदावभासकत्वमिति ब्रूमः। किमिदं वैशद्यं नाम ? असाधारणाकारेण वस्त्वभासकत्वं इत्यादिति। मानमेय-प्रकाशिका, पृ. १९।

९. विशदः प्रत्यक्षम्। प्रमाणमीमांसा, पृ. २४।

१०. केशवमिश्र, तर्कभाषा, पृ. ५९।

११. मानमेयप्रकाशिका, पृ. १९–२०।

१२. सप्रत्यवमर्शं प्रत्यक्षं सविकल्पकम्, तद्रहितं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्। अदृष्टपूर्वं पिण्डविशेषं गवादिकं पश्यतः "अयमीदृशः कोऽपि पशु" रिती भवति प्रत्यवमर्शरहितं प्रत्यक्षम्। मानमेयप्रकाशिका, पृ. २१।

१३. संस्कारोद्बोधनिरपेक्षेन्द्रियजं ज्ञानं निर्विकल्पकम् प्रत्यक्षमिति। तदेव, पृ. २२

१४. श्लोकवार्तिक, पृ. १६७.

१५. अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना, तया रहितम्। न्यायबिन्दुः पृ. ४७।

१६. सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥ – वाक्यपदीयम्। १२३।

१७. मानमेयप्रकाशिका, पृ. २०।

१८. सप्रत्यवर्शं प्रत्यक्षं सविकल्पकम्। मान प्र. पृ. २१।

१९. न्याय. प्र. पृ. ७५।

२०. मान. प्र. पृ. २२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२१. तथा चैतत् निष्कृष्टं लक्षणम् – संस्कारोद्बोधसहकृतेन्द्रियजं ज्ञानं सविकल्पक प्रत्यक्षम्, संस्कारोद्बोधनिरपेक्षेन्द्रियजं ज्ञानं निर्विकल्पकं प्रत्यक्षमिति । – तदेव, पृ, २२

२२. मान प्र. पृ. २३ ।

२३. ज्ञान ज्ञाताऽहमर्थ आत्मा च स्वयं प्रकाशेते इति न तस्य मन:सापेक्ष-प्रत्यक्षविषयता तस्माच्चक्षुषो रूपादिकमेव मनसो न कश्चिदसा-धारणोऽर्थः । तदेव, पृ. २४ ।

२४. तत्र स्मृतिकरणमिन्द्रियं मनः – तदेव, पृ. १५४ ।

२५. तदेव, पृ. २३ ।

२६. तदेव, पृ. २३ ।

२७. यतीन्द्रमतदीपिका, प्रकाशटीका, पृ. ६ ।

२८. न्यायपरिशुद्धिः, पृ. ७० ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्तिवाची संज्ञायें और उनके अर्थ

न्यायमतानुसार पदों के विभाग को यदि ध्यान में रखा जाय तो पद तीन प्रकार के स्वीकृत हैं...प्रकृति, प्रत्यय और निपात। इनमें से प्रकृति भी दो प्रकार की है...नाम और धातु। पुन: नाम के भी कई विभाग किये गये हैं, जैसे ...संज्ञा, लक्षक, योगरूढ़ और यौगिक। संज्ञा के अन्तर्गत नैमित्तिक, पारिभाषिक और औपाधिक पद आते हैं। इस तरह से 'नाम' शब्द के व्दारा नैयायिक एक व्यापक शब्द–भण्डार का निर्देश करते हैं, जिनमें धातु और प्रत्यय छोड़ कर प्राय: सभी शब्द आ जाते हैं जैसे...समस्तादि।

सामान्यतया सार्थक शब्द एक विशेष अर्थ का ही प्रतिपादक होता है जैसे ...'गो' शब्द सास्नादियुक्त पशु-विशेष का स्मारक होता है, अश्व महिषादि का उपस्थापक नहीं होता है। पदार्थ स्मरण का नियम है कि...' एक सम्बन्धि-ज्ञानमपरसम्बन्धि स्मारकम्' अर्थात् दो वस्तुओं में परस्पर सम्बन्ध ज्ञात होने से एक के ज्ञान से दूसरे का भी स्मरण हो जाता है। अत: शब्द के श्रवण से अर्थ का स्मरण होता है। शब्द असम्बध्द अर्थ का प्रतिपादक नहीं होता है। अन्यथा किसी भी शब्द के साथ किसी भी अर्थ का स्मरण हो कर शाब्दबोध होने लगता। किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतएव नियत शब्द, किसी सम्बन्ध-विशेष के व्दारा नियन्त्रित होकर, नियत अर्थ का ही स्मारक होता है। शब्द और उसके अर्थ में शाब्दबोध के अनुकूल इस प्रकार के सम्बन्ध को वृत्ति कहते हैं। अन्यथा घट शब्द के श्रवण से आकाश का भी बोध हो सकता है, क्योंकि 'घट' पद, शब्द होने के कारण आकाश में समवाय सम्बन्ध से रहता है; अतएव 'घट' पद के श्रवण से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आकाश का बोध हो जायेगा। परन्तु शब्द और अर्थ में 'वृत्ति' सम्बन्ध स्वीकारने से ऐसा नहीं हो सकता है, क्योंकि तब घट पद वृत्त्यधीन हो कर घट पदार्थ का ही स्मारक होगा, आकाश का नहीं।

वृत्ति, शक्ति और लक्षणा भेद से द्विविध स्वीकृत है। जो पद जिस अर्थ-ज्ञापन की सामर्थ्य रखता है, वह पद उस अर्थ में शक्तिमत् होता है। नैयायिक मत में संकेत को ही शक्ति कहते हैं। 'अस्मात् पदात् अयमर्थो बोद्धव्यः' अर्थात् इस पद से इस अर्थ का बोध हो, इस प्रकार की इच्छा को न्याय मत में शक्ति या संकेत कहते हैं। अथवा 'इदं पदमियमर्थं बोधयतु' अर्थात् यह पद इस अर्थ का बोधक हो इस प्रकार की इच्छा भी शक्ति या संकेत रूप में स्वीकृत है। मूल बात यह है कि न्याय मत में ईश्वर को अनादि इच्छा शक्ति कही जाती है। 'गो' 'घट' इत्यादि पद कब से प्रयुक्त हो रहे हैं, इसका निर्धारण करना संभव नहीं है। अतः ये सभी शब्द और उनसे जनित बोध अनादि कहे जाते हैं। लेकिन इसके विपरीत कुछ शब्द ऐसे हैं जो 'सादि' कहे जाते हैं, जैसे – पिता के द्वारा पुत्र का नामकरण राम, श्याम इत्यादि करना। इस तरह के सभी व्यक्तिवाचक पदों में आधुनिक संकेत को ही शक्ति कहा जाता है। लेकिन यह प्रश्न विवादास्पद है जिसे हम बाद में उठायेंगे।

ऊपर लिखित तीन प्रकार की संज्ञाओं में नैमित्तिक पदों की व्याख्या अथवा अर्थ-निर्णय करने से न्याय दार्शनिकों ने कोई त्रुटि नहीं की है। 'व्यक्त्या-कृतिजातयस्तु पदार्थः' (न्यायसूत्रः–२/२/६८) कह कर न्याय सूत्रकार ने निश्चित हो कर दिया है कि नैमित्तिक पदों का अर्थ जाति, आकृति और व्यक्ति में निहित है। मोटे तौर पर अनुगमक धर्म को ही जाति कहा जाता है। जैसे – गोत्वादि धर्म गो इत्यादि पद के द्वारा उपस्थित पदार्थ में विशेषण रूप से गोचर होता है। क्योंकि नियम है कि 'नागृहीतं विशेषणं विशेष्ये उपसंक्रामते', अर्थात् विशेषण अज्ञात रहने से विशेष्य भी विशिष्ट बुद्धि का विषय नहीं हो सकता है। 'गो' शब्द उच्चारण करने से सकल 'गो' पशु का बोध गोत्व रूप से होता है, जो 'गो' का अनुगमक धर्म है। लेकिन 'गोत्व' के द्वारा 'अ – गो' की व्यावृत्ति भी होती है, अतएव 'गोत्व' एक ओर जहां अनुगमक धर्म है वहीं दूसरी ओर व्यावर्तक धर्म भी है। जो धर्म अनेक वस्तुओं को अनुगत रूप से एकत्रित करता है उसे अनुगमक धर्म, एवं जो धर्म अन्य वस्तुओं से भिन्न रूप से व्यावर्तन करता है उसे व्यावर्तक धर्म कहते हैं। उदाहरण के लिये प्रमेयत्व, वाच्यत्व केवल अनुगमक धर्म ही होते हैं। दूसरी ओर आकाशत्व धर्म सिर्फ व्यावर्तक धर्म है क्योंकि आकाश एक होने से उसका अनुगम संभव नहीं है। किन्तु आकाशत्व धर्म आकाशेतर पदार्थ से आकाश को सिर्फ व्यावृत्ति करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी प्रकार 'गो' शब्द का उच्चारण करने से गवाकृति भी शाब्द बुद्धि का विषय होती है, अतः न्यायमत में आकृति भी पदार्थ है। लेकिन आकृति के स्वरूप को लेकर दार्शनिकों में मतभेद है। तथापि प्रस्तुत सन्दर्भ में उसकी चर्चा अनावश्यक है। यद्यपि आकृति शाब्द-बुद्धि का विषय होती है, तथापि जाति को ही पदार्थतावच्छेदक या शक्यतावच्छेदक माना जाता है। क्योंकि आकृति का अर्थ है अवयव-विशेष अथवा अवयव-सम्बध-विशेष। 'गो' पशु के सिर, पूंछ, सास्ना प्रभृति का परस्पर सम्बन्ध-विशेष ही आकृति है। इस तरह से आकृति, प्रति गो-भेद से भिन्न होने के कारण अनुगमक धर्म नहीं हो सकती। अतएव नैमित्तिक पदों के स्थल में, यथा 'गो' इत्यादि पद के श्रवण से गोत्वादि विशिष्ट गो आदि पदार्थ का ही होता है – ऐसा स्वीकृत है।

लेकिन जहाँ जाति उपलब्ध नहीं होती ऐसे पाचक, पाठक इत्यादि औपाधिक पदों के स्थल में किस प्रकार से पदार्थ का निर्णय किया जाय? यहां पाचकत्वादि जाति न होने के कारण "पाचक पद के श्रवण के पश्चात् किस प्रकार अर्थ-बोध होगा? इसके समाधान के लिये न्यायसूत्र-वृत्तिकार के अनुसार 'जाति' पद का अर्थ यदि 'धर्म' लिया जाय तो औपाधिक पदों का भी अर्थ-निर्णय करने में कोई कठिनाई नहीं होगी। यथा 'जाति पदं वा धर्मपरम्' (२.२.६६)।

अब प्रश्न उठता है कि पारिभाषिक पदों के स्थल में यह अर्थ-निर्णय कैसे किया जायगा? यथा – चैत्र, मैत्र, आकाश, डित्थ इत्यादि। पारिभाषिक पद एक-व्यक्ति-मात्र वृत्ति होने के कारण, उसका धर्म अनेकानुगत नहीं हो सकता है, जैसे – आकाशगत शब्दाश्रयत्व-रूप आकाश, काष्ठमय हस्ती-रूप डित्थ पदार्थ का डित्थत्व इत्यादि। ये सभी एकमात्र -पदार्थ-वृत्ति होने के कारण इनका धर्म 'अनेकानुगत' नहीं हो सकता है। फलस्वरूप इनका अर्थ-निर्णय कैसे किया जायेगा? यह एक विवाद का विषय है जिसकी चर्चा आगे की जायेगी। 'पारिभाषिक पद' कहने से प्रस्तुत सन्दर्भ में व्यक्तिवाची पद को ही ग्रहण करेंगे। श्री जगदीश तर्कालंकार अपने ग्रन्थ शब्द शक्ति प्रकाशिका में पारिभाषिक पदों का लक्षण इस प्रकार करते हैं –

उभयावृत्तिधर्मेण संज्ञा स्यात् पारिभाषिकी। – कारिका २२

पारिभाषिक पदों को यदृच्छा पद भी कुछ हद तक कहा जा सकता है क्योंकि 'स्वेच्छया व्यवहारार्थो यः संकेतः सः यदृच्छा' ऐसा कहा जाता है, जैसे– पिता ने अपने पुत्र का नामकरण राम किया। पिता के द्वारा पुत्र का नामकरण अपनी सुविधा और व्यवहार के लिए किया गया है। पिता अपने पुत्र का नाम राम न रख कर अन्य कुछ भी रख सकता था। पर एकबार जब यह निश्चित हो गया कि इस व्यक्ति-विशेष को राम नाम से ही जाना जाय तो इसमें अब दो मत नहीं हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकते कि इस व्यक्ति–विशेष का अन्य कोई नाम हो। नामकरण के पूर्व तक पिता स्वतंत्र था कि पुत्र का जो चाहे नाम रख सकता था पर नामकरण के पश्चात् पिता की यह स्वतंत्रता कुछ सीमा तक समाप्त हो गई। अब इस व्यक्ति-विशेष को 'राम' पद से बुलाया जायेगा, अन्य किसी नाम से नहीं, यद्यपि इस विषय को लेकर नैयायिकों और वैयाकरणों में प्रबल मतभेद भी है। नैयायिक कहीं–कहीं 'राम' पद के द्वारा बोधित पदार्थ में "रामत्व" जाति भी स्वीकार करते हैं, पर वैयाकरण इसे जाति नहीं मानते हैं। वैयाकरणों और नैयायिकों के मतों की चर्चा भी आगे की जायेगी।

इस प्रसंग में एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न का बारीकी से उत्तर देना अनिवार्य है, और वह यह है कि कोई शब्द किसी विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त क्यों किया जाता है? निश्चय ही उसका कुछ निमित्त या प्रयोजक होता है जिसे उस विशेष पद के व्यवहार का निमित्त कहा जाता है। बिना प्रवृत्तिनिमित्त को जाने शब्दों का अर्थ-निर्णय भी नहीं किया जा सकता है। साधारणत: शब्द को प्रवृत्ति का निमित्त या प्रयोजक उसका धर्म कहा जाता है। जैसे – 'घट' पद का प्रयोग केवल घट पदार्थ के लिए ही होता है, क्योंकि 'घट' पद का प्रवृत्तिनिमित्त 'घटत्व' है। यदि 'घट' पद का प्रवृत्तिनिमित्त 'द्रव्यत्व' होता तो 'घट' पद का प्रयोग सभी द्रव्यों के लिये हो जाता, पर वैसा होता नहीं है। 'घट' पद के द्वारा घट पदार्थ का ही बोध होता है। अतएवट घट पद का प्रवृत्तिनिमित्त घटत्व ही होगा।

यहां यह बात भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि किसी पद के द्वारा जिस पदार्थ का बोध होता है अथवा पद की शक्ति जिस पदार्थ में होती है उसे 'शक्य' कहा जाता है, तथा जिस निमित्त के कारण उस पदार्थ में हमारी प्रवृत्ति होती है उसे 'शक्यतावच्छेदक' कहा जाता है तथा न्याय का पारिभाषिक शब्द इसके लिए प्रवृत्तिनिमित्त है।

प्रवृत्तिनिमित्त के असली स्वरूप को समझने के लिये वर्धमान उपाध्याय के द्वारा दिये गये प्रवृत्तिनिमित्त के लक्षण को ध्यान में रखा जाना चाहिये। उनके अनुसार प्रवृत्तिनिमित्त का लक्षण है –

शक्यत्वे शक्यवृत्तित्वे स्वाभिन्नशक्यानधिकरणत्वं।

– गुणकिरणावलीप्रकाश (पृ: ३३१)

वर्धमान उपाध्याय के इस लक्षण को ध्यान में रखते हुए गदाधर ने प्रवृत्ति निमित्त का लक्षण कुछ इस प्रकार से किया है –

वाच्यत्वे सति वाच्यवृत्तित्वे सति वाच्योपस्थितिप्रकारकत्वम्।

– शक्तिवाद (पृ: ४१)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् क, ख का प्रवृत्तिनिमित्त तभी हो सकता है जब (१) क, ख के अर्थ का एक अंश हो (२) क, ख को विशेषित भी करता हो और (३) जब हमें 'ख' का स्मरण होता है तो 'क' उसमें प्रकार रूप से उपस्थित भी होता हो। जैसे घटत्व, 'घट' पद का प्रवृत्तिनिमित्त है, क्योंकि घटत्व 'घट' पद का वाच्य भी है और 'घट' पद के द्वारा उपस्थित पदार्थ में प्रकार भी है।

उपर्युक्त लक्षण में यदि 'वाच्यत्वे सति' अंश को न दिया जाय तो प्राचीन मतानुसार 'आकाशत्व' में अतिव्याप्ति हो जायेगी। लेकिन 'आकाशत्व' यानी शब्दाश्रयत्व जाति न होने के कारण वाच्य नहीं है। अतएव इस अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए 'वाच्यत्वे सति' लक्षण में दिया गया है। नवीन मतानुसार 'घट' पद के द्वारा जैसे 'घटत्व उपस्थित होता है वैसे ही 'द्रव्यत्व' भी उपस्थित होता है। यदि 'वाच्यत्वे सति' विशेषण नहीं दिया गया तो 'घट' पद के द्वारा 'द्रव्यत्व' भी उपस्थित हो जायेगा, फलतः 'द्रव्यत्व' भी 'घट' पद का प्रवृत्ति निमित्तक हो जायेगा और 'घट' पद के द्वारा समस्त द्रव्य पदार्थ उपस्थित हो जायेगें। लेकिन उपर्युक्त अंश देने से 'घट' पद के द्वारा घटत्व ही उपस्थित होगा, क्योंकि वह 'घट' पद का वाच्य है, 'द्रव्यत्व 'घट' पद का वाच्य न होने के कारण उपस्थित नहीं होगा, अतएव अतिव्याप्ति भी नहीं होगी।

प्रवृत्तिनिमित्त के लक्षण में 'वाच्य वृत्तित्वे सति' अंश न देने से प्रवृत्ति निमित्त का लक्षण आकृति में भी अतिव्याप्त हो जायेगा। आकृति का अर्थ है अवयव-संस्थान-विशेष। 'जात्याकृतिविशिष्टवाचकता' मत में आकृति भी वाच्य है और वाच्य की उपस्थिति में प्रकार भी है। उदाहरण के लिये 'घट' पद के द्वारा उपस्थित घटाकृति भी वाच्य हो जायेगी क्योंकि जो लोग आकृति-व्यंग्या जाति मानते हैं उनके मत से आकृति के द्वारा जाति अभिव्यक्त होती है। अतः 'वाच्यवृत्तित्व' न देने से आकृति भी वाच्य होगी, और वाच्य (घटत्व) की उपस्थिति प्रकार होगी। लेकिन 'वाच्यवृत्तित्व' अंश देने से उसकी निवृत्ति हो जायेगी क्योंकि आकृति (अवयव संयोग) में व्यक्ति (अवयवी) रहता है तथा व्यक्ति में जाति रहती है। पर आकृति तो वाच्यवृत्ति नहीं है। वृत्ति का अर्थ है साक्षात् सम्बन्ध से होना। आकृति = अवयव संयोग, तो अवयव में रहता है; घट (अवयवी) में तो संयोग नहीं है, अतः 'वाच्यवृत्तित्व' न होने के कारण आकृति में अतिव्याप्ति नहीं होगी। अवयवसंयोग तो कपाल में रहता है।

'वाच्योपस्थिति प्रकारक' यह अंश यदि लक्षण में नहीं दिया गया तो 'दधि' इत्यादि स्थल में अतिव्याप्ति हो जायेगी। क्योंकि 'दधि' पद के द्वारा दधि (पदार्थ) उपस्थित होता है जो वाच्य भी है। दधि के अवयव भी वाच्य हैं जो कि खुद दधि हैं, वे वाच्य दधि में वृत्ति भी हैं। अवयव दधि में ही रहते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं. अतः 'दधि' पद का प्रवृत्तिनिमित्त भी हो जायेगा, जिसका वारण करने के लिये 'वाच्योपस्थिति प्रकारक' अंश दिया गया है। 'दधि' दधि पद के द्वारा उपस्थित पदार्थ में प्रकार रूप से भासमान नहीं होता है। प्रकार तो दधित्व ही होता है।

प्रवृत्तिनिमित्त का यह लक्षण पदार्थबोध और पदार्थनिर्णय दोनों को ही प्रस्तुत करने में सहायक सिद्ध होता है। अर्थ की दृष्टि से यह वस्तु के ही अन्तर्गत होता है और ज्ञान की दृष्टि से यह वस्तुज्ञान के प्रकार के रूप से भासमान होता है। जैसे -- 'गोत्व' गो-पद का अर्थ भी है तथा 'गो-पद' के द्वारा उपस्थित 'गो' पदार्थ का प्रकार भी है। अर्थात् ज्ञानीय प्रकारता भी उसमें है। गदाधर के उपर्युक्त प्रवृत्तिनिमित्त के लक्षण से एक बात स्पष्ट रूप से उभर कर आती है कि प्रवृत्तिनिमित्त एकमात्र जाति ही हो सकता है। चूंकि नैमित्तिक पद ही जाति-विशिष्ट होते हैं इसलिए नैमित्तिक पदों के ही स्थल में प्रवृत्तिनिमित्त सुलभ हो सकता है। औपाधिक और पारिभाषिक पद जातिविशिष्ट न होने के कारण वहां प्रवृत्तिनिमित्त उपलब्ध नहीं हो सकेगा। (तो ऐसे पदों का प्रयोग क्या होता ही नहीं हैं?)

दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि इसलिए उक्त प्रवृत्तिनिमित्त के लक्षण से प्रथम अंश को निकाल देते हैं। अर्थात् प्रवृत्तिनिमित्त के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह पद द्वारा उपस्थित पदार्थ का एक अंश हो। प्रवृत्तिनिमित्त का जाति होना भी अनिवार्य नहीं है। प्रवृत्तिनिमित्त तो एक धर्म (जाति या उपलक्षण) है जो किसी विशेष अर्थ को ग्रहण करने में सहायक सिद्ध होता है। जैसे -- 'गोत्व' गो-पद का प्रवृत्तिनिमित्त अवश्य है पर 'गो' पदार्थ का अनिवार्य अंश नहीं है, क्योंकि यदि उसे अनिवार्य अंश माना जाता तो 'आकाश' पद के द्वारा उपस्थित शब्दाश्रयत्व भी आकाश पदार्थ का अनिवार्य अंश हो जाता, जबकि वह होता नहीं है। क्योंकि 'आकाश' पद से सर्वदा ही शब्दाश्रयत्व रूप से आकाश पदार्थ उपस्थित नहीं होता है। कभी शब्दाश्रयत्व रूप से, कभी अष्टद्रव्यातिरिक्त-द्रव्यत्व रूप से, कभी अन्य किसी प्रकार से उपस्थित होता है। रघुनाथ शिरोमणि के कहने का तात्पर्य है कि प्रवृत्तिनिमित्त अनिवार्य रूप से जाति ही हो, ऐसा नहीं कह सकते हैं। अन्यथा आकाशादि पद के द्वारा पदार्थ स्मरण ही नहीं हो सकेगा। और यदि ऐसा मान लिया जाय कि 'आकाश' पद के द्वारा शब्दाश्रयत्व रूप से आकाश पदार्थ उपस्थित हो सकता है (जो उपलक्षण है, जाति नहीं है) तो 'गो' पद के द्वारा भी गोत्व रूप से गो-पदार्थ उपस्थित हो सकता है। 'शब्दाश्रयत्व' और 'गोत्व' दोनों ही वाच्य नहीं है, पर उन्हें वाच्यतावच्छेदक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये, क्योंकि अन्यथा 'गो' पद के द्वारा उपस्थित पदार्थ में 'द्रव्यत्व' भी वाच्यतावच्छेदक रूप से भासमान होने लगेगा।

II

अब इस अनुच्छेद में वैयाकरणों के मत का उल्लेख करना भी प्रासंगिक होगा। यास्क ने प्राचीन परम्परा के अनुसार अपना तथा समस्त निरुक्तकारों का मत दिया है कि सारे नाम धातुज होते हैं।

सर्वाणि आख्यातजानि नामानि स्युः।

(निरुक्त १. १२)

यास्क ने उणादि सूत्रों के रचयिता शाकटायन का भी उल्लेख किया है कि वह भी इसी मत के पोषक हैं। यास्क के कथन का अभिप्राय है कि किसी भी वस्तु को दिये जाने वाले किसी भी नाम का आधार कोई क्रिया होती है। वस्तुगत किसी क्रिया–विशेष को देख कर प्रारम्भ में तदनुरूप नाम रख लिया जाता है। यथा गतिशीलता के आधार पर पृथिवी के लिये 'गो' शब्द प्रचलित हो गया। व्यापकता के आधार पर 'पृथ्वी' नाम पड़ा। मननशीलता के कारण 'मनुष्य' नाम पड़ा। इसी तरह चलने के कारण 'अश्व' नाम पड़ा और छेदनशीलता के कारण 'तृण'।

यास्क ने गार्ग्य और अन्य वैयाकरणों के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वे समस्त नामों को धातुज नहीं मानते हैं। जिनकी सिद्धि व्याकरण के नियमानुसार प्रकृति और प्रत्यय से हो सके, वे ही धातुज होते हैं। जिनकी सिद्धि व्याकरण के नियमानुसार नहीं हो सकती है ऐसे अन्य शब्द अव्युत्पन्न और परम्परागत ही हैं। यथा 'गो, अश्व, पुरुष, हस्ती' आदि। पतंजलि ने 'उणादयो बहुलम्' (३.३.१) की व्याख्या करते हुए संज्ञाओं के धातुज होने का समर्थन किया है। लेकिन यास्क यह आपत्ति भी उठाते हैं कि यदि नामों को इस प्रकार धातुज ही माना जायेगा, तो जो भी उस कार्य का करेगा उसी का वह नाम पड़ जायेगा। यथा मार्ग पर चलने से 'अश्व' नाम पड़ा है, तो जो भी मनुष्य या पशु मार्ग पर चलते हैं, उन्हें भी अश्व कहा जाना चाहिये। इसके अलावा एक वस्तु का जितनी क्रियाओं से सम्बन्ध होगा, उतने ही उसके नाम होने चाहिये। यथा खंभे का 'दरशया' और 'आसंजनी' भी नाम पड़ना चाहिये, क्योंकि वह गड्ढे में रखा जाता है और वल्ली को आश्रय देता है। परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता कि एक वस्तु के उसके कर्मानुरूप सारे नाम पड़ते हों।

यास्क ने (१.१०) में इन सभी आक्षेपों का उत्तर दिया है। प्रथमतः लोकव्यवहार में देखा गया है कि समान कर्म करने वालों में से किसी एक को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह नाम दिया जाता है, अन्य को नहीं। यथा प्रत्येक तक्षण क्रिया करने वाले को तक्षा (बढ़ई), तथा प्रत्येक घूमने वाले को परिव्राजक नहीं कहा जाता है। नाम और उसकी बोधकता आदि के विषय में लोक–व्यवहार ही सबसे प्रमुख है। नाम किस क्रिया के आधार पर पड़ेगा, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। पर एकबार नाम पड़ने पर फिर उनकी संदिग्धता होने पर भी वही नाम बने रहते हैं। इस तरह से प्रारम्भ में नाम अपने यौगिक अर्थ से पड़ते हैं, परन्तु पश्चात् वह योगरूढ़ हो जाते हैं।

पतञ्जलि ने नामकरण के महत्त्व पर लिखा है कि किसी वस्तु के नाम डालने के मूल में मुख्य भावना लाघव है। संक्षिप्त और सरलतम उपाय से उस वस्तु का ज्ञान हो सके, अत: प्रत्येक वस्तु को नाम दिया जाता है।

लघ्वर्थं हि सञ्ज्ञाकरणम्। संज्ञा च
नाम यतो न लघीय:।

— महाभाष्य १.२.२२

कैयट इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि — यद्यपि शब्द की शक्ति अनन्त है, वह सर्वार्थबोधक है, तथापि जब एक शब्द विशिष्ट अर्थ में व्यवहार के लिये नियन्त्रित कर दिया जाता है, तब वह उस अर्थ का बोध कराता है, अन्य का नहीं।

सर्वार्थाभिधानशक्तियुक्त: शब्दो यदाविशिष्टेऽर्थे संव्यवहाराय नियम्यते तदा तत्रैव प्रतीतिं जनयति नान्यत्र।

— महाभाष्य प्रदीप १.२.२२

एक प्रमुख वैयाकरण नागेश लिखते हैं कि रूढ़ि शब्दों में क्रिया का निर्देश केवल उसकी व्युत्पत्ति के ज्ञान के लिये होता है। जैसे — 'गच्छतीति गौ:' वस्तुत: उसका अर्थ रूढ़ि संज्ञा हो जाने के कारण समाप्तप्राय हो जाता है, अतएव गमन क्रिया के अभाव में भी उसे 'गौ' कहते हैं, और अन्य वस्तुयें जो गमन करती हैं उन्हे 'गौ' नहीं कहते हैं।

रूढ़िशब्देषु क्रिया केवलं व्युत्पत्त्यर्थमाश्रीयते—गच्छतीति गौरिति।
तेन गमनक्रियारहितोऽपि गौर्भवति, गोपिण्डाच्चान्योऽर्थो गमनविशिष्टोऽपि गौर्नभवति।

—महाभाष्यप्रदीपोद्योत ३ २ ५६

किसी गुण या भाव के आधार पर एक बार नाम यदि पड़ भी जाता है, तो फिर उसके प्रयोग से सूक्ष्मार्थ पर ध्यान नहीं दिया जाता है। नाम इस प्रकार से वस्तु के संकेत–शब्द होते हैं। वस्तु की अपेक्षा नाम बहुत सूक्ष्म होते हैं, अत: वे वस्तु के उतने ही स्वरूप का संग्रह करते हैं जितना कि एक शब्द में संग्रह सम्भव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। नाम वस्तु के एक गुण को ले कर चलता है, और धीरे-धीरे संकेत-शब्द रह जाता है। कितने ही शब्द पहले नाना अर्थों के बोधक रहते हैं, परन्तु प्रसिद्धि के कारण उनके अर्थों में संकोच होने से कोई अर्थ शेष रह जाता है, अन्य अर्थ अप्रयुक्त हो जाता है। यथा 'धेनु' पद प्रत्येक दूध देने वाले पशु का वाचक था, परन्तु उसका अर्थ-संकोच होने के कारण गाय ही अर्थ शेष रह गया है। छत्र शब्द से पतंजलि ने छात्र शब्द की व्युत्पत्ति बतलाई, यह विद्यार्थी के अर्थ में रूढ़ हो गया है। गुरु छत्र है क्योंकि वह शिष्य को आच्छादित करता है, अर्थात् शिष्य के अज्ञान को दूर करता है, जिस प्रकार छत्र उष्णादि को दूर करता है।

गुरुणा शिष्यश्छत्रवत् छाद्यः। शिष्येण च गुरुश्छत्रवत् परिपाल्यः।

— महाभाष्य ४/४/६२

कभी कभी शब्द अपने संकुचित अर्थ को छोड़ कर एक व्यापक अर्थ को ग्रहण करता है। जैसे – कैयट उदाहरण देते हैं कि 'प्रवीण' शब्द का अर्थ 'प्रकृष्टो वीणायाम्' है, परन्तु यह शब्द अपने संकुचित अर्थ वीणावादन की विशेषता को छोड़ कर किसी भी कृत्य में कौशल के लिये प्रयुक्त होने लगा। अपने मुख्यार्थ का विस्तार हो जाने से वीणा-वादन में ही चतुर के लिए 'वीणायां' प्रवीणः' यह प्रयोग नहीं होता है, क्योंकि 'प्रवीण' शब्द वीणा में प्रवीणता का नियमित रूप से बोध नहीं कराता है।

'कौशलं त्वस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्। तेन वीणायां प्रवीण इत्यापि भवति।

— महाभाष्य प्रदीप ५ २.२९

भर्तृहरि ने अर्थ का ग्रहण अनुभव और ज्ञान के अधीन बतलाया है। वक्ता अपनी भावना के अनुसार एक शब्द का एक अर्थ में प्रयोग करता है, परन्तु भिन्न भिन्न श्रोता अपने ज्ञान के अनुसार उसका पृथक् पृथक् अर्थ समझते हैं।

वक्त्रान्यैव प्रक्रान्तो भिन्नेषु प्रतिपत्तृषु।
स्वप्रत्ययानुकारेण शब्दार्थः प्रविभज्यते॥

वाक्यपदीय २/१३७

व्यक्तियों का अनुभव समयानुसार परिवर्तित होता रहता है, और इसके फलस्वरूप वही व्यक्ति, जो एक वस्तु कुछ काल पूर्व दूसरे नाप में देखता या समझता था, उसी को कालान्तर में अन्य रूप में देखता और समझता है।

एकस्मिन्नपि दृश्येऽर्थे दर्शनं भिद्यते पृथक्।
कालान्तरेण वेकोऽपि तं पश्यत्यन्यथा पुनः॥

वाक्यपदीय २/१२८

ऊपर की समस्त आलोचना का निचोड़ साहित्यदर्पणकार के शब्दों में यही है कि शब्दों की व्युत्पत्ति का आधार कुछ होता है और प्रवृत्ति का कुछ अन्य।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् यह जरूरी नहीं है कि शब्द के व्युत्पत्तिगत अर्थ के आधार पर ही प्रवृत्ति हो। जैसे–'गो' शब्द की व्युत्पत्ति का निमित्त गमनकर्तृता है, परन्तु उसके संकेतग्रह में कारण रूप है गोत्व जाति, जिसके आधार पर प्रवृत्ति होती है।

अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्चप्रवृत्तिनिमित्तम्।

– साहित्यदर्पण २/५ (पृ. ३१)

नागेश लघुमंजूषा में लिखते हैं कि प्रवृत्ति प्रचलित अर्थ को लेकर चलती है, जैसे – व्याघ्र, मणि, नुपूर, मण्डप आदि शब्द रूढ हैं, इनमें व्युत्पत्त्यर्थ का बोध नहीं होता है, क्योंकि व्युत्पत्यर्थ की अपेक्षा लोकव्यवहार प्रबल होता है। जैसे – 'मातृ' शब्द के दो अर्थ हैं – माता और तोलनेवाला। परन्तु प्रसिद्ध के आधार पर अर्थ–संकोच हो जाने से माता का अर्थ जननी ही लिया जाता है; तोलनेवाला नहीं।

अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी।

– परिभाषेन्दु शेखर (परिभाषा १०७)

उपर्युक्त संदर्भ में यहां यह भी देख लेना अनिवार्य है कि वैयाकरणों के मत में प्रवृत्तिनिमित्त का क्या तात्पर्य है? प्रवृत्तिनिमित्त का अर्थ पहले ही कहा जा चुका है कि जो प्रवृत्ति का प्रयोजक कारण हो'। पतंजलि कहते हैं –

चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः जातिशब्दाः,
गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाः, यदृच्छा शब्दाश्चतुर्था।

– महाभाष्य १.१.१

अर्थात् शब्द की प्रवृत्ति चार प्रकार से होती है – जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा। इसी प्रवृत्ति का निमित्त भी चार प्रकार का है। नागेश लिखते हैं –

शब्दानामर्थे या प्रवृत्तिः सा प्रवृत्तिनिमित्तभेदा त्प्रकारचतुष्टयवतीत्यर्थः।

लेकिन इन चार प्रकार के शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त कैसे प्राप्त हो? इसके उत्तर में कहते हैं––शब्द के उत्तर में 'त्व' या 'तल्' प्रत्यय लगा कर प्रवृत्तिनिमित्त प्राप्त हो जाता है। पाणिनि सूत्र 'तस्य भावस्त्वतलौ। (५/१/११९) में इसी बात की पुष्टि होती है। अर्थात् शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त उसका भाव है जो 'त्व' और 'तल' प्रत्यय के द्वारा अभिव्यक्त होता। जैसे-अश्वस्य भावः अश्वत्वम्, अश्वत्ता। इस तरह से चार प्रकार के प्रवृत्तिनिमित्त क्रमशः अश्वत्व (जाति), शुक्लत्व (गुण), पाचकत्व (क्रिया) और डित्थत्व (यदृच्छा) प्राप्त होंगे। लेकिन इनमें से मात्र अश्वत्व को छोड़ कर कोई भी जाति-रूप नहीं है। वैयाकरणों का ऐसा कोई पूर्वाग्रह भी नहीं है कि प्रवृत्तिनिमित्त जाति का ही होना चाहिये (यद्यपि पारमार्थिक दृष्टि से सत्ता जाति में ही सबका अवसान होता है, जिसकी चर्चा हमें अभीष्ट नहीं है) ऐसा कहने से यदृच्छा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(एकमात्र वृत्ति) का प्रवृत्तिनिमित्त मिलने में कोई दिक्कत नहीं होगी, क्योंकि तब प्रवृत्तिनिमित्त का अर्थ जाति भी नहीं है, अनेकानुगत धर्म भी नहीं है –वरन् धर्म मात्र ही है, जो कि भाव–स्वरूप है। अर्थात् भाव प्रदर्शित करने के लिये जहां भी 'त्व' या 'तल्' प्रत्यय लगाया जाय, वही प्रवृत्तिनिमित्त होगा, यहां तक कि सम्बन्ध में भाव की अपेक्षा से प्रवृत्तिनिमित्त होगा। जैसे स्वामिभाव सम्बन्ध से राजपुरुषत्व, क्रियाकारकभाव सम्बन्ध से पाचकत्व, अपत्यापत्यी भाव सम्बन्ध से औपगवत्व में प्रवृत्तिनिमित्त स्वीकारना चाहिये। पदमंजरीकार हरदत्त लिखते हैं –

समासकृत्तद्धितेषु यद्यपि केवलं सम्बन्धं नाभिदधति तथापि सम्बन्धि-निवर्तमाना: सम्बन्धं प्रवृत्तिनिमित्तमपेक्षन्त इति तेभ्य: सम्बन्धे भावप्रत्यय:। तथा च राजपुरुषत्वमिति स्वस्वामिभाव: सम्बन्ध: प्रतीयते, पाचकत्वमिति क्रियाकारक सम्बन्ध: औपगवत्वमित्यादावपत्यापत्यिसम्बन्ध:।

– पदमंजरी ५/१/११६ पाणिनि सूत्र

कहा भी गया है –

'जातिगुणाज्जातिगुणे समासकृत्तद्धिताच्च सम्बन्धे डित्थादे: स्वे रूपे धवखदिराज्जातिसंघाते'

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रवृत्ति का प्रयोजक जाति का होना अनिवार्य नहीं है, जाति, गुण, सम्बन्ध, डित्थ (स्व स्वरूप) जाति संघात (धवखदिरत्व) कुछ भी हो सकता है, यद्यपि प्रकृत सन्दर्भ में हमारी आलोचना का केन्द्र व्यक्तिवाची संज्ञा (यदृच्छा) पद ही हैं।

यदृच्छा शब्द का अर्थ पहले ही कहा जा चुका है कि जो स्वेच्छा से व्यवहार के लिए प्रयुक्त किया जाय। संज्ञा शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त के विषय में भाष्यकार ने यह माना है कि प्राथमिक कल्प के संज्ञा के गुण और क्रिया ही शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त होंगे।

कश्चित् प्रथमकल्पिको डित्थो डाम्भिदृश्चेतित्तेन
कृतां क्रियां गुणं वा य: कश्चित् करोति स
उच्यते — "डित्थत्वं व एतत्, डाम्भिदृत्वं त एतत्।
एवं डित्था कुर्वन्ति, एवं डाम्भिदृटा कुर्वन्ति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यस्तर्हि प्राथमकल्पिको डित्थो डाम्भिट्टस्य, तस्य वर्त्यभावाद् वृत्तिर्न प्राप्नोति।

—महाभाष्य ५/१/११९

लेकिन प्राथमकल्पिक वृत्ति कैसे होगी, इस पर भाष्यकार ने विशेष प्रकाश नहीं डाला है, केवल यह कहा है कि जैसे उसका (संज्ञा शब्द का) प्रयोग होता है, वैसे किसी तरह उसमें वृत्ति भी हो जायेगी।

यथैव तस्य काथंचित्कः प्रयोगः, एवं वृत्तिरपि भविष्यति।

इस पर कैयट ने प्रवृत्तिनिमित्त के प्रश्न को दो तरह से सुलझाया है। उनके मत में शब्द के स्वरूप में अर्थ का अध्यास कर 'यह डित्थ है' ऐसा संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध करते हैं। शब्द स्वरूप के आसंग से डित्थ शब्द का जिस तरह डित्थ अर्थ में व्यवहार होता है, उसी तरह शब्दस्वरूप अर्थ में भावप्रत्यय होता है। दूसरा समाधान यह है कि डित्थादि संज्ञी में भी जाति रहती है। उत्पत्ति से लेकर अन्त तक कुमार, यौवन आदि अवस्था भेद से भिन्न भिन्न द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली जाति डित्थत्व, डित्थ में है ही, जिसके कारण बालक डित्थ को युवा अवस्था में देखने पर 'यह वही डित्थ है'—ऐसी प्रतीति होती है। वही जाति-शब्द संज्ञा शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है, उसी में प्रत्यय होता है; ऐसा मत कुछ नैयायिकों का भी है, जिसकी आलोचना आगे की जायेगी।

यदृच्छा शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त शब्दस्वरूप भी माना जाता है। कैयट लिखते हैं—

शब्दस्वरूपमर्थेऽध्यस्य 'अयं डित्थः' इति संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धः क्रियते। ततः शब्दस्वरूपासंगाद्यथा डित्थशब्दस्यार्थे प्रयोगस्तथैवं शब्दस्वरूपेऽर्थेऽध्यस्ते प्रत्यय इत्यर्थः। अन्ये तूत्पत्तिप्रभृत्या विनाशात्कौमाराद्यवस्थाभेदभिन्नद्रव्यसमवायिनीं जातिमिच्छन्ति। यद्दर्शनादवस्थान्तरेऽपि 'स एवायं डित्थः' इति प्रत्यभिज्ञाप्रत्यय उत्पद्यते तस्यां प्रत्ययः।

—महाभाष्यप्रदीप ५/१/११९

शब्द और अर्थ में अभेद मान कर संज्ञी के संज्ञास्वरूप में प्रत्यय का अध्यास होता है। किसी किसी के मत में संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध में प्रत्यय होता है। इस पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागेश कहते हैं कि 'डित्थ' संज्ञा में 'त्व' लगाने से 'डित्थत्व' अवश्य प्राप्त होता है. पर वास्तव में यदि देखा जाय तो डित्थ और डित्थत्व पर्याय शब्द हैं; क्योंकि डित्थत्व घटत्व की तरह जाति रूप प्रवृत्तिनिमित्त नहीं है, वरन् वह विशेष्यरूप में ही प्रवृत्तिनिमित्त है। 'त्व' का प्रयोग तो साधुत्व की कल्पना के लिये किया जाता है।

'तत्र घटत्वम्' इत्यादौ जात्यादिरूपं प्रवृत्तिनिमित्तं तदर्थः 'डित्थत्वम्' इत्यादौ त्वन्यासम्भवाद्विशेष्यभूतोऽर्थ एव त्वार्थः। एवञ्च डित्थडित्थत्वशब्दयोः पर्यायता। ईदृशस्थले एव प्रकृतिः शब्दपरा 'त्व'स्य साधुत्वाय कल्प्यते। एवञ्च 'कुत्वम्' इत्यादे कवर्ग इत्यादिरेवार्थः। किञ्चैष डित्थत्वम् इत्यादौ प्रकृतिप्रत्ययार्थयोर्भेदाभावः।

-- महाभाष्यप्रदीपोद्योत – ५/१/११९
(पृ० ३०२)

सर्वे शब्दाः स्वेन वाच्येन करणेन यस्मात्प्रवृत्ति निमिताद्भवन्ति वाच्यार्थ बोधनाय प्रयोग प्राप्नुवन्ति स प्रवृत्तिनिमित्त रूपोऽर्थस्तेषां शब्दानां भावः।

प्रवृत्ति निमित्तत्वं च स्वजन्य बोधीयमुख्यविशेष्यतानिरूपितविषयतावत्त्वम्।

-- महाभाष्यप्रदीपोद्योत – ५.१.११९ (पृ० ३०२)

भर्तृहरि के अनुसार संज्ञा शब्दों के प्रवृत्ति-निमित्त उनके स्वरूप हैं। कहीं तो उसमें अर्थ का सान्निध्य भी निमित्त रूप में रहता है और कभी कभी अर्थशून्य भी स्वरूप-निमित्त होता है। एकाक्षर संज्ञा हो या बडी संज्ञा हो, इस विषय में उनमें भेद नहीं है। शास्त्र में महती संज्ञा करने के कारण यह अनुमान होता है कि उनका शब्द-स्वरूप ही प्रवृत्तिनिमित्त है, और उनके अवयवों का प्रत्यायक है। यह अनुमान तीन रूपों में देखा जाता है: आवृत्ति के रूप में, शब्द-भेद के रूप में और शक्ति-भेद के रूप में। एक ही संज्ञा शब्द की दो बार आवृत्ति की जाती है। एक के द्वारा स्वरूप-निरूपित संज्ञी का ज्ञान होता है, और दूसरे के द्वारा अवयवार्थ निबन्धन ज्ञान होता है। सारूप्य के कारण आवृत्ति का अनुमान होता है अथवा दो बार शब्द का उच्चारण हुआ है इसी का अनुमान करते हैं। उनमें से एक से स्वरूप से आच्छादित संज्ञी का ज्ञान होता है, दूसरे से अवयवार्थ निबन्धन प्रतिपत्ति होती है, अथवा वही एक शब्द दो शक्तियों से उच्चरित हुआ है, ऐसा अनुमान कर लेते हैं। इनमें से एक से संज्ञी की प्रतिपत्ति होती है और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरे से अवयवार्थ की संगति होती है। भर्तृहरि तो यहां तक मानते हैं कि संज्ञा शब्द अनित्य सम्बन्ध वाले नहीं हैं। वैयाकरण शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को अनादि मानते हैं। यद्यपि शब्द प्रत्येक अर्थ को द्योतित करने में समर्थ होता है, परन्तु व्यवहार में किसी एक अर्थ के लिए ही निश्चित कर दिया जाता है।

"संज्ञाशब्दानां तु सर्वसंज्ञिप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वेऽपि विशिष्टे संज्ञिनि शक्त्यवच्छेदः सामायिकः।

—हेलाराज, वा. प. सम्बन्ध समुद्देश (२८)

इसी तरह शास्त्रीय वृद्धि आदि संज्ञायें भी सभी तरह के अर्थ प्रकाशन में समर्थ हैं, परन्तु दूसरी संज्ञाओं से भेद दिखाने के लिए और व्यवहार में सुविधा के लिये नियम कर दिया जाता है कि 'आदैच्' की ही वृद्धि संज्ञा मानी जाय। जिस तरह से विशेष्य विशेषण में नील उत्पल में नीलादि का योग कोई पुरुष नहीं करता है, यह योग स्वाभाविक सम्बन्ध ही है, उसी तरह वृद्धि आदि संज्ञा शब्दों का भी सम्बन्ध स्वाभाविक है, कृत्रिम नहीं। भर्तृहरि लिखते हैं—

व्यवहाराय नियमः संज्ञाया संज्ञिनि क्वचित्।
नित्य एव तु सम्बन्धो डित्थादिषु गवादिवत्।।
वृद्धयाऽदीनां तु शास्त्रेऽस्मिन्छक्त्यवच्छेद लक्षणः।
अकृत्रिमोऽभिसम्बधो विशेषणविशेष्यवत्।।

—वाक्यपदीय २/३६९,७०

भारतीय नामों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि नाम अधिकतर सार्थक होता है, केवल संकेतार्थक नाम कम होते हैं। 'मिल' आदि पाश्चात्य विद्वान्, व्यक्तियों के नाम निरर्थक मानते हैं। परन्तु नामों की सार्थकता से यह नहीं समझना चाहिये कि जिस व्यक्ति का जो नाम है वह तद्गुण-सम्पन्न होगा ही। नामकरण के विषय में यह कहा जा चुका है कि नाम प्रारम्भ में अन्वर्थ (अर्थानुकूल) होते हुए भी बाद में यौगिक अर्थ न प्रकट कर विशेष अर्थ में रूढ़ हो जाते हैं।

III

वैयाकरणों के उपर्युक्त मत की विशद व्याख्या के पश्चात् अब हम इस प्रकरण में न्यायमतानुसार व्यक्तित्वाची सज्ञाओं के स्तर के संबन्ध में आलोचना करेंगे। नैयायिकों के मत को साधारणतः हम चार भागों में बांट सकते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राचीन मत के अनुसार व्यक्तिवाची संज्ञाओं के द्वारा सिर्फ व्यक्ति का बोध होता है, अर्थात् ' राम ' पद सिर्फ राम व्यक्ति के लिए ही प्रयोज्य है। उसमें जाति को शामिल करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ' रामत्व ' अनेकानुगत धर्म नहीं है। जैसाकि ' गो ' पद के स्थल में गोत्व जाति का भी अर्थ-बोध होता है, वैसा ' राम ' पद के स्थल में ' रामत्व ' का अर्थबोध नहीं होता है। जयन्तभट्ट कहते हैं –

अभिधेयस्य सामान्यशून्यत्वात् व्यक्तिवाचिता।

– न्यायमंजरी (पृ. ४२)

आकाश, राम इत्यादि जैसे व्यक्तिवाची पद जातिविहीन व्यक्ति का ही बोध करवाते हैं। अतएव ' राम ' पद द्वारा निर्विकल्पक पदार्थ का ही स्मरण होता है। उदयनाचार्य कहते हैं –

अत्रोच्यते अभिनवनैयायिकैः, पंचधा हि वाच्यवाचकव्यवस्था। निमित्तोपलक्षणे रहिते शृंगग्राहिकया चैत्रमैत्रवत्। निर्निमित्तेऽन्तर्भूतलक्षणे निर्वचनिकया, पाचकादिशब्दवत्। निर्निमित्त एव तटस्थोपलक्षणे परिभाषिणिकया, आकाशादिशब्दवत्। सनिमित्ते तटस्थोपलक्षण एवंप्रकारिकया पृथिव्यादिवत्। विशेषवन्निमित्ते निमित्तसंकोचनिकया स्वर्गादिवदिति।

न्यायभाष्यवार्तिकतात्पर्यटीकापरिशुद्धि– (१.१.६)

इससे साफ झलकता है कि प्राचीन मत में चैत्रमैत्रादि पद सर्वथा प्रवृत्ति-निमित्त और उपलक्षण–रहित ही स्वीकारे गये हैं, जो गो आदि पद से भिन्न हैं। इसके अलावा इस मत से एक बात और स्पष्ट होती है कि राम और आकाश पद भी समान स्तर के नहीं हैं, क्योंकि ' राम ' पद तो प्रवृत्ति निमित्त और उपलक्षण-शून्य है, जबकि ' आकाश ' पद में शब्दाश्रयत्व को उपलक्षण माना गया है। बहरलाल हम यहां मान कर चल रहे हैं कि 'आकाश' पद और ' राम ' पद दोनों ही एकमात्रवृत्ति होने के कारण व्यक्ति–वाची संज्ञायें हैं।

प्राचीन मत में एक व्यक्ति–बोधक पद स्थल में निर्विशेषणक व्यक्ति मात्र ही पदार्थ स्वीकृत हैं। राम व्यक्ति–बोधक पद के द्वारा रामत्व धर्म विवर्जित राम व्यक्ति मात्र का बोध होगा, अतएव पदार्थतावच्छेदक न रहने से पदार्थतावच्छेदक भेदनिबन्धन वाच्यता भेद की भी संभावना नहीं रहेगी। ' राम दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र थे ' इस वाक्य में ' राम ' पद द्वारा शुद्ध राम व्यक्ति की उपस्थिति होती है जिसमें ' दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र ' पदार्थ का अन्वय हो जाता है। ' राम सीतापति हैं' इस वाक्य में भी ' राम ' पद द्वारा निर्विशेषणक राम की उपस्थिति होती है एवं उसका अन्वय ' सीतापति ' पदार्थ से हो जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशिष्टवस्तुबोधक घट पद और निर्विशेषणक राम व्यक्ति मात्र बोधक पद स्थल में वाच्यताज्ञान एक प्रकार से नहीं होता है । कारण, घट पद स्थल में वाच्यता सम्बन्ध से 'घट पदवान् घटः' यह वाच्यता संसर्गक ज्ञान शाब्द-बुद्धि का कारण होता है । इस ज्ञान में घट पद प्रकार, घट रूप अर्थ विशेष्य एवं वाच्यता सम्बन्ध है । अतएव शाब्दबोध का जनक वाच्यतासंसर्गज्ञान में भासमान वाच्यत्वांश में घट विशेष्य हुआ, घटत्व विशेष्यतावच्छेदक हुआ । विशेष्यतावच्छेदक ही यहाँ वाच्यताच्छेदक है ।

किन्तु निरवछिन्न व्यक्तिबोधक स्थल में ' राम पदवान् रामः ' ऐसा बोध नहीं होगा, क्योंकि तब ' रामत्व ' विशेष्यतावच्छेदक होने के कारण प्रश्न उठेगा कि रामत्व क्या है ? ' रामत्व ' जाति नहीं हो सकता क्योंकि यह एकमात्र वृत्ति है । तब इसका स्वरूप क्या होगा ? यह अखण्डरूप भी नहीं है, क्योंकि 'रामत्व' गुणसमुदाय है जिसे खण्डरूप में विभाजित किया जा सकता है । अतः सखण्ड रूप में ही इसकी कल्पना करनी पडेगी । जो धर्म-समुदाय राम में विद्यमान रहने से ' राम ' राम कहा जाता है वही ' रामत्व ' है । सकल धर्म-समुदाय-युक्त व्यक्ति ही राम है एवं धर्मसमुदाय ' रामत्व ' है । लेकिन ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि राम व्यक्ति असंख्य और अनन्त गुण सम्पन्न हैं; उनमें से किस विशेष गुण का प्रकार रूप से पदार्थ-बोध होगा ? यह कहना निश्चित नहीं है । यदि कहा जाय कि 'राम ' पद के द्वारा ' दशरथ का पुत्र ' ही प्रकार रूप से उपस्थित होता है तो 'राम' पद उसी में रूढ़ हो जायेगा, फिर उससे 'सीतापति का बोध कैसे होगा ? यदि ' राम ' पद कभी ' सीतापति ', कभी ' रावण-हन्ता ', कभी 'दशरथ-पुत्र' में उपस्थित होगा तो कोई भी धर्म निश्चित न होने कारण शाब्दबोध भी अव्यवस्थित हो जायेगा । अतएव व्यक्तिवाची पद के व्दारा निर्विकल्पक शाब्दबोध ही स्वीकारना उचित है ।

इसके अलावा यदि ' राम ' पद के व्दारा ' दशरथ पुत्र ' रूप से पदार्थ की उपस्थिति मान भी ली जाय, तो उपर्युक्त वाक्य में उद्देश्यतावच्छेदक भी ' दशरथ का पुत्र ' तथा प्रकारतावच्छेदक भी 'दशरथ का पुत्र है' होने के कारण वाक्यार्थ होगा " ' दशरथ का पुत्र ' दशरथ का पुत्र है " जो कि निरर्थक है । अर्थात् इस वाक्य के व्दारा कोई शाब्दबोध नहीं होगा । जैसे – ' घटो घटः ' इस स्थल में शाब्दबोध स्वीकृत नहीं है वैसे ही ' राम दशरथ का पुत्र है ' इस वाक्य के व्दारा भी शाब्दबोध नहीं होगा । क्योंकि नियम है उद्देश्यतावच्छेदक और विधेयतावच्छेदक के ऐक्य से शाब्द-बोध नहीं होता । यथा ' घटो घटः ' स्थल में उद्देश्यतावच्छेदक और विधेयतावच्छेदक दोनों ही घटत्व होने के कारण अभेद सम्बन्ध से अन्वयबोध स्वीकृत नहीं है । लेकिन यदि 'राम दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र हैं'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस वाक्य में 'राम' पदार्थ यदि 'सीतापतित्व' उद्देश्यताच्छेदक रूप से उपस्थित हो और विधेय दशरथ ज्येष्ठ पुत्र, दशरथज्येष्ठपुत्रत्व विधेयतावच्छेदक रूप से उपस्थित होने के कारण, उद्देश्यतावच्छेदक और विधेयतावच्छेदक में भेद रहने से शाब्दबोध हो जायेगा।

इस पर यदि कोई जिज्ञासा करे कि 'राम' पद का अर्थ यदि 'सीतापतित्व विशिष्ट' ही किया जाय तो 'सीतापति राम' इस वाक्य के व्दारा कोई शाब्दबोध नहीं होगा, क्योंकि 'राम' और 'सीतापति' पद समानार्थक हो जायेंगे। विपरीत रूप से, यदि 'राम' शब्द का अर्थ 'दशरथ ज्येष्ठ पुत्र' करें तो 'राम दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र हैं' इस वाक्य के व्दारा शाब्दबोध नहीं होगा, दोनों समानार्थक हो जायेंगे। उभयत: कठिनाई होने से कहीं भी शाब्दबोध नहीं होगा। वैसे उपरोक्त समाधान यदि मान भी लिया जाय तो 'राम' पद के विभिन्न अर्थ हो जायेंगे, कभी सीतापति, कभी दशरथपुत्र, कभी 'कौशल्या पुत्र' आदि। 'घट' पद की वाच्यता यावत् घट में स्वीकृत होती है, पर यहां पर 'राम' पद के व्दारा विभिन्न धर्म उपस्थित होने के कारण 'हरि' पद की तरह राम पद भी अनेकार्थक हो जायेगा।

अतएव उपरोक्त सभी समस्याओं को मद्देनजर रखते हुए प्राचीन मत में वाच्यता सम्बन्ध से 'राम पदवान्' सिर्फ इतना ही बोध होगा। और यह ज्ञान निर्धर्मितावच्छेदक वाच्यज्ञान कहा जायेगा। विशेष्यतावच्छेदक रामत्व का भान न होने से, वाच्यतावच्छेदक भेद से नानार्थकत्व की आपत्ति नहीं होगी। इस मत में निरवच्छिन्नविशेष्यताक ज्ञान से निरवच्छिन्न राम की उपस्थिति हो सकती है; अर्थात् निर्विकल्पक राम का स्मरण हो सकता है। जैसे – किसी समय कटक में राम को देखने के पश्चात् पुन: कलकत्ता में राम को देखने पर कटक अंश के प्रणष्ट हो जाने के कारण सिर्फ 'राम' का ही बोध होता है। उसी प्रकार निर्विकल्पक पदार्थ के स्मरण में कोई बाधा यहीं होती हे। किन्तु निर्विकल्पक की शाब्द–बुद्धि नहीं हो सकती है। शाब्द–बुद्धि का अर्थ है अन्वय–बुद्धि और अन्वय यानि सम्बन्ध। निर्विकल्प ज्ञान में विषय नहीं होता है। शाब्द–बोध यदि निर्विकल्पक होगा, तो वहां अन्वय–बोध ही नहीं हो सकता है। 'राम दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र हैं' इस वाक्य में रामांश में रामत्व का भान नहीं होता है, पर 'दशरथ जेष्ठ पुत्र' यह शब्दार्थ में प्रकार होने से शाब्द–बुद्धि निर्विकल्पक नहीं होगी।

प्राचीनों के इस मत का खंडन करते हुए नव्य नैयायिकों का कहना है कि यदि व्यक्तिवाची संज्ञाओं के द्वारा व्यक्ति मात्र का ही निर्देश होता है तो जो श्रोता 'राम' पद से सर्वथा अनभिज्ञ है उसे किसी भी प्रकार का शाब्द–बोध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं हो सकता है। फलतः ऐसी व्यक्तिवाची संज्ञा का प्रयोग व्यर्थ ही हो जायेगा। (हम इस पर विस्तृत चर्चा रघुनाथ शिरोमणि के मत के प्रसंग में करेंगे)

दूसरी बात यह है कि जयन्त आदि प्राचीनों के मत को यदि स्वीकार भी कर लिया जाय, तो भी न्याय मत के साथ उनका विरोध होगा, क्योंकि नैयायिकों के अनुसार सिर्फ अनुल्लिख्यमान जाति और अखण्डोपाधि का ही निष्प्रकारक बोध होता है। व्यक्ति-वाची संज्ञा न जाति है, न अखण्डोपाधि है; अतएव उसका बोध निष्प्रकारक कैसे होगा ?

तीसरी आपत्ति यह है कि रामजाया, रामभ्राता इत्यादि स्थल में शाब्दबोध की उपपत्ति कैसे होगी ? क्योंकि यहां जायादि पद विशेष्य है एवं 'राम' पदार्थ विशेषण है, किन्तु राम पद से तो स्वरूपतः पदार्थ उपस्थित होता है इसलिए जायादि पदार्थ में किसी रूप से युक्त हो कर 'राम' पदार्थ का भान नहीं हो सकता उसका भान स्वरूपतः ही स्वीकारना होगा।

नव्यनैयायिक जगदीश आदि के अनुसार व्यक्तित्वाची और जातिवाचक संज्ञा में कोई खास फर्क नहीं है। जिस तरह 'मनुष्य' पद के द्वारा मनुष्यत्व रूप से असंख्य मनुष्यों का बोध होता है, उसी तरह 'राम' पद के द्वारा भी असंख्य रामों का बोध 'रामत्व' रूप से हो जायेगा। क्योंकि 'राम' पद के द्वारा उपस्थापित व्यक्ति राम, व्यक्ति-धारा के रूप में उपस्थित होता है और 'राम' पद के द्वारा उस प्रत्येक का बोध होता है जो इस धारा का सदस्य है। 'रामत्व' धर्म बाल्य, कौमार भेद से नाना शरीर वृत्ति होने के कारण जातिरूप एक ही है। इसलिए 'राम' पद जातिविशिष्ट व्यक्ति का वाचक होने के कारण नैमित्तिक संज्ञा ही होगा।

न च शरीरवृत्तेरपि चैत्रस्य कुतो जातित्वमनेकवृत्तित्वाभावादिति वाच्यम्। बाल्यादिभेदेन चैत्र शरीरस्यापि नानात्वात्।

— कृष्णकान्त टीका. (पृ० १२२)

इसके अलावा जिस तरह सामान्य-वाचक 'गो' पद के द्वारा 'गो' पदार्थ, गोत्व धर्म और समवाय सम्बन्ध तीनों ही उपस्थित होते हैं वैसे ही व्यक्ति-वाचक 'राम' पद के द्वारा भी 'राम' व्यक्ति, (विभिन्न काल और शरीर भेद से) रामत्व धर्म और समवाय सम्बन्ध तीनों ही उपस्थित होते हैं। इस मत का उल्लेख वैयाकरणों के मत की व्याख्या के प्रसंग में हमें प्राप्त हुआ था, जिसकी उत्थापना कैयट ने की थी।

इस मत के विरुद्ध कुछ आपत्तियां उठाई गई हैं जो इस प्रकार हैं। प्रथमतः इस मत में व्यक्तिवाचक और जाति-वाचक संज्ञाओं में कोई भेद नहीं स्वीकारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया है। पर इन दोनों में भेद परस्पर सापेक्ष है, जबकि 'गो' पद के द्वारा निर्देशित विभिन्न गो परस्पर सापेक्ष नहीं हैं। उदाहरण के लिए मथुरा की गाय और कलकत्ता की गाय परस्पर सापेक्ष नहीं है। द्वितीयत:, न्यायमतानुसार सभी पदार्थ अभिधेय होते हैं। फलत: 'राम' व्यक्ति भेद के प्रत्येक सदस्य को एक नाम दिया जा सकता है। तब प्रत्येक सदस्य एक सामान्य वाचक हो जायेगा। लेकिन ऐसा करने से अनवस्था दोष तो होगा ही; साथ ही साथ इसके पक्ष में कुछ भी कहना हास्यास्पद होगा। क्योंकि धारा का प्रत्येक सदस्य सामान्य वाचक होने से उसमें पुन: अनेक सदस्यों की कल्पना करनी पड़ेगी, तथा द्वितीय धारा का प्रत्येक सदस्य सामान्यवाची होने से उसमें पुन: अनेक सदस्यों की कल्पना करनी पड़ेगी। इस तरह इस धारा का कहीं अन्त नहीं होगा। तृतीयत:, यदि व्यक्ति-वाचक संज्ञाओं में जाति स्वीकार भी कर ली जाय, तो इससे गौरव दोष ही होगा, क्योंकि असंख्य व्यक्ति-वाची संज्ञाओं के लिये असंख्य जातियां स्वीकारनी पड़ेंगी, जो कि व्यक्ति के जन्म के पूर्व से ही वर्तमान होनी चाहिये। लेकिन ऐसा संभव नहीं है। अत: यह मत ग्राह्य नहीं है। (वैसे इस अन्तिम आपत्ति का उत्तर यह कह कर दिया जा सकता है—नैयायिक पूर्वजन्म में विश्वास करते हैं अत: जाति की कल्पना भी अनादि रूप में स्वीकार की जा सकती है।)

नव्यनैयायिकों के ही एक सम्प्रदाय के अनुसार व्यक्तिवाची संज्ञा और सामान्यवाची संज्ञाओं का स्तर समान नहीं है। 'राम' पद के द्वारा व्यक्ति राम (विशेष्य) तद्व्यक्तित्व रूप से रामत्व धर्म (विशेषण) तथा उनके बीच का सम्बन्ध यह तीनों उपस्थित होते हैं। यह सम्बन्ध स्वरूपसम्बन्ध है, जो विशेष्य और विशेषण से भिन्न कोई अतिरिक्त सत्ता नहीं है। 'रामत्व' धर्म एक विशिष्ट धर्म है, जो राम छोड़ कर कहीं भी नहीं है। अतएव राम का स्व के साथ सम्बन्ध तादात्म्य ही है।

तद्व्यक्तित्वंच तदात्म्येन सैव व्यक्ति:

पक्षता (जागदीशी)

इस कहने का अर्थ यह है कि 'राम' विशेष्य और विशेषण दोनों ही हो जायेगा। लेकिन इसके द्वारा हमारी मूल समस्या का समाधान नहीं हो सकता, क्योंकि यदि श्रोता को यह ज्ञान नहीं है कि 'राम' पद का बोध्य कौन है, तो उसे 'राम' पद के श्रवण से अर्थ-बोध कैसे होगा? इसके अलावा यदि रामत्व (तद्व्यक्तित्व) का अर्थ राम ही होगा, तो विशेष्य और प्रकार के एक होने से शाब्द-बोध भी नहीं हो सकेगा।

• गदाधर मानते हैं कि रामत्व 'राम' पद का वाच्यतावच्छेदक नहीं है;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाच्यत्वांश में यदि रामत्व को उपलक्षण माना जाय, तो 'राम दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र हैं' इस वाक्य के द्वारा शाब्द-बोध होने में कोई आपत्ति नहीं होगी। उपलक्षण का अर्थ है जो स्वयं शक्य नहीं होता है, पर शक्य का व्यावर्तक होता है।

स्वबोधकत्वे सति स्वेतरप्रतिपादकत्वं।

उदाहरण के लिये 'काकवद् गृहम्,' 'जटाभिःतापसः' स्थलों में 'काक' का गृह पर बैठना कोई अनिवार्य धर्म नहीं है पर अन्य गृहों से इस विशेष गृह का व्यावर्तन करना 'काक' शब्द उल्लेख करने का प्रयोजन है। अतएव यहां 'काक' उपलक्षण है। इसी तरह 'राम' का दशरथ पुत्र होना कोई अनिवार्य धर्म नहीं है। राम 'कौशल्या पुत्र' भी है, सीतापति भी है, रावणहन्ता भी है इत्यादि 'राम' पद के असंख्य परिचायक हैं। और ये सभी उपलक्षण हैं, क्योंकि इनमें से कोई भी अनिवार्य नहीं है। यदि इनमें से किसी भी धर्म को अनिवार्य मान लिया जाय, तो शाब्दबोध असंभव हो जायेगा। उदाहरण के लिये "रामः रामपदात् बोद्धव्यः" इस इच्छा में यदि 'दशरथ ज्येष्ठ पुत्रत्व' रूप रामत्व को रामपदजन्यबोधविषयता का अवच्छेदक स्वीकार किया जाय, तो 'कौशल्या पुत्रत्व' रूप रामत्व प्रकार में राम का बोध नहीं हो सकेगा, एवं 'कौशल्या पुत्रत्व' रूप रामत्व को रामपदजन्य बोधविषयता का अवच्छेदक स्वीकार करने से 'दशरथज्येष्ठपुत्रत्व' रूप रामत्व प्रकार का बोध नहीं हो सकेगा। अतएव रामपद-जन्य बोध विषयता का अवच्छेदक कोई भी अभिप्रेत नहीं है। किन्तु एक ही राम व्यक्ति में विशेषण रूप से रामपद-जन्य बोधविषयत्व, धर्मितावच्छेदकरूप से दशरथ ज्येष्ठ पुत्रत्व अथवा कौशल्या-पुत्रत्व, इच्छा में अवगाहन करने से इनके बीच में सामानाधिकरण्य है। फलतः रामपदजन्यबोधविषयत्वांश में दशरथ-जेष्ठपुत्रत्व अथवा कौशल्यापुत्रत्व उपलक्षण ही होगा। उपलक्षण यदि अन्यूनानतिरिक्त वृत्ति हो, तभी वह शाब्द-बोध में प्रकार रूप से भासमान होता है। अन्यथा घट पद के द्वारा 'द्रव्यत्व' रूप से कोई भी द्रव्य उपस्थित हो सकता है, क्योंकि 'द्रव्यत्व' घट पद का उपलक्षण है। परन्तु द्रव्यत्व अतिरिक्त वृत्ति धर्म होने के कारण घट पद के द्वारा उपस्थित पदार्थ में प्रकार रूप से भासमान नहीं होता है।

'रामजाया' आदि स्थल में दशरथ-ज्येष्ठपुत्रत्वादि रूप रामत्व विशिष्ट राम पदार्थ का जाया पदार्थ से अन्वय होता है, अतएव शाब्द-बोध होने में कोई आपत्ति नहीं होगी।

दीधितिकार का मत इन सबसे भिन्न है। उनके अनुसार प्रवृत्तिनिमित्त के लक्षण में प्रथम सत्यन्त दल 'वाच्यत्वे सति' देने की कोई आवश्यकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है; अन्यथा 'आकाश' पद के द्वारा कोई शाब्द बोध नहीं हो सकेगा; क्योंकि 'शब्दाश्रयत्व' जाति न होने के कारण आकाश पद का प्रवृत्तिनिमित्त स्वीकृत नहीं है। इसलिए उन्होंने 'गो' पद के द्वारा भी 'गोत्व' को शक्यतावच्छेदक स्वीकार किया है। पर उसे शक्य नहीं माना है जैसे 'आकाश' पद के स्थल में 'शब्दाश्रयत्व' उपलक्षण है, वैसे ही 'गो' पद के स्थल में 'गोत्व' भी उपलक्षण है। 'राम' पद के द्वारा रामत्व (तद्व्यक्तित्व) उपस्थित होता है जो शक्यतावच्छेदक भी है, पर वह शक्य नहीं है। लेकिन ऐसा करने से अनन्त पदार्थ स्वीकृत हो जायेंगें, और फलतः गौरव होगा।

यहां पर यह आशंका की जा सकती है कि जिसने 'राम' को कभी देखा ही नहीं है, उसको किस धर्म रूप से 'राम' पद से शक्ति ग्रह होगा? 'गो', 'घट' प्रभृति शब्द स्थल में पूर्वज्ञात किसी 'गो' विशेष में वाच्यताज्ञान होता है, एवं तत् सामान्य योग से 'गो' उपस्थित हो कर शाब्दबोध हो जाता है। अतः प्रत्यक्षादि द्वारा ज्ञात किसी अर्थ में पद का सम्बन्ध (वाच्यता ज्ञान) होता है। तब इस अर्थ के सामान्य रूप से अप्रत्यक्ष अर्थ में शाब्दबुद्धि होती है। किन्तु राम एकमात्र व्यक्ति होने के कारण शाब्द-बुद्धि के पूर्व राम की उपस्थिति संभव नहीं है, फलस्वरूप 'राम' पदार्थ में राम पदवाच्यत्व का ज्ञान नहीं हो सकता है।

इस प्रसंग में श्री रघुदेव न्यायालंकार पदार्थ तत्त्व निरूपणम् ग्रंथ की टीका में लिखते हैं कि यद्यपि रामत्व धर्म रूप से राम विषयक अनुभव या तज्जनित संस्कार आधुनिक जीव के पक्ष में संभव न होने पर भी 'प्रमेयवानयम्' इस प्रकार प्रमेयत्वरूप से निखिल धर्म को विशेषण बनाकर इदन्त्व रूप से सकल पदार्थ का अनुभव तो हो ही जाता है: ऐसे अनुभव से प्रमेय मात्र को विशेषण कर के 'प्रमेयवानयम्' इस आकार का पूर्वानुभवजनित संस्कार उत्पन्न होता है; किसी दोषवशतः उक्त संस्कार प्रमेयत्वांश में उद्बुद्ध नहीं होता है, लेकिन शुद्ध रामत्व धर्मांश में उद्बोधक रहने के कारण प्रमेयान्तर्गत शुद्ध रामत्व धर्म राम अंश में उद्बुद्ध हो जाता है तब 'रामोऽयम्' इस आकार का शुद्ध राम को विशेषण बना कर स्मरण हो जाता है। इस स्मरण-ज्ञान के मूल में राम पद का शक्ति-ज्ञान एवं शक्तिज्ञानमूलक रामत्व-विशिष्ट की उपस्थिति से 'रामोऽयम्' इस आकार का विशिष्ट शाब्दबोध होता है।

लेकिन तत्प्रकारक स्मरण के प्रति तत्प्रकारक अनुभवत्व रूप से अनुभव ही संस्कार के द्वारा कारण होता है। उक्त रूप से कारणता की कल्पना करने से कार्यतावच्छेदक एवं कारणतावच्छेदक के गर्भ में निरवच्छिन्नत्व का निवेश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने से गौरव स्वीकार करना पड़ेगा। अतएव 'प्रमेयवानयम्' इस अनुभव से समानाकार संस्कार के द्वारा निरवच्छिन्न (शुद्ध रामत्व प्रकारक) स्मरण होता है। एवं अदृष्ट राम स्थल में उक्त स्मरण ज्ञान से उत्पन्न राम पद की शक्ति ज्ञान और उसके द्वारा उपस्थित पदार्थोपस्थिति के द्वारा शुद्ध रामत्व प्रकारक राम विशेष्यक शाब्दबोध की उपपत्ति होती है।

प्रमेयवानयमित्यनुभवजन्यः प्रमेयवानयमिति संस्कारो जातस्तदनन्तरं तस्मात्प्रमेयत्वांशे दोषवशाद्दशरथत्वमात्रप्रकारकस्मृतिजनकोद्बोधकवशाद्दशरथत्वप्रकारकस्मरणं : तत्र दशरथत्वादिविशिष्टे शक्तिग्रहसम्भवेन तज्जन्यदशरथत्वादिविशिष्टोपस्थिते सुलभतया दशरथत्वादि प्रकारकशाब्दबोधे बाधकाभावः।

–श्रीरघुदेवन्यायालंकारकृता पदार्थतत्त्वनिरूपणस्य टीका (पृ १०१–१०२)

इस पर यदि यह कहा जाय कि 'रामपदवाच्यत्व' ही रामत्व है, क्योंकि 'रामपदवाच्यत्व' केवल राम में ही है, तो यह भी कहना ठीक नहीं है। इस तरह से रामत्व भी राम पद का वाच्यताच्छेदक नहीं हो सकता, कारण राम पद का वाच्यतावच्छेदक रामपदवाच्यत्व घटित होने से परस्पर सापेक्षत्व दोष उपस्थित हो जायेगा।

नव्य मतानुसार बहुव्यक्तिबोधक पद स्थल में जैसे पद–जन्य–बोध–विषयतावच्छेदक कोई धर्म अवश्य रहता है, वैसे ही एकव्यक्तिबोधक पदस्थल में पदजन्य–बोध–विषयतावच्छेदक कोई धर्म अवश्य रहता है। अतः एकमात्र बोधक पद स्थल में वाच्यतावच्छेदक धर्म होता है। राम पद से 'दशरथ–ज्येष्ठ–पुत्रत्व' प्रकार से शाब्दबुद्धि जब होती है, तो उसे वाच्यतावच्छेदक स्वीकार करना चाहिये। राम में अनेक धर्म हैं एवं पृथक् पृथक् स्थल में पृथक्–पृथक धर्म शाब्दबुद्धि में पदार्थ के विशेषण रूप से भासमान होते हैं। जैसे–ज्येष्ठपुत्रत्व, कौशलपतित्व, सीतापतित्व इत्यादि। विनिगमना न रहने के कारण इनमें से कौन सा धर्म वाच्यतावच्छेदक होगा – यह निश्चित नहीं किया जा सकता। अतएव किसी किसी नव्यगण का कहना है कि किसी एक धर्म को वाच्यतावच्छेदक मान कर बाकी धर्म का बोध लक्षणावृत्ति द्वारा निर्वाह किया जाना चाहिये। उदाहरण के लिये 'राम' पद के द्वारा उपस्थित राम पदार्थ में प्रकार रूप से भासित 'रामत्व' का अर्थ यदि 'दशरथ ज्येष्ठ पुत्रत्व' लिया जाय तो 'राम दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र हैं' इस वाक्य के द्वारा शाब्दबोध नहीं हो सकता है, क्योंकि यहां उद्देश्यतावच्छेदक और विधेयतावच्छेदक समानार्थक हो जायेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु यदि 'राम' पद के द्वारा लक्षणा वृत्ति से 'कौशल्या पुत्र' स्वीकार किया जाय तो शाब्द-बोध होने में कोई आपत्ति नहीं होगी। इस तरह से अन्वयानुपपत्ति ही यहां लक्षणा का बीज होगा। इसके विपरीत यदि 'राम कौशल्या पुत्र है' इस वाक्य का प्रयोग किया जाय, तो यहां लक्षणा स्वीकारना आवश्यक नहीं है, क्योंकि 'राम' पद के द्वारा 'दशरथ ज्येष्ठ पुत्रत्व' रूप से व्यक्ति राम उपस्थित होता है और 'कौशल्या पुत्र' पद के द्वारा कौशल्या-पुत्रत्व' रूप से व्यक्ति उपस्थित होता है, फलतः अभेद-अन्वय होने में कोई बाधा नहीं होगी। इस तरह से किसी एक धर्म को वाच्यतावच्छेदक स्वीकार करके अन्य धर्म को यदि लक्षणा के द्वारा स्वीकार किया जाय तो 'राम दशरथ के जेष्ठ पुत्र हैं' स्थल में शाब्दबोध की अनुपपत्ति नहीं होगी। लेकिन यहां लक्षणा न मानने से 'राम' पद में नानार्थकत्व की आपत्ति हो जायेगी

फिर भी इस स्थल में एक आशंका रह ही जाती है कि 'राम दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र हैं' इस वाक्य के द्वारा लक्षणावृत्तिक बोध का अनुभव किसी को नहीं होता।

इसके बावजूद भी **पदार्थ तत्त्वनिरूपणम्** ग्रंथ के टीकाकार रामभद्रसार्वभौम भी उक्त इस स्थल में लक्षणा स्वीकारने पर बल देते हैं:।

एवं च लक्षणया दशरथादिपदवाच्यत्वप्रकारक वाच्यत्वसम्बन्धेन दशरथादि प्रकारकं वा स्मरणमेवापेक्षितं तच्च दशरथादिपदवाच्यत्ववृत्ति दशरथादिपदशक्य सम्बन्धप्रकारकाद्वाच्यत्वसंसर्गेण दशरथादिपदवृत्ति शक्य सम्बन्धसंसर्गेण दशरथादि कारकाद्वा मानसबोधादेवोत्पत्स्यति इति युक्तमुत्पश्यामः।

– पदार्थ तत्त्व विवेचन प्रकाश

III

अब हम पूर्वोक्त चर्चा से निष्कर्ष निकालने का प्रयास करेंगे। इतना निश्चित है कि व्यक्तिवाची संज्ञा जैसे है रामादि का, एक व्यक्तिमात्र वृत्तिक होने के कारण, कोई अनुगमक धर्म नहीं हो सकता 'रामत्व' केवल इतर-व्यावर्तक धर्म ही होगा। अतः जिस जिस धर्म के द्वारा राम व्यक्ति को 'अ-राम' से पृथक् किया जा सकता है, उस धर्मसमूह में जो सर्वापेक्षा लघु धर्म होगा एवं राम में सर्वदा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्यमान रहेगा, वही धर्म रामत्व होगा। यदि ऐसे धर्म अनेक हों तो उक्त धर्म-समूह में से अन्यतम धर्म ही रामत्व होगा, अतः यावत् धर्म का ज्ञान अनावश्यक है। लेकिन किसी एक धर्म का ज्ञान अवश्य ही होना चाहिये, क्योंकि किसी वस्तु का व्यवहार कोई धर्मयुक्त रूप से ही होता है, निर्विशेष रूप से वस्तु का सविकल्पक एवं व्यवहार के लिये उपयुक्त ज्ञान नहीं होता। बिना किसी धर्म को स्वीकार किये निरवच्छिन्न पदार्थ का स्मरण सभव नहीं है। गदाधर भट्टाचार्य भी प्राचीनों के विरुद्ध कहते हैं कि निष्प्रकारक शाब्द-बोध नहीं हो सकता है, क्योंकि वहां भी (रामः में) विभक्ति के द्वारा उपस्थापित एकत्व प्रकार रूप से भासमान होता ही है।

न तु तदंशे सामान्यतोनिष्प्रकारकत्वं, विभक्त्युपस्थापितैकत्वादीनां तदंशे प्रकारताया आवश्यकत्वात्।

(शक्तिवाद – पृ. ५७)

एकमात्र व्यक्तिबोधक रामादि पद-स्थल में राम शरीर-मात्र वृत्ति, अ-राम व्यावर्तक कोई धर्म-विशेष ही 'राम' पद का वाच्यतावच्छेदक है एवं यही धर्म राम का रामत्व भी है। लेकिन राम के अवयवादि का जो वर्णन रामायण में किया गया है, उनका समूह रामत्व है अथवा कोई एक धर्म रामत्व है? यदि गुणसमूह को रामत्व कहा जाय तो आपत्ति होगी कि गुण तो असंख्य हैं और सभी गुणों की जानकारी हो पाना संभव भी नहीं है। यदि किसी एक धर्म को रामत्व कहा जायेगा तो धर्म अनेक होने कारण नानात्व का प्रसंग उपस्थित होगा। अतएव कहना चाहिये कि समान अवयव और तुल्य गुणादि युक्त दो वस्तुओं के सहित इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर दो वस्तुओं का ज्ञान होता है, एवं उनमें परस्पर भेद भी गृहीत होता है। वस्तु-द्वय का परस्पर भेदस्वरूप कोई धर्म या वैशिष्ट्य ही रामत्व है। यही धर्म तद्व्यक्तित्व है, क्योंकि यह धर्म एक व्यक्ति में ही निहित रहता है जो गुणादि का समूह नहीं है। गुणादि के समूह में यत्किंचित् गुण भी नहीं है, क्योंकि गुणादि का परिहार करके भी तद्व्यक्तित्व धर्म-युक्त रूप में भी तद्व्यक्तित्व का ज्ञान होता है, जैसे अन्ध व्यक्ति को तद्व्यक्तित्व का ज्ञान वस्तु के स्पार्शन प्रत्यक्ष से होता है, किन्तु रूप-प्रत्यक्ष नहीं होता। अतएव गुणादि से अतिरिक्त वस्तुनिष्ठ तद्व्यक्तित्व रूप धर्म स्वीकारना पड़ेगा।

जगदीश तर्कालङ्कार कहते हैं कि "तद्व्यक्तित्वाभेदेन सैव व्यक्तिः" अर्थात् अभेद या तादात्म्य सम्बन्ध से यह व्यक्ति ही तद्व्यक्ति है। यह कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। एकही व्यक्ति में धर्म-धर्मीभाव की कल्पना करके व्यवहार उत्पन्न होता है। व्यक्ति ही तादात्म्य सम्बन्ध से धर्म होता है, तद् व्यक्ति का धर्म तद्व्यक्तित्व तादात्म्य सम्बन्ध से तद्व्यक्तित्व स्वरूप ही होता है। यहाँ पर वैयाकरणों के मतानुसार जैसे 'डित्थ' और 'डित्थत्व' पर्याय कहे जाते हैं, वैसे ही न्याय मत में तद्व्यक्ति (राम) और तद्व्यक्तित्व (रामत्व) में समानार्थता कही जाती है। राम से भिन्न रामत्व नहीं है, ये दोनों पर्याय हैं। लेकिन इससे गौरव तो होगा ही। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जैसे परमाणु और नित्यपदार्थ में विशेषधर्म स्वतोव्यावर्तक कहा जाता है, यानि दो जलीय परमाणु का भेदक धर्म उनका विशेष धर्म ही कहा जाता है, वैसे ही राम का विशेष धर्म रामत्व है, जो श्याम से भिन्न है। मान लिया जाय कि दो जुड़वा भाइयों का समस्त व्यवहार, आचरण, चेहरा मोहरा आदि एकदम एक जैसा है, तो भी इन दोनों का जो भेद है वही उनका भेदक धर्म है – रामत्व और श्यामत्व।

लेकिन समस्या वहीं आकर अटक जाती है कि जिस व्यक्तिवाची संज्ञा से हम सर्वथा अपरिचित हैं उसके द्वारा पदार्थ स्मरण कैसे होगा? मान लिया जाय कि हमारे समक्ष कोई ऐसा वाक्य उच्चारण करता है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति का परिचय हमें ज्ञात नहीं है जैसे – 'मोती बीमार है।' इस वाक्य में प्रयुक्त 'मोती' संज्ञा का वाच्य कौन है इससे हम सर्वथा अपरिचित हैं। लेकिन श्रोता के इस वाक्य-उच्चारण के साथ ही साथ हम समझ जाते हैं कि यह कोई प्राणी है क्योंकि 'बीमार' विधेय किसी प्राणी से ही सम्बन्धित है। यहां पर 'प्राणित्व' ही 'मोती' सज्ञा का धर्म माना जायेगा जो 'मोतीत्व' प्रकार रूप से उपस्थित होता है। धीरे – धीरे जैसे-जैसे वार्तालाप की गति बढ़ती है, श्रोता समझने लगता है कि 'मोती' वक्ता के घर के पालतू कुत्ते का नाम है। इस तरह 'मोती' संज्ञा उस वक्ता के कुत्ते के लिये रूढ़ हो गई। लेकिन यदि कोई वक्ता कहे 'जवाहर के पिता मोती थे' तो इस वाक्य में निहित 'मोती' संज्ञा से सर्वथा अपरिचित होने पर भी श्रोता यह तो जान ही लेता है कि 'मोती' किसी व्यक्ति का ही नाम है, जो पुरुष हैं। क्योंकि हम जिस भाषा में बात करते हैं, उस भाषा के गठन और प्रयोग से भी हम परिचित अवश्य होते हैं, अन्यथा वार्तालाप ही संभव नहीं हो सकेगा।

राम रामपद का वाच्य है– इतना बोध होने में भी राम का पूर्व-परिचय आवश्यक है। यह जरूरी नहीं है कि राम का कोई विशेष धर्म हमें ज्ञात हो, पर सामान्य रूप से इतना तो ज्ञात होता ही है कि 'राम' किसी मनुष्य का ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बोधक पद है। कहने का तात्पर्य है कि जब हम भाषा की अन्तरंगता से परिचित हो जाते हैं तो उस भाषा में प्रयुक्त किसी विशेष संज्ञा से अनभिज्ञ होने पर भी प्रकरण या वक्ता के तात्पर्य से अर्थ-बोध कर लेते हैं। और जहां पर किसी भी प्रकार से अर्थ-बोध संभव नहीं होता है वहां हम पुनः पुनः जिज्ञासा के द्वारा अर्थबोध करने का प्रयास करते हैं।

किसी ने मुझ से कहा कि 'अमुक कार्यालय में देवदत्त से मिल कर यह सन्देश दे आओ'। मैंने यदि देवदत्त और उसके कार्यालय को पहले कभी नहीं देखा है तो मैं वक्ता से कार्यालय का रास्ता, देवदत्त की कुछ पहचान आदि जान कर ही उस स्थल में जाकर देवदत्व को ढूंढने का प्रयास करती हूं। अर्थात् व्यक्ति के कुछ कार्योपयोगी धर्म (उपलक्षण) को जानकर हम उसके बारे में एक मानसिक चित्र तयार कर लेते हैं, फिर जब उस व्यक्ति को देखते हैं तब उसे पहचानने में कोई कठिनाई नहीं होती है। शायद 'मानसबोध' कहने से रामभद्र सार्वभौम का यही तात्पर्य है। रामायणादि उपाख्यान से भी राम के सम्बन्ध में वर्णन जानने के पश्चात् हम एक मानसिक चित्र तैयार कर लेते हैं, जिसके आधार पर हम राम के स्वरूप की कल्पना कर लेते हैं। लेकिन इसके लिए भी उन सभी विशेषणों का पूर्व-परिचय होना आवश्यक है। मनुष्य के अन्दर एक ऐसी सहज प्रवृत्ति, जिसे भर्तृहरि प्रतिभा कहते हैं, वर्तमान है जिसकी सहायता से हम खण्डों में उपलब्ध विषय को अखण्ड रूप से प्रस्तुत कर सकते हैं। अन्यथा पक्षिराज घोड़ा और मत्स्यकन्या की कल्पना ही संभव नहीं होती। यह एक ऐसी सृष्टि-मूलक क्षमता है जो सभी मनुष्यों में कम या अधिक वर्तमान रहती है, और जिसके द्वारा मनुष्य अपने दैनन्दिन कार्यों के अलावा शिल्प, साहित्य आदि का भी सम्पादन करने में समर्थ होता है। (उस प्रसंग की आलोचना करने में पृथक् प्रबन्ध की आवश्यकता होगी)।

अतएव किसी शब्द को सुन कर उसके अर्थ की कल्पना करने में मानस-बोध की सहायता ली जाती है, अथवा यदि व्यक्ति साक्षात् रूप से उपस्थित है तो उसे शृंगग्राहिक व्यवस्था से ग्रहण किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यदि किसी पदार्थ का ज्ञान हमें पहले हो जाता है तो उसे अन्य पदार्थों से व्यावर्तन करने के लिये नामकरण कर देते हैं। कहने का अर्थ है कि नामकरण के स्थल में दोनों ही तरफ से रास्ता जाता है। यदि 'राम' शब्द और उसका स्वरूप हमें ज्ञात होता है तो हमें मानस-ज्ञान का सहारा लेना पड़ता है, और यदि व्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का ज्ञान पहले हो जाता है तो उसे हम 'शब्द' (नामकरण) प्रदान करके उसे अन्य व्यक्तियों से पृथक् कर लेते हैं।

विवेकानन्द कालेज,
ठाकुर पुकुर,
कलकत्ता – ७०००६८

मधु कपूर

ग्रंथ सूची

१ न्याय मंजरी – जयन्तभट्ट (सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित)।

२. पाणिनीय व्याकरणमहाभाष्यम् – निर्णयसागर मुद्रित।

३. शक्तिवाद – गदाधरभट्टाचार्य (काशी संस्कृत सीरिज, विद्याविलास प्रेस, वाराणसी)।

४. पदार्थतत्त्वनिरूपणम् – रघुनाथ शिरोमणि (पण्डित श्री मधुसूदन भट्टाचार्य कृत बंगानुवाद) संस्कृत कालेज, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित।

५. पदार्थतत्त्व निरूपण की टीका – पदार्थतत्त्व विवेचन प्रकाश–रामभद्र सार्वभौम।

६. व्यक्तिवाचक शब्द – पं विश्वबन्धु भट्टाचार्य (अप्रकाशित प्रबन्ध)।

७. शब्दशक्ति प्रकाशिका – जगदीश तर्कालङ्कार; चौखम्बा प्रकाशन।

८. पक्षता जागदीशी, जगदीश तर्कालंकार

९. पाणिनीयाष्टाध्यायी सूत्रवृत्ति :– काशिका – न्याय पदमंजरी – पं. जयशंकर लाल त्रिपाठी और डॉ. सुधाकर मालवीय द्वारा सम्पादित (तारा बुक एजेन्सी वाराणसी।

१०. वाक्यपदीय – भर्तृहरि (सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।)

११. न्यायभाष्यवार्तिकतात्पर्यटीका परिशुद्धि – उदयनाचार्य, पं. अनन्त लाल ठाकुर सम्पादित (तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१२. अर्थ-विज्ञान और व्याकरण दर्शन – कपिलदेव द्विवेदी – (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद)।

१३. संस्कृत व्याकरण दर्शन – रामसुरेश त्रिपाठी, (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली)।

१४. गुणकिरणावलीप्रकाश – वर्द्धमानोपाध्याय – सम्पादित नरेशचन्द्र वेदान्ततीर्थ (द. एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता)।

१५. साहित्य-दर्पण – श्रीविश्वनाथ कविराज (मोतीलाल बनारसी दास।

16. Analytical Philosophy in Comparative Perspective – Edited by B. K. Matilal & Jaysankarlal Shaw (Articles on (1) " Proper Names : Contemporary Philosopy and the Nyaya – " J. L. Shaw. (2) " Awarenenss and Meaning in Navya-Nyaya " – B. K. Matilal.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (१९)
विषयता (V)

पिछले लेखों में विषयता के प्रकारता तथा विशेष्यता नामक भेदों पर प्रकाश डाला जा चुका है। विषयता का ही एक तीसरा भेद संसर्गता भी है। संसर्गता भी प्रकारता और विशेष्यता के समान विशिष्टबुद्धि में प्रतीत होती है। प्रकार और विशेष्य (आश्रय) के समान सम्बन्ध भी विशिष्टज्ञान का विषय होता है।[1] विशेषण और विशेष्य से भिन्न जो विशिष्टबुद्धि का विषय होता है उसे संसर्ग (सम्बन्ध) कहते हैं। दो असम्बद्ध पदार्थों के विषय में विशिष्टबुद्धि उत्पन्न नहीं होती है। इसीलिये आचार्य गंगेश ने सम्बध की परिभाषा देते हुए कहा है कि अविशिष्ट से भिन्न विशिष्टबुद्धि का नियामक सम्बन्ध है।[2]

परन्तु गंगेश के उक्त लक्षण में 'विशिष्ट' पद सम्बन्ध का पर्यायी होने से आत्माश्रय दोष होता है। अतः रुचिदत्त[3] ने व्यावृत्त-ज्ञान के कारण-ज्ञान के असाधारण विषय को सम्बन्ध कहा है। परन्तु 'प्रमेयत्व' आदि को भी जो सम्बन्ध मानते हैं उनके मत में प्रमेयत्व का ज्ञान व्यावृत्तज्ञान का कारण न होने से अव्याप्ति दोष होता है।[4] पक्षधर[5] (जयदेव) के अनुसार 'अविशिष्ट-ज्ञान का कारण न होते हुए जो विशिष्ट-ज्ञान का कारण होता है वह सम्बन्ध है'। तथापि अतीन्द्रिय संयोग में तथा कालिक-स्वरूप सम्बन्ध में उक्त लक्षण घटित न होने से वह त्याज्य है। अतः इस लक्षण को छोड़ कर विशेषणज्ञान से जन्य ज्ञान का जो असाधारण विषय है वह संसर्ग है ऐसा स्वीकार करना उचित है। इसका तात्पर्य यह है कि विशिष्टज्ञान के लिये विशेषण का ज्ञान कारण होता है। 'दण्डी' यह ज्ञान दण्ड के ज्ञान के बिना नहीं होता है। 'दण्डी' इस ज्ञान के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय दण्ड और दण्ड का आश्रय (पुरुष) होने पर भी उसका असाधारण विषय दण्ड और पुरुष के बीच में प्रतीत होने वाला संयोग सम्बन्ध है। इस प्रकार विशिष्टबुद्धि का विषय सम्बन्ध भी होता है तथा उसमें संसर्गता भी होती है और इस प्रकार की संसर्गता यह विषयता का ही एक भेद है।

कुछ नैयायिक संसर्ग को विशिष्ट-बुद्धि का विषय नहीं मानते हैं। उनके अनुसार 'यह घट है' इस ज्ञान के पश्चात् "मैं समवाय को जानता हूँ" इस प्रकार का अनुव्यवसाय (पश्चात्-वर्ति ज्ञान) नहीं होता है, अपितु "मैं घट को जानता हूँ" इस प्रकार का अनुव्यवसाय होता है। 'समवायं जानामि' (मैं समवाय को जानता हूँ) यह अनुव्यवसाय समवायत्व से युक्त (समवाय) के वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) को व्यक्त करने वाला होने से वह समवायत्व प्रकार वाले ज्ञान के पश्चात् ही हो सकता है, घटत्व प्रकार वाले ज्ञान के पश्चात् नहीं।

'परन्तु यदि संसर्ग को विशिष्ट-बुद्धि का विषय न मानें तो बाध-ज्ञान में प्रतीत होने वाली प्रतिबन्धकता सम्बन्ध-विशेष से नियमित नहीं होगी। और उससे तन्तु में संयोग सम्बन्ध से प्रतीत होने वाला पट के अभाव का निश्चय तन्तु में संयोग सम्बन्ध से प्रतीत होने वाले पट के ज्ञान का विरोधी होता है, तन्तु में होने वाले सभी प्रकार के पटज्ञान का विरोधी नहीं होता है इस अनुभव का विरोध होगा। अतः प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव की व्यवस्था के लिये विशिष्ट-बुद्धि को सम्बन्ध-विषयक मानना आवश्यक है।

उसी प्रकार ज्ञान का प्रमात्व या भ्रमत्व सम्बन्ध-विशेष से नियमित होने के कारण भी विशिष्ट-बुद्धि को सम्बन्ध-विषयक मानना आवश्यक है। भ्रमत्व और प्रमात्व को सम्बन्ध-विशेष से नियमित न मानें तो क्या होगा? ऐसा मानने का कारण यह है कि कपाल विशेष्य-वाला और घट प्रकार-वाला कोई ज्ञान तो भ्रम है और कोई ज्ञान प्रमा है। इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि 'कपाल समवाय सम्बन्ध से घटवाला है' यह ज्ञान प्रमा है तथापि 'कपाल संयोग सम्बन्ध से घटवाला है' यह ज्ञान भ्रम है। सम्बन्ध को विशिष्ट-बुद्धि का विषय न मानने पर कपाल समवाय सम्बन्ध से घटवान् है ऐसा ज्ञान होने पर सभी घटवान ज्ञान प्रमा होने चाहियें, और कपाल संयोग सम्बन्ध से घटाभाववान् होने से सभी ज्ञान भ्रम होने चाहिये। लेकिन ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता।

संसर्गता-रूप विषयता को अलग न मानने पर ज्ञान को प्रमा और भ्रम के भेद से भिन्न सिद्ध करना सम्भव नहीं होगा। रज्जु में जब सर्प का ज्ञान होता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तब वहाँ भी सर्पत्व से युक्त रज्जु में उक्त ज्ञान की विषयता विद्यमान होती है। लेकिन वैसे ही वह सत्य सर्प के ज्ञान की दशा में भी विद्यमान होती है। अतः संसर्गता रूप विषयता को स्वतन्त्र मानना आवश्यक है। असत्य सर्प–स्थल में सर्पत्व का सम्बन्ध रज्जु के साथ न होने से वह ज्ञान प्रमा ज्ञान से भिन्न है। याने सत्य सर्प–स्थल में सर्पत्व का सम्बन्ध सर्प से होता है तो असत्य सर्प–स्थल में सर्पत्व का सम्बन्ध सर्प से न हो कर रज्जु में होता है और इसलिये ये दो ज्ञान प्रकारतः भिन्न हैं।

कुछ नैयायिक संसर्गता को विषयता का एक प्रकार न मान कर अवच्छेदकता का एक प्रकार मानते हैं और उसे सांसर्गिकी (सम्बन्ध–विषयक) अवच्छेदकता कहते हैं। इनके मतानुसार संसर्ग में रहने वाली प्रकारता की अवच्छेदकता को प्रकारता से निरूपित सांसर्गिक विषयता के रूप में परिभाषित करने पर संसर्ग में विशिष्ट–बुद्धि की विषयता आ जाती है यह कथन उचित नहीं है। प्रकारता से निरूपित होनेवाली संसर्गता में रहने वाली अवच्छेदकता स्वरूप सम्बन्ध–रूप या अतिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकार करने पर उसे विषयता का प्रकार न मान कर अवच्छेदकता का प्रकार ही मानना उचित है।

परन्तु गदाधर[७] का विचार है कि यदि संसर्ग को विशिष्टबुद्धि का विषय नहीं मानेंगे तो उस सम्बन्ध वाले पदार्थ के ज्ञान से उससे विशिष्ट (याने सम्बध्द) वस्तु का ज्ञान नहीं होगा और उस सम्बन्ध का उपनीत भान (ज्ञान लक्षण से होने वाला प्रत्यक्ष) नहीं होगा। अतः संसर्ग को विशिष्ट–बुद्धि का विषय मान कर संसर्गता को भी विषयता का एक भेद मानना आवश्यक है।

'भूतल घटवान् है' इस प्रतीति से प्रतीत होने वाली तथा घट में रहने वाली आधेयता (वृत्तिता) का नियामक सम्बन्ध संयोग सम्बन्ध होता है। वही संयोग सम्बन्ध 'भूतल पर घट नहीं है' इस प्रतीति से प्रतीत होने वाले घट के अभाव की घट में होने वाली प्रतियोगिता का भी नियामक होता है। संयोग सम्बन्ध में रहने वाली जो इस प्रकार की संसर्गता-रूप प्रतियोगिता की अवच्छेदकता या नियामकता है उसका नियामक धर्म संयोगत्व होता है। उसे संसर्गतावच्छेदक भी कहते हैं। परन्तु संसर्गता का नियामक दूसरा कोई संसर्ग नहीं होता है। संसर्गता का नियामक दूसरा संसर्ग है ऐसा स्वीकार करने पर अनवस्था दोष उत्पन्न होता है। जैसे 'घटवान् भूतल' में घट और भूतल के बीच में होने वाले संसर्ग के रूप में संयोग की प्रतीति होती है। लेकिन संयोग गुण होने से वह अपने आश्रय (संयोगिन्) के साथ समवाय सम्बन्ध से रहता है। इसलिये उक्त संयोग सम्बन्ध में रहने वाली संसर्गता को समवाय सम्बन्ध से नियमित मानने पर उक्त समवाय सम्बन्ध में रहने वाली संसर्गता को स्वरूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्ध से नियमित तथा उक्त स्वरूप सम्बन्ध में रहने वाली संसर्गता को अन्य सम्बन्ध से नियमित मानना होगा। तथापि ऐसा स्वीकार करने से अनवस्था दोष होता है। अत: नैयायिक विशिष्ट प्रतीति में संसर्ग का भान तो स्वीकार करते हैं, परन्तु संसर्ग के संसर्ग का भान स्वीकार नहीं करते और इसलिये संसर्गता अन्य संसर्ग से नियमित नहीं मानते।

तथापि वे सम्बन्ध की प्रतियोगिता उसकी (सम्बन्ध की) अनुयोगिता स्वीकार करते हैं। जैसा कि पूर्व लेखों में कहा जा चुका है कि अभाव के समान ही संसर्ग का एक प्रतियोगी तथा दूसरा (सम्बन्धी) अनुयोगी होता है। और खास कर जिस सम्बन्ध के सम्बन्धियों में आधार-आधेय भाव रहता है वह सम्बन्ध उस सम्बन्ध के अनुयोगी में रहता है (याने अनुयोगी के आधार पर अधिष्ठित होता है) ऐसा कुछ लोग मानते हैं। [८]

तथापि 'घटवान् भूतल' इस प्रत्यय में संयोग का उल्लेख न होने से संयोग में (घट और भूतल के बीच में होने वाले संयोग में) जो संसर्गता है वह किसी सम्बन्ध से नियमित हो कर प्रतीत नहीं होती है, यद्यपि उक्त संयोग उस के संयोगी में समवाय सम्बन्ध से (क्योंकि उनमें आधाराधेय भाव है) होने पर भी उक्त प्रतीति में संयोग का प्रत्यय अन्य सम्बन्ध के प्रत्यय के बिना ही होता है। 'घटसंयोगी भूतल है' यह प्रत्यय होने पर संयोग का (याने संयोग संबंध से संबंधित संयोगियों का) सम्बन्ध समवाय प्रतीत होता है क्योंकि इस प्रत्यय में संयोग का प्रत्यय सम्बन्ध का प्रत्यय न हो कर 'प्रकार' का प्रत्यय है तथा यहाँ संसर्ग का प्रत्यय समवाय का प्रत्यय है।

'घटवद् भूतलम्' इस प्रत्यय में संयोग का सम्बन्ध समवाय प्रतीत न होने पर भी उसके अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता और समवाय संसर्ग होने से उसमें होने वाले संसर्गता के अस्तित्व का भी निषेध नहीं किया जा सकता। तथापि उक्त संसर्ग प्रतीति का विषय न होने से उक्त समवाय सम्बन्ध में रहने वाली संसर्गता विषयता-रूप नहीं है। वह अलग प्रकार की ही संसर्गता है।

कुछ नैयायिकों [९] का विचार है कि जहाँ विशिष्ट-बुद्धि अर्थात् विशेष्य-विशेषण भाव या आधाराधेय-भाव-बुद्धि नहीं होती है वहाँ पर भी सम्बन्ध का ज्ञान होता है। उस सम्बन्ध में रहने वाली संसर्गता भिन्न प्रकार की ही संसर्गता है जो सम्बद्ध-बुद्धि का विषय होती है तथा प्रतियोगिता और अनुयोगिता से निरूप्य भी होती है। उक्त संसर्गता में रहने वाला संसर्गतात्व एक पृथक् अखण्ड धर्म है। उस संसर्गता में विशिष्ट-बुद्धि का नियामकत्व नहीं है, क्योंकि जहाँ अधिकरण-तार्थक 'मतुप्' आदि प्रत्ययों का प्रयोग होता है वहीं विशिष्ट-बुद्धि उत्पन्न होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार की विशिष्ट-बुद्धि में विशेषण आधेय के रूप में तथा विशेष्य अधिकरण के रूप में प्रतीत होता है। परन्तु दो भेडों की टक्कर में या दो पहलवानों की टक्कर में जो संयोग है उसमें दोनों ही भेडों या पहलवानों में से कोई भी आधार या आधेय नहीं है। इसके बावजूद संयोग तो वहाँ प्रत्यक्ष-सिद्ध है। इसलिये उक्त सम्बन्ध में संसर्गता तो अवश्य माननी ही पडेगी, क्योंकि दो भेडों की टक्कर होने पर एक भेड प्रतियोगी और दूसरा उसके अनुयोगी के रूप में भासित होता है। इसलिये उक्त प्रतियोगिता और अनुयोगिता से प्रदर्शित होनेवाली संसर्गता उक्त संयोग में मानना अनिवार्य है। वह संसर्गता भी विषयता-रूप है क्योंकि सम्बन्ध उक्त ज्ञात का विषय है।

संसर्गता को जो सांसर्गिक अवच्छेदकता के रूप में ग्रहण करते हैं उनमें से यज्ञपति उपाध्याय के अनुयायी संसर्ग के संसर्ग का भी प्रत्यय होता है ऐसा मानते हैं। उनके मत में उक्त संसर्गता सम्बन्धावच्छिन्न होती है। परन्तु जो सम्बन्ध को प्रतीति का विषय नहीं मानते उनके मत में संसर्गता सम्बन्ध से नियमित नहीं होती है।[10]

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि विशिष्ट-बुद्धि की विषयता तीन पदार्थों में होती है : प्रकार में प्रकारता-रूप, विशेष्य (आश्रय) में विशेष्यता-रूप, तथा संसर्ग में संसर्गता-रूप। अब प्रश्न यह है कि इनमें परस्पर कोई सम्बन्ध है या ये पूर्णतया स्वतंत्र हैं ? नैयायिक[11] मानते हैं कि संसर्गता के साथ प्रकारता और विशेष्यता का निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध होता है। प्रकारता से निरूप्य संसर्गता होती है तो संसर्गता निरूप्य कहलाती है और प्रकारता निरूपक कहलाती है। जब संसर्गता से निरूप्य प्रकारता होती है तो संसर्गता निरूपक तथा प्रकारता निरूप्य कहलाती है। प्रकारता और संसर्गता में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। याने, दोनों ही एक दूसरे की निरूप्य और निरूपक होती हैं। उसी प्रकार विशेष्यता के साथ भी संसर्गता का निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। विशेष्यता से निरूपित संसर्गता और संसर्गता से निरूपित विशेष्यता होती है।

उनमें जो यह निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध है वह कार्यत्व, कारणत्व, आधारत्व आदि सम्बन्धों के समान ही स्वरूप सम्बन्ध का प्रकार है या अतिरिक्त पदार्थ है ?[12] यदि संसर्गता को प्रकारता से निरूपित न मानें तो 'उस सम्बन्ध से तत्प्रकारक' की व्याख्या करना दुष्कर है।

'तेन सम्बन्धेन तत्प्रकारक' (उस सम्बन्ध से तत्प्रकार वाले) की व्याख्या 'उस सम्बन्ध-वाला होते हुए उस (वस्तु) में रहनेवाली विशेष्यता से निरूपित तत्प्रकार-वाला' ऐसी करने पर 'भूतल पर घट है' यह संयोग सम्बन्ध से होने वाला घटज्ञान तथा समवाय सम्बन्ध से रूप है यह रूप-विषयक ज्ञान भूतल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में संयोग सम्बन्ध से रूप-प्रकारक तथा समवाय सम्बन्ध से घट-प्रकार वाला माना जायगा। संसर्गता को निरूपक और प्रकारता को निरूप्य मानने पर भूतल में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित संयोग सम्बन्ध में रहने वाली संसर्गता से निरूपित घट में रहने वाली प्रकारता का प्रतियोगी होना ही उक्त ज्ञान का उस सम्बन्ध से तत्प्रकारकत्व कहलाता है। जहाँ पर जिसका जो सम्बन्ध प्रतीत होता है उसकी विशेष्यता और उसी की प्रकारता से उस सम्बन्ध में रहने वाली संसर्गता निरूपित होती है। जब भूतल पर संयोग में रहने वाली संसर्गता भूतल में रहने वाली विशेष्यता और घट में रहने वाली प्रकारता से निरूपित होती है, संयोग में रहने वाली संसर्गता कपाल में रहने वाली विशेष्यता और घट में रहने वाली प्रकारता से निरूपित नहीं होती है। उसी प्रकार समवाय में रहने वाली संसर्गता कपाल में रहने वाली विशेष्यता और घट में रहने वाली प्रकारता से निरूपित होती है, भूतल में रहने वाली प्रकारता और घट में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित नहीं होती है।

प्रकारता सम्बन्ध से नियमित होती है इसलिये विशेष संसर्ग से नियमित विशेष प्रकारता से निरूपित विशेष विशेष्यता-वाला होना ही उस सम्बन्ध से विशेष प्रकार-वाला होना है ऐसा क्यों न माना जाय? इसका उत्तर यह है कि संसर्ग से नियमित होने का अर्थ है संसर्ग में रहने वाली अवच्छेदकता का निरूपक होना और चूंकि संसर्गता संसर्ग में रहने वाली अवच्छेदकता है अत: उक्त अवच्छेदकता-रूप संसर्गता का निरूप्य-निरूपक-भाव स्वयं-सिद्ध है।

अब यहाँ दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि प्रकारता और संसर्गता के बीच में निरूप्य-निरूपक-भाव-भाव हो, परन्तु विशेष्यता और संसर्गता के बीच में निरूप्य-निरूपक-भाव क्यों माना जाय? इसका उत्तर यह है कि प्रकारता और विशेष्यता इन दोनों में से किसे संसर्गता का निरूपक मानें और किसे न मानें इसके सम्बन्ध में उनमें से एक का पक्षपात करनेवाली कोई युक्ति नहीं है। अत: इस प्रकार की विनिगमना (एकतर पक्षपातिनी युक्ति:) न होने से दोनों को ही संसर्गता का निरूपक मानना उचित है।

विशेष्यता और प्रकारता में भी जो निरूप्य-निरूपक-भाव है वह भी साक्षात् नहीं है, संसर्गता के द्वारा होता है। प्रकारता, विशेष्यता से निरूपित संसर्गता से निरूपित होती है, उसी तरह विशेष्यता भी प्रकारता से निरूपित संसर्गता से निरूपित होती है। इसलिये प्रकारता से निरूपित होने का अर्थ है प्रकारता से निरूपित संसर्गता से निरूपित होना, तथा विशेष्यता से निरूपित प्रकारता होने का अर्थ है विशेष्यता से निरूपित संसर्गता से निरूपित प्रकारता का होना।

कार्य-कारण-भाव के प्रसंग में जहाँ प्रकारता और विशेष्यता का उल्लेख

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है वहाँ संसर्ग का उल्लेख अवश्य होता है। अन्यथा कोई भी कार्य-कारण-भाव सही नहीं होगा। अतः संसर्गता और प्रकारता एवं विशेष्यता के बीच में निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध मानने में कोई गौरव दोष नहीं है।

कुछ लोग संसर्गता को विषयता का भेद नहीं मानते। उनका कहना है कि जब हम "रूपवान् घटः" ऐसा सुनते हैं तो हमें सम्बन्ध की कोई प्रतीति नहीं होती है, क्योंकि उसमें सम्बन्ध का कोई उल्लेख नहीं है। ससर्ग को प्रतियोगिता का अवच्छेदक मान लेने से ही प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव समझने में कोई बाधा नहीं होती है। परन्तु यह मत समीचीन नहीं है, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर भूतल संयोग सम्बन्ध से घटवान् है समवाय सम्बन्ध से घटवान् है, कालिक सम्बन्ध से घटवान् है इन प्रतीतियों मे कोई भेद नहीं किया जा सकेगा। अतः संयोग, समवाय आदि विषयताओं के आधार पर ही उक्त प्रतीतियों में भेद किया जा सकता है। इस प्रकार संसर्गो में रहने वाली संसर्ग-विषयता ही संसर्गता-रूप विषयता है।

अग्रिम लेखों में विषयता के ही विधेयता, उद्देश्यता आदि अन्य भेदों का विवेचन किया जायगा।

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे – ४११००७

बलिराम शुक्ल

टिप्पणियाँ

१. गदाधर; विशेष्यता प्रकारतावत् संसर्गत्वस्यापि विषयताविशेष्यताकत्वात् संसर्गस्यापि विशिष्टधीविषयत्वम्। **विषयतावादे**

२. गंगेशोपाध्याय; अविशिष्टव्यावृत्त विशिष्टधीनियामकस्य सम्बन्धः। **तत्त्वचिन्तामणि, प्रत्यक्षखण्डे**

३. व्यावृत्तधीकारणज्ञानासाधारणविषयत्वं सम्बन्धत्वमित्यस्य विवक्षितत्वादिति वदन्ति। **तत्त्वचिन्तामणिप्रकाशस्य प्रत्यक्षखण्डे**

४) तच्चिन्त्यम्। प्रमेयत्वादिसम्बन्धेऽव्याप्तेः न हि तद्विषया धीर्व्यावृत्तधीहेतुः। **तत्रैव**

५. तथा च विशिष्टबुद्ध्यजनकत्वे सति विशिष्टबुद्धिजनकत्वम्। **तत्रैव**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६. गदाधर; अत्रोच्छृंखला: संसर्गस्य विशिष्टधीविषयत्वे मानाभाव: घट इत्यादि ज्ञानान्तरं समवायं जानामीत्याद्याकारकानुव्यवसायसिद्धत्वात्। विषयतावादे
७. अथ संसर्गस्य विशिष्टबुद्ध्यविषयत्वे तत्संसर्गज्ञानात् तद्विशिष्टबुद्धि तदुत्पत्तिभावानुदयप्रसङ्ग: । तत्रैव
८. अनुयोगिनिष्ठस्यैव सम्बन्धत्वात् । तत्रैव
९. काशिकानन्द; यत्र नास्त्याधाराधेयभावो न वा विशेष्यविशेषणभाव-नियमस्तत्रापि एतद्वयादौ सम्बन्धबुद्धिर्भवति । न्यायसिद्धान्तरत्न-मालायाम् ।
१०. भट्टाचार्यप्रभृतयस्तु संसर्गतामुपेत्यापि संसर्गतावच्छेदकत्वाख्य-विषयत्वं न मेनिरे। वहीं
११. गदाधर; संसर्गतया च समं प्रकारतायाविशेष्यतायाश्च निरूप्यनिरूपकभावाख्यसम्बन्धविशेषोऽभ्युपगन्तव्य: । विषयतावादे
१२. स च सम्बन्ध: कार्यत्वकारणत्वाधेयत्वाधारत्व प्रतियोगित्वानुयोगित्वादीनां मिथ: तादृश सम्बन्ध इव स्वरूपविशेष: पदार्थान्तरमेव वा । वहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रसस्वरूपविचार

वैदिक चिंतन में वाक् को सब चीजों की जननी कहा गया – 'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे' (ऋ.)। यह वाक् शब्द रूप है। (यः कश्चन शब्दो वागेव सा – बृहदा १.५.३) और अर्थ इसका सखा है – इसमें संपृक्त है – 'यस्तित्याज सचिविदं सखायं न वाच्यपि भागोऽस्ति। (ऋ. १०.७१.६)

सृष्टि के मूल–तत्त्व के रूप में वाक् सर्वत्र व्याप्त और अनुस्यूत है। (यावत्येव वाक् तावती पृथिवी – बृहदा. १.५.११) शब्दार्थ युग्मरूप अभिव्यक्ति इसी मूल–तत्त्व से होती है। काव्य के क्षेत्र में यह अभिव्यक्ति रस या रसास्वाद में परिणत होती है। यह वाक्–तत्त्व सिसृक्षा के रूप में मनुष्य के भीतर विराजित है। सिसृक्षा मनुष्य को एकाकी नहीं रहने देती, उसे समाज से, विश्व से और अनंत से जोड़ती है।

सिसृक्षा के अगणित रूप हो सकते हैं। कविता के क्षेत्र में यह सिसृक्षा "वाक्" बन जाती है।

नाट्यशास्त्र, काव्यशास्त्र में सिसृक्षा रूप वाक् की परिणतियों का प्रतिभा-तत्त्व के विवेचन में विचार किया गया और इसकी शब्दार्थयुग्म में अभिव्यक्ति और उसके प्रभावों का रसतत्व के अन्तर्गत विचार किया गया।

इसलिये रस के प्रसंग में आज विचार करते समय इस परंपरा को दृष्टि में रखना आवश्यक है कि भरत से लेकर बाद के आचार्यों की अवधारणाओं में वैदिक वाक्तत्त्व का स्वरूप अवगत था। भरत कहते हैं –

वाङ्मयानीह शास्त्राणि वाङ्निष्ठानि तथैव च।
तस्माद् वाचः परं नास्ति वाग् हि सर्वस्य कारणम्॥

(ना. शा. १४.३)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसी स्थिती में आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि रस की व्याख्या करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त तथा पंडितराज जगन्नाथ यही उपनिषद् वाक्य उद्धृत करते हैं – "रसो वै सः." । निश्चय ही रस की एक अवधारणा वैदिक संहिताओं से चल कर औपनिषदिक चिन्तन में संक्रांत हुई थी और नाटचशास्त्र एवं काव्य, शास्त्र के आचार्यों ने एक स्तर पर अपने प्रस्थान के रस को इस मूल उत्स की धारा से जोड़ना चाहा था।

यदि रस–विषयक चिंतन की मूल परंपरा वेद से उपक्रांत हुई हो, तो भी कला के क्षेत्र में रस और रसानुभूति का स्वरूप वही का वही नहीं रह सकता था, जो वैदिक या औपनिषदिक चिंतन में हम देखते हैं। उपनिषदों का रस एक परम सत्ता की स्वयं को व्यक्त करने की स्थिति है। आनंद इसका स्वरूप है।

रसविचार की इस आदिम परंपरा से हमें "रस" का मूल स्वरूप प्राप्त अवश्य हो जाता है। रस व्यक्ति–चैतन्य के संकीर्णताओं से मुक्त हो कर अनन्त से जुड़ने की स्थिति है। इसलिये उसे व्यक्तिसत्ता का लोकसत्ता में लय कहने में क्षति नहीं है।

इस वैदिकोपनिषदिक परंपरा के अवबोध के होते हुए आचार्य भरत जब रस का स्वरूप समझाने लगते हैं, तो वे इसे अतींद्रिय अनुभव के रूप में नहीं; इस लोग की कारण–सामग्री से जन्म लेने वाले पदार्थ के रूप में प्रस्तुत करते हैं। जिसका आस्वाद लिया जाय वह पदार्थ रस है। विभावानुभावव्यभिचारी की सामग्री का संयोग इसकी निष्पत्ति के लिये वैसे ही होता है जैसे गुड़ आदि द्रव्यों के साथ विभिन्न मिर्च–मसाले डाल कर भोजन में कई तरह के रस निष्पन्न होते हैं। विभिन्न व्यंजनों से संस्कृत अन्न का भोग कर संसार में जैसे लोग रसों का आस्वादन कर हर्ष आदि का अनुभव करते हैं, वैसे ही विभिन्न भावों से व्यंजित स्थायिभावों का सहृदय–जन नाट्च देखते हुए आस्वादन करते हैं और हर्ष आदि का अनुभव करते हैं।

(नाट्चशास्त्र, अ. ६, पृष्ठ २८७–८)

इतने विवेचन के पश्चात् भरत यहाँ यह भी जोड़ते हैं कि यह सारी प्रक्रिया नाट्च के अवलोकन के समय जन्म लेती है – इसलिए इसमें निष्पन्न रस नाट्चरस कहे जा सकते हैं। भरत ने नाट्च को एक यज्ञ के रूप में समझा है और नाट्चयज्ञ से निष्पन्न पदार्थ की प्रक्रिया भोजन में गृहीन आस्वाद से इसलिये समझाई है कि जिस सांस्कृतिक परिवेश में वे जी रहे थे, उसमें भोजन करने की सारी प्रक्रिया यज्ञ से अभिन्न समझी जाती थी। भोजन के भोग की प्रक्रिया यदि एक यज्ञिक प्रक्रिया है, तो यज्ञ के फल के समान उसका फल भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदृष्ट होना चाहिये और इसी प्रकार नाट्ययज्ञ का फल भी। नानाव्यंजनों से संस्कृत अन्न से प्राप्य आस्वाद–मात्र भोजन का फल नहीं है। आस्वादयिता को हर्ष आदि की प्राप्ति और उसके द्वारा उसे शरीर और चैतन्य का समुचित विकास उसका फल हो सकता है। इसी प्रकार नाट्यश में व्यंजनस्थानीय विभावादि के साक्षात्कार से निष्पन्न आस्वादमात्र इस नाट्ययज्ञ का फल नहीं है। इसका फल रस है। आस्वाद्यता का तत्त्व इस रस से अनुषक्त है, तभी इसे रस कहते हैं। पर परमार्थतः आस्वाद और रस ये दो अलग–अलग चीजें हैं।

आचार्य अभिनव कहते हैं कि भोजन में भी रसनाव्यापार ही अपने आप में आस्वादन नहीं है। आस्वादन एक मानसिक व्यापार है। (अभि. भा. १ पृ. २९) उसी तरह रस प्रक्रिया में रस की निष्पत्ति हेतु प्रयुज्यमान व्यापार; रस का आस्वाद और रस–ये तीन भिन्न–भिन्न तत्त्व हैं। प्रयुज्यमान व्यापार और आस्वाद ये तो लौकिक रूप में दृष्ट हैं, रस ही है जो अदृष्ट है।

रस इस अर्थ में अदृष्ट है कि वह अन्य लौकिक अनुभवों की तरह कुछ एक व्यक्तियों तक सीमित नहीं है। रसेतर प्रत्येक लौकिक अनुभव अलग–अलग प्रमाताओं को पृथक्-पृथक् भासित होता है। रस अपनी परिणति में मूलतः सबके लिये एक है। भरत नाट्य को इसलिये 'सार्ववर्णिक पंचम वेद' कहते हैं। नाट्य सबके लिये–सारे समाज के लिये – है–और इसका फल –रस–भी सबके लिये है। भोजन के भोग-काल में ही आस्वाद होता है, पर उसका फल भोग-काल के आगे धीरे-धीरे प्रकट होता है। नाट्य में विभावादि के साक्षात्कार के क्षणों में आस्वाद रहता है, पर नाट्य का वास्तविक फल रस तो नाट्ययज्ञ के अनुष्ठान के आगे है, वह व्यक्ति, देश और काल की सीमाएं लांघ कर स्वयं को विस्तारित करता है। इस अर्थ में वह अनन्त और अलौकिक है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि 'रस' इस दुनिया के बाहर का कोई पारलौकिक अनुभव है। उसकी अलौकिकता प्रमाता को व्यक्ति, देश, काल की संकीर्ण सीमाओं को लाँघ कर सारे समाज से एकाकार होने की क्षमता दे पाने में है। रस के अनुभव में व्यक्ति समाज हो जाता है। यही वह स्थिति है, जिसको आचार्यों ने प्रमाता का परिमित प्रमातृत्व प्रमृष्ट होना और तद्वशात् 'वेद्यांतर सम्पर्कशून्य अपरिमित आनन्द' का उन्मिषित होना कहा है। भट्टनायक इसलिये भावकत्व व्यापार को 'निविडनिजमोहसङ्कटनिवारणकारी' कहते हैं।

क्या किसी भी कलाकृति का आस्वाद हर बार एक सा हो सकता है? निश्चय नहीं। क्या अलग–अलग लोग एक कविता से एक सा आस्वाद पाते हैं? इसका उत्तर भी नकारात्मक होगा। इसलिये दशरूपककार धनंजय काव्यजन्य आस्वाद की चार कोटियाँ मानते हैं–विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप। अलग–

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलग रसों में आस्वाद का प्रकार अलग–अलग होता है। यहीं पर धनंजय इस आस्वाद की प्रक्रिया में " काव्यार्थसम्भेद " की बात करते हैं। वृत्तिकार धनिक कहते हैं कि विभावादि संसृष्ट स्थाय्यात्मक काव्यार्थ का भावक के चित्त में संभेद या अन्योन्य संवलन होता है (दशरू. ४.४४)। निश्चय ही संभेद या संकलन की यह स्थिति जटिल और मिश्रीकृतक्रम वाली स्थिति है। चित्त में परस्पर विरोधी अनेक तत्त्वों का एक साथ आलोडन–विलोडन होता है। भवभूति इसी दृष्टि से कहते हैं – " मिश्रीकृतक्रमो रसो वर्तते "। रस का स्वरूप ही ऐसा है। उसमें अनेक विरोधी भावों का संभेद या संवर्त होता है। जितना गहरा और जटिल यह संभेद बन सकता है, उतनी ही रचना बड़ी कही जायेगी। महान् रचना सदैव भावक के चित्त में आस्वाद काल में ऐसा भावों का अन्योन्यसंवलनात्मक संवर्त रचती है, जिसकी छाप उसके चित्त पर विभावादि कारण सामग्री की निवृत्ति और आस्वाद के अवसान के बाद भी बनी रहती है।

इसीलिये रसास्वाद का स्वरूप हर्षमय नहीं कहा जा सकता। केवल प्रहर्षित करके चुक जाने वाली रचना में रस नहीं है। नाना व्यंजनों के संमिश्रण से निर्मित भोज्य सामग्री का आस्वाद भी मात्र हर्षजनक नहीं होता। नाना विभावादि के संयोग से जन्य आस्वाद भी ऐसा ही है। इसीलिये आचार्य भरत दोनों के लिये " हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति " कहते हैं – दोनों ही स्थितियों में मात्र हर्ष नहीं मिलता, हर्ष आदि विभिन्न भावों का संभेद बनता है। हर्ष के आगे भरत ने यह जो " आदि " जोड़ दिया है, उसकी व्याख्या के दो विकल्प आचार्य अभिनवगुप्त ने सुझाये हैं – एक विकल्प उन आचार्यों की परंपरा देती है, जो आस्वाद को सुखःदुःख संमिश्रण अनुभव मानते हैं। दूसरी परंपरा केवल सुखवादी आचार्यों की है, जो हर्ष के आगे जुड़े इस " आदि " से कुछ परेशान लगते हैं। वे इस " आदि " को हटा कर " हर्षांश्चाधिगच्छन्ति " यही पाठ लेना पसंद करते हैं।

आस्वाद को सुखदुःखसंकुल मिश्रीकृतक्रम दशा मानने वाले ये आचार्य कौन हैं? इस दृष्टि से हमारा ध्यान सर्वप्रथम शंकुक के विवेचन की ओर जाता है। शंकुक कहते हैं कि रसास्वाद काल में परस्पर विरुद्ध मंतव्यों का संभेद बनता है। यह संभेद संप्लव को जन्म देता है, पर आस्वादयिता इस संप्लव का विवेक नहीं कर पाता।

(अभि. भा. भा. १, पृ. २७३ पर उद.)

शंकुक अनुमितिवादी होते हुए भी रसानुभव को ऐसे संप्लव के रूप में देखते हैं, जो युक्ति से समझा नहीं जा सकता। इस संप्लवात्मक अनुभव को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भवभूति " आवर्त – बुदबुद – तरङ्गमय – विकार " संकुल जलधि के रूप में निरूपित करते हैं। भवभूति के लगभग समकालीन आचार्य वामन ऐसे करुणरस प्रधान रूपकों का उल्लेख करते हैं, जिनमें सुख–दुःख का संप्लव बनता है। – (काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ३.१.८–९)

इस रस के संप्लव का स्वरूप क्या है ? क्या यह एक मानसिक विकार मात्र है जैसा शारदातनय समझते हैं ? (विकारो मानसो यस्तु बाह्यार्थालम्बनात्मकः, विभावाद्याहितोत्कर्षो रस इत्युच्यते बुधैः – भा. प्र. ३.३७, ९–१०) या फिर जो सांख्यदर्शन की प्रकृति सुखदुःखमोहैकस्वभावा है, उसी की सृष्टि का एक अनुभव होने से ही इसे सुखदुःखमय माना जाय, जैसा अभिनवगुप्त ने उल्लेख किया है ? (सांख्यदृशा सुखदुःखस्वभावो रसः – अभि. भा. भा. १, पृ. २६७)। यों तो रस को सुखदुःखस्वभाव मानने वाले आचार्यों की परंपरा भी लम्बी है। (शृं. प्र. भा. २, पृ. ३६९) रामचन्द्र–गुणचन्द्र तो स्पष्ट कहते हैं कि भयानक, बीभत्स, करुण तथा रौद्र – ये रस दुःखात्मक हैं, इनमें पाठक या प्रेक्षक की प्रवृत्ति कविकौशल या नटकौशल के कारण होती है।

रसानुभव में दुःखानुवेध का अपलाप नहीं किया जा सकता। संसार में होने वाले दुःखों से इसका भेद उस संभेद या संप्लव के कारण है, जिसकी चर्चा शंकुक और वामन करते हैं। रोजमर्रा के अन्य अनुभवों में भी संभेद की स्थितियाँ आती हैं, पर वे आस्वाद का माध्यम नहीं बन पातीं। " विरुद्धबुद्धिसम्भेदादविवेचितसम्प्लवः " की स्थिति भवभूति की सीता के चित्त की हो जाती है, जब वे बारह वर्षों के बाद राम को देखती हैं –

तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवशात्
वियोगे दीर्घेऽस्मिन् झटिति घटनात् स्तम्भितमिव।
प्रसन्नं सौजन्याद् दयितकरुणैर्गाढकरुणं
द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन् क्षण इव ॥

इतने वर्षों बाद राम को सहसा सामने पाकर सीता ने पहले जी को कड़ा करके तटस्थ बनाया है। जो अप्रिय राम ने उनके प्रति किया है उसके कारण उनके मन में कोसलापन भी है राम के लिये। राम को सहसा यों देख उनका मन स्तब्ध भी रह गया है। उनके उसी सौजन्य को समझ कर वे प्रसन्न भी हुई हैं और उनकी करुणा ने गहरी करुणा उनके भीतर भर दी है। अंततः हृदय प्रेम से द्रवीभूत हो गया है। यह परस्पर विरोधी भावों का संघट सीता के मन में है, जो भवभूति की दृष्टि से तो एक ही रस के विवर्त हैं। सीता ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस स्थिति का वरण नहीं किया है, न वे इस विरुद्धबुद्धिसम्भेदजन्यसम्प्लव का अनुभव करना चाहती थी, न उन्हें इसमें आस्वाद मिला । प्रेक्षक सीता के पात्र को देखना चाहता है, वह सीता के दुःख का वरण करता है, वह उनके जी में उठते नैराश्य, शोक, सौजन्य और असूया के आवर्त–विवर्त से बने संवर्त का अनुभव करता है और उससे आस्वाद पाता है ।

पाठक या प्रेक्षक क्यों राम या सीता के गहरे विषाद का अनुभव करना चाहता है ? कुछ आचार्य वस्तुस्थिति को अन्यथा समझ कर विषादातिशय के चित्रण में भी पाठक या प्रेक्षक को सुखानुभूति से सरोबोर होता हुआ समझते हैं, जो ठीक नहीं है । राम के विकट अतर्द्वंद्व और प्रगाढ़ शोक को देख कर किसे सुख होगा ? क्या सीता की भावशबलता की उक्त स्थिति हमें सुखानुभूति से उच्छ्वासित कर सकती है ? इसलिये पंडितराज जगन्नाथ का परमत के निरूपण में यह कहना कि करुण रस के स्थलों में प्रेक्षकों के अश्रुपात आदि आनंदातिरेक से होते हैं–चित्त में नहीं उतरता, जब तक कि इस आनन्द का स्वरूप क्या है–यह स्पष्ट न किया जाय । इसी तरह रामचन्द्र गुणचन्द्र का यह कथन भी उचित नहीं लगता कि करुणरस की प्रस्तुति में पाठक या प्रेक्षक की प्रवृत्ति कविगत या नटगत कौशल के आकर्षणवश ही होती है । यदि मैं करुणरसप्रधान उत्तररामचरित पढ़ता या देखता हूँ तो क्या मात्र इसलिये कि उसमें भवभूति की भाषा-शैली प्रौढ़ है या राम तथा सीता का अभिनय करने वाले नट बड़े कुशल हैं ?

इसका निष्कृष्टार्थ यह हुआ कि करुण-सदृश रसों में दुःखानुभूति होती है। फिर भी भावक इस अनुभूति को बार-बार भावित करना चाहता है । ऐसा न तो इस कारण से होता है कि आरंभ में थोड़ा दुःख भले हो, पर पर्यन्त में इससे सुख ही होगा ऐसा भावक मान लेता है (इष्टस्याधिक्यादनिष्टस्य च न्यूनत्वाच्चन्दनद्रवलेपनादाविव प्रवृत्तेरुपपत्तेः– रसगङ्गाधर, पृ. १०८); और न काव्यकला या अभिनय-कौशल के कारण ही ऐसा होता है ।

भावक रससंश्लिष्ट दुःखानुभूति का वरण इसलिये करता है कि वह उसके व्यक्ति–रुचि को पूर्णता की ओर ले जाती है । वह राम के द्वंद्व की जटिलता और सीता की अनुभूतियों की संकुलता को समझना और पहचानना चाहता है, उसके माध्यम से वह अपने को और अपने समय को परिभाषित करता और समझता है। इस पूरी प्रक्रिया में यदि दुःख अनुविद्ध या संश्लिष्ट है, तो वह उसे भी भोगना चाहता है।

एक ही रस की भी दो अलग-अलग रचनाएँ एक सा आस्वाद नहीं देतीं। दशरूपककार तो रसभेद से आस्वादभेद मानते ही हैं। हर्ष की रत्नावली या राजशेखर की कर्पूरमंजरी भी शृंगाररस की कृतियाँ हैं और शाकुंतल भी। तीनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में 'रसराज' शृंगार अंगी है। पर क्या कर्पूरमंजरी हमें वह अनुभव दे सकती है, जो शाकुंतल देता है? जबकि शृंगार का उत्कट और उद्दाम प्रवाह उसमें शाकुंतल से अधिक है। निश्चय ही शाकुंतल शृंगाररस से उमचूम नाटिकाओं या सट्टकों की अपेक्षा श्रेष्ठ और महान् कृति है। और इसका कारण उसमें रस का संप्लव है। स्वप्नवासवदत्त, अभिज्ञान शाकुंतल, मृच्छकटिक, मुद्राराक्षस और उत्तररामचरित ये पाँच नाटक विश्व साहित्य के महान् क्लासिक इसलिये हैं कि रस की यह संप्लवात्मकता उनमें प्रारम्भ से लेकर अंतिम संवाद तक है। रस के इस संप्लव में परस्पर विरोधी भाव आ मिलते हैं, अनेक संचारी भाव संमिश्र होते हैं। या अनेक विरुद्ध रस सहचरित हो जाते हैं। आचार्यों ने इन स्थितियों पर रसध्वनि के अंतर्गत भावसंधि, भावशबलता आदि कहा है और विरुद्धरसों के संमिश्रण में विरोध-परिहार की पद्धति भी निर्दिष्ट की है। एक ही वाक्य में परस्पर विरोधी रस आ मिलते हैं और विरोधपरिहार संभव है। आनन्दवर्धन और मम्मट दोनों इसके लिये निम्नलिखित उदाहरण देते हैं, जो युद्धभूमि में मरते हुए और स्वर्ग पहुँचते वीरों का वर्णन है—

भूरेणुदिग्धान्नवपारिजातमालारजोवासितबाहुमध्याः
गाढं शिवाभिः परिरम्यमाणान् सुराङ्गनाश्लिष्टभुजान्तरालाः,
सशोणितैः क्रव्यभुजां स्फुरद्भिः पक्षैः खमानामुपवाज्यमानान्
संवीजिताश्चन्दनवारिसेकैः सुगन्धिभिः कल्पलतादुकूलैः
विमान-पर्यङ्कतले निषण्णाः कौतूहलाविष्टतया तदानीम्
निर्दिश्यमानान् ललनाङ्गुलीभिर्वीराः स्वदेहान् पतितानपश्यन्।

(नवपारिजातमाला से सुगंधित भुजमध्य
है उनका अब, और विराजे हैं वे ऊपर
धूल में लोटते देखते हैं अपने देह
वे वीर, अप्सराओं के आलिंगन में बाँध
देखते हैं सियारिनों के चाटे वे देह
चंदन के जल से सिंचित कल्पलतादुकूल
जिन्हें पंखे झलते जाते शीतल, वे लोग
देख रहे मँडराते नरभक्षी गिद्धों के
पंखों की हवा खाते अपने वे मृत देह
विमान के पर्यंक पर, सुख से विराजमान
कौतूहल में भर कर दिखा रहे हँसहँस कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुन्दरियों के द्वारा अँगुलियों से सूचित
ऊपर ऊपर उठते; दृष्टि डालते नीचे
देख रहे हैं धरती पर; गिरे अपने देह।)

आनन्दवर्धन तथा मम्मट का कथन है कि यहाँ रसान्तरान्तरित (अन्य रस का व्यवधान) होने से शृंगार और बीभत्स का विरोध निवृत्त हो जाता है। अभिनवगुप्त कहते हैं अंगी रस तो यहाँ वीर ही है, रति और जुगुप्सा ये दोनों स्थायी भाव उसके प्रति व्यभिचारीभूत हो गये हैं। अस्तु। प्रकृत में यह उदाहरण इसलिये प्रस्तुत किया गया है कि विरोधी रस भी मिल कर काव्य में संप्लव का निर्माण करते हैं और अच्छी कविता में ऐसे संप्लव की स्थितियाँ देखी जाती हैं। युद्धभूमि का वर्णन करते हुए कालिदास के सामने भी संप्लव की यह पीठिका रही होगी, तभी वे इसे मृत्यु की मदिराशाला बना कर शोषित के रूप में शराब की नहरें बहती देखते हैं (रघुवंश, ७.४९)। अप्सरा से सट कर बैठे वीर द्वारा विमान से अपने ही देह के कबंध को छटपटाते देखने का दृश्य यहाँ भी है (वही, ७.५१)।

पुनः उदाहरण के लिये हमारे समय के नवोदित संस्कृत कवि केशवचन्द्र दास की कविता का एक अंग लें—

शिशिर–सिक्त–ग्रासस्य कपाले
त्वमवतरसि
कस्मिन्नेकशवस्य सम्माने
बुद्‌बुदस्य उपमाने...अभिमाने...
कालो दोलायते
वैराग्यस्य हलाहले...कोलाहले
विषयस्य आग्नेयहिल्लोले
आन्दोलनकाले...विकले
अन्धभिक्षुमनुसरत्खजकुक्कुरस्य
उल्ललितलाले......
तन्द्रालुबालकस्य जृम्भालुकपोले.
(शिशिरसिक्त घास के माथे पर
तुम उतरती हो
किसी शव के सम्मान पर
बुद्‌बुद के उपमान पर...अभिमान पर
डोलता है काल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैराग्य के हलाहल पर...कोलाहल पर
विषय के अग्निगर्भ हिल्लोल पर
आन्दोलन के विकल क्षण पर
अंधे भिखारी के पीछे चलते
लँगडे कुत्ते की
टपकती लार पर
तुम उतरती हो
उनींदे बच्चे के
जमुहाई लेते गाल पर.)

"तुम उतरती हो" इस वाक्य की पुनरावृत्ति या तो शृंगार का बोध कराती है या भाव का (प्रेयसी के लिये होने पर शृंगार का और इष्टदेवता के लिये होने पर देवादिविषयक रति भाव)। इसके बीच में बुद्बुद का उपमान शांत रस का उद्बोधक है। काल के विवर्तन और वैराग्य के हलाहल का उल्लेख भी शांत का ही पोष कर सकता है, विषय का अग्निगर्भ हिल्लोल और आन्दोलन के बिकल-क्षण चपलता, आवेग, औत्सुक्य आदि संचारी भावों को व्यक्त करते हैं, जो शृंगार के हो सकते हैं। इसके अनंतर लँगडे कुत्ते की लार. जुगुप्सा को व्यक्त कर बीभत्स रस का विभाव बनाती है। जमुहाई और तंद्रा भी बीभत्स के ही उद्दीपक हो सकते हैं। कुल मिलाकर यहाँ शृंगार, शांत और बीभत्स रस संप्लुत हुए हैं। शृंगार और बीभत्स को परस्पर शत्रु कहा गया है। (सङ्गीतदामोदर पृ. १०) क्या इनके विरोध का परिहार यहाँ शांत रस की उपस्थिति से माना जा सकता है?

नाट्य में ही नहीं काव्य में भी शांत रस का अस्तित्व आचार्य परंपरा में सुदीर्घकाल तक द्वन्द्व और विवाद का विषय रहा है। अष्टरस और नवरस की दोनों परंपराएँ नाट्यशास्त्र से प्रक्रांत हुईं। अभिनवगुप्तपादाचार्य द्वारा संरंभपूर्वक शांत को महारस सिद्ध कर देने पर भी नाट्य की तो बात दूर रही; काव्य में शांत का निषेध करने वाले आचार्य थे। आनंदवर्धन ने इस विवाद का समाधान यह कह कर करना चाहा कि शांतरस भले ही सर्वजनानुभवगोचर न हो पर वह यदि कुछ अलोकसामान्य महानुभावों का चित्तवृत्तिविशेष बन सकता है, तो उसे मान लेना चाहिये (ध्वन्या. तृतीय उ., पृ. ४३३)। इस शांत का स्थायी भाव क्या है — इस पर भी ऐकमत्य नहीं रहा है। आचार्य अभिनवगुप्त बताते हैं कि कुछ आचार्य इसका स्थायी शम मानते हैं, कुछ उत्साह; कुछ जुगुप्सा और कुछ ने तो यह कह डाला है कि शांत के स्थायी भाव सभी है। अभिनव तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद को इसकी स्थायी मानते हैं। (अभि. भा. भा. १; पृ. २६८) या तत्त्वज्ञान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा आत्मा को ही। इस पर यह प्रश्न उठाया जाता रहा है कि निर्वेद जो विषय–वैराग्य-जन्य मनःस्थिति है, क्या रसास्वाद करा सकती है? विषयः व्यावृत्तकौतूहल मुनि मनोहर रूप की रचना नहीं कर सकता, तो उसका आनन्द भी वह क्या लेगा?

शान्त रस के विरोधियों ने यह कहा ही था कि न तो तपोऽध्ययनादि विभाव हो सकते हैं, न काम आदि के अभाव बनते हैं। वे प्रयोग में समवेत नहीं हो सकते, न (स्थायी भाव के) गमक बन सकते हैं। चेष्टा से विराम में प्रयोग-योग्यता कहाँ हो सकती है? इसके उत्तर में अभिनव का कहना था कि यदि काव्य में चतुर्वर्गफल प्राप्ति फल माना जाता है, तो मोक्ष का बहिष्कार इसके क्षेत्र से कैसे हो सकता है? यदि कामपुरुषार्थोचित चित्तवृत्ति शृंगारत्व को प्राप्त हो सकती है, तो मोक्षपुरुषार्थोचित चित्तवृत्ति रसता को प्राप्त क्यों न होगी? सम्यग्ज्ञानरूप या तत्त्वज्ञानरूप इस चित्तवृत्ति को ही शांत का स्थायी भाव माना जा सकता है, जो दारिद्र्यादिलौकिकदुःखजनित निर्वेद से भिन्न है। यह चित्तवृत्ति मोहभंग से भी उदित होती है, जिसका उदाहरण अभिनव ने यह दिया है –

वृथा दुग्धो नड्वांस्तनभरनता गोरिति परं
परिष्वक्तः षण्ढो युवतिरिति लावण्यरहितः।
कृता वैडूर्याशा विकचकिरणे काचशकले
मया मूढेन त्वां कृपणमगुणज्ञं प्रणमता॥

(अभि. भा. भा. १; पृ. ३३४)

(बड़ी दुधारू गाय मान कर
एक सांड़ को बस व्यर्थ दुहा
कोई नवयौवना समझकर
बाहों में हिजड़ा बांध लिया
चमकीला पाकर काच–शकल
आस लगायी मैंने मणि की
मूर्ख मैं कर बैठा नमन जो
कृपण और अगुणज्ञ आपको।)

कहना कठिन है कि यह जो अष्ट रसों की जमात में नवां रस – शांत आ बैठा; वह क्या बौद्ध काव्यधारा के प्रभावों से संभव हुआ होगा? अश्वघोष का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई प्रभाव हमारे काव्य शास्त्राचार्यों पर नहीं दिखता। अभिनवगुप्त शांत रस की स्थापना करते हुए राजा हर्ष की कृति नागानन्द का स्मरण अवश्य करते हैं। पर हमने शांतरस का स्मरण नये कवि की रचना की चर्चा में किया है, तो संभव है उस समय कोई तो एक काव्य या नाटक की प्रबल धारा प्रवहमान हुई होगी, जिसने शांत रस की परिकल्पना के लिये आचार्यों को प्रेरित किया होगा। भर्तृहरि तो निश्चित रूप से इसी काव्यधारा में उपजे हैं। उनके शृंगारशतक का भी अंतःस्वर वैराग्य या निर्वेद का ही है। यह ऐसी कविता है जो सारी प्रचलित अवधारणाओं, प्रतिमानों को उलट-पलट कर रख देती है।

स्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितम्।
स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवरकरस्पर्धि जघनम्
अहो निन्द्यं रूपं कविजनविशेषैर्गुरुकृतम्॥

(मांस की दो गाँठें ही तो हैं स्तन
उनको कनककलश कहता है कवि
कफ से जो भरा रहता है सदैव मुख
उसे चन्द्रमा का उपमान देता है कवि
मूत्र बिंदुओं से भीग जाते हैं जो जघन
उनको करि-वरकर-समान कह देता है कवि
अहो, इस निंदनीय रूप को
क्यों इतना सम्मान
देता रहता है कवि।

भर्तृहरि की यह कविता पूरी रस और रसास्वाद की परंपरा के विरुद्ध खड़ी हो गयी है। स्त्रियों की भरपूर निंदा भर्तृहरि की कविता में हुई है; वह भी तो स्त्री को काव्य नाटक में केवल रति का आलंबन बनाने के विरुद्ध टिप्पणी ही है। निश्चय ही यह कविता कोई समग्र जीवनदृष्टि नहीं देती; बल्कि कोई दृष्टि ही उसमें नहीं है; वह प्रतिक्रिया-जन्य कविता है। वह यह नहीं बताती कि स्त्री के स्तन यदि मांस की गाँठे हैं; तो कनक कलश तो उनकी तुलना में तुच्छा-तितुच्छ जड़ वस्तु है। फिर भी यह कविता काव्यास्वाद और सौंदर्यबोध की सारी दृष्टि को उलट कर तो रख ही देती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"यत्नादपि कः पश्यति
शिखिनामाहारनिर्गमस्थानम्, ।
यदि जलदनिनदमुदिता –
स्त एव मूढा नृत्येयुः ।।

मयूरों का आहार जिस स्थान से बाहर आता है, उसे प्रयासपूर्वक भी भला कोई देख सकता था, यदि मेघगर्जन में मुदित अपनी पुँछ उठाकर ये मूर्ख नाच-नाच कर (उस स्थान को दिखाते न फिरते ।)

मयूर का नृत्य देखने में सुन्दर लगता है, पर उसका एक पक्ष यह भी है। भर्तृहरि की कविता समस्त सौंदर्य और काव्यार्थ की आस्वाद्यमानता का दूसरा चेहरा सामने रखती हुई, रस प्रस्थान के आगे चुनौती बन कर खडी हो जाती है । यह उस प्रस्थान के आचार्यों का काम था कि वे यह चुनौती स्वीकार करें और अपने प्रस्थान का पुनर्व्यवस्थापन करें । शांतरस के विचार में अभिनव गुप्त यही काम कर रहे हैं ।

अभिनव से पहले आचार्य आनंदवर्धन कह चुके थे कि महाभारत में अंगी (प्रधान) रस शांत है । विकट युद्धों, जघन्य हत्याओं, असीम करुणा और दारुण हाहाकार का कोलाहल जिस कृति में लगातार गूंजता रहा हो, उसमें शांत रस को सर्वव्यापी सर्वातिशायी घोषित करना शांत रस के एक बडे फलक को सामने रखता है, जो सारे निकट द्वंद्व, संशय, कुंठा और त्रास को अपने भीतर समेट कर हुआ है ।

आधुनिक कविता भी परंपरागत रसविचार के सम्मुख कुछ इस तरह की चुनौती है । डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा रसानुभूति के स्थान पर "सत्यानुभूति" शब्द का प्रयोग इस दृष्टि से करना उचित समझते हैं । किन्तु रसानुभूति सत्य के अनुभव से अविभाज्य है; अतः सत्यानुभूति उसमें अंतर्भावित है । कविता का भावक या नाटक का सामाजिक अपने तटस्थ चैतन्य में कविता या नाटक में निरूपित सत्य को आत्मसात् करता ही है । कविता में सत्य की अभिव्यक्ति के स्थान पर मिथ्यालोक रचा गया है तो ऐसी कविता शुक्तिरजतन्याय से क्षणिक चमत्कार उत्पन्न करती है, उसमें रसानुभूति का आभास होता है । कविता अंतःकरण के धर्मभूत भावों के आस्वादमात्र में विश्रांत न होकर, उसके साथ सत्य का प्रत्यय देकर चित्त को संस्कारित भी करती है, तभी रसानुभूति की पूर्णता है । आधुनिक कवि रघुवीर सहाय की कविता "रामदास" का उदाहरण लें –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चौडी सड़क; गली पतली थी
दिन का समय, घनी बदली थी
रामदास उस दिन उदास था
अंतसमय आ गया पास था
उसे बता यहि दिया गया था
उसकी हत्या होगी।

यह कविता का पहला छंद है। उदाहरण के लिये इसे इसलिये रखा गया है कि रसविचार में हमारी परंपरा जो कारण सामग्री मानती आयी है, वह यहाँ आसानी से देखी जा सकती है। दिल्ली या किसी भी महानगर की चौडी सड़क और उस सड़क से लगी पहली गली – ये दोनों उद्दीपन विभाव हैं, जो रचना में व्यंजित विषाद को उद्दीप्त करते हैं। केवल राजमार्ग ही नहीं, राजमार्ग से लगी कई पतली गलियों का भी अस्तित्व है, जिनके भीतर कहाँ क्या हो रहा है– कहना इतना सरल नहीं है – इस व्यंजन के व्दारा औत्सुक्य भी यहाँ व्यक्त होता है। दिन का समय और उसमें घनी बदली की छाया होना यह फिर उद्दीपन विभाव ही है। रामदास जो इस देश का कोई नागरिक है, आलंबन है, उसका अंतकाल सन्निकट है और वह इस बात को जानता है। यह आलंबन, दैन्य; जड़ता, विषाद आदि कई संचार भावों को व्यक्त करता है। रामदास का चुपचाप सिर झुकाये आसान्न मृत्यु का साक्षात्कार करने के लियें किसी पतली सी गली में धीरे-धीरे बढ़ना – यह अनुभाव यहाँ अनुमित होता है। ये विभाव, अनुभाव और संचारी शोक स्थायी भाव को व्यक्त कर करुण रस का अनुभव कराते हैं।

ऊपरी तौर पर इस पूरी कविता का बंध एक खंडकाव्य के जैसा भी लगता है; और किसी न किसी रूप में एक निश्चित कथानक का आभास भी हमें यहाँ होता है नियत समय पर रामदास का हत्यारा उसका वध करने पहुँचता है, क्योंकि उसने तो पहले ही बता दिया था कि अमुक समय पर रामदास की हत्या की जायगी। लोग चुपचाप रामदास का वध होते देखते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि पूर्व घोषित कार्य-क्रमानुसार रामदास की जो हत्या होती है, वह तो होगी और रामदास का तदनुसार यथोचित रीति से वध हो जाता है, हत्यारा शांतभाव से चला जाता है।

कविता का अंत रामदास के वध में हुआ है, जो एक निर्दोष नागरिक है। अत: यहाँ काव्यशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार करुणरस अंगी है। पर क्या निर्दोष व्यक्ति की हत्या से उत्पन्न शोक का अनुभव या उसमें सीमित करुणरस का आस्वाद देने में ही इस कविता की प्रयोजनीयता है? कविता जिस निर्मम भंगिमा में लिखी गयी है उससे स्पष्ट है कि रामदास की दुखांतिका पर सहृदय जन अश्रुपात करने –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'यात्रा त्वेषा यद् विमुच्येह बाष्पं
प्राप्तानृण्या याति बुद्धिः प्रसादम् ।
(यही रिवाज है कि
दो आँसू टपकाए
और कर्ज चुकाकर अपना
बुद्धि हुई निर्मल)

के न्याय से उसके शोक का आस्वाद लें – यह कविता का अभीष्ट नहीं है। इसकी अपेक्षा कविता उस बढ़ती हुई अमानवीयता का बोध देती है; जिसमें एक आदमी पर दारुण अत्याचार अतिशय सामान्य घटना बनकर रह जाती है। वह ऐसी असाधारण स्थिति का उद्घाटन करते हुए, जिसमें एक भयावह और असाधारण घटना यों घटती है जैसे कुछ हुआ ही न हो – हमें क्षणभर स्तब्ध कर फिर सोचने को प्रेरित करती है।

यदि कविता का पाठक यहाँ व्यंजित हमारे देश-काल की एक सच्चाई पर ठहर कर विचार करता रह जाता है, तो प्रश्न यह उठता है, कि जिस उभयः देशकालत्याग को प्राचीनों ने साधारणीकरण की शर्त माना है वह कैसे पूरी होगी ? दूसरा प्रश्न यह उठता है कि यदि रामदास की दुःखान्तिका से जनित करुणरस का आस्वाद यहाँ सर्वथा अभीष्ट नहीं है, तो 'जैसा रामदास के साथ हुआ, वैसा कभी भी किसी के साथ हो सकता है'–इस वस्तु की व्यंजना यहाँ मान कर इसे बजाय रस-ध्वनि के वस्तुध्वनि का उदाहरण मान लिया जाय। तब यहाँ रस का प्रामुख्य नहीं होगा, यह कविता ध्वनिभेदों में विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूल) के अंतर्गत 'स्वतः सम्भवी' में व्यंजक वस्तु से व्यङ्ग्य वस्तु का उदाहरण कहलायेगी। पर केवल उक्त वस्तु की व्यंजना में ही यहाँ काव्यार्थ विश्रांत हो जाता है–ऐसा नहीं लगता। तब वस्तु और रस का साङ्कर्य यहाँ माना जा सकता है।

कविता यहाँ किसी सहृदय या संवेदनशील व्यक्ति में जिस मनःस्थिति को जन्म देती है, वह भी साङ्कर्य की है। विचार और अनुभव का 'सम्प्लव' यहाँ बनता है और आस्वाद तथा ताटस्थ्य दोनों की प्रमाता के भीतर सहावस्थिति संभव हो जाती है।

इस सहावस्थिति में रामदास एक व्यक्तिविशेष नहीं है, उसके साथ घटा वह देशविशेष-कालविशेष में घटित नहीं हुआ है। अतः उभय देशकाल का परित्याग तो यहाँ हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका निर्गलितार्थ यह हुआ कि इस कविता में रसास्वाद नहीं है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि केवल प्रमाता को सोचने के लिये सामग्री देना मात्र यहाँ काव्यार्थ होता, तो विभावादि सामग्री को कवि प्रस्तुत न करता, सीधे-सीधे इतना ही कह देता कि आज के युग में असामान्य स्थितियाँ सामान्य हो गयी हैं। कवि ने विभावादि सामग्री का उपयोग भी किया है, तज्जन्य स्थायीभाव का अनुभव भी दिया है, केवल इस अनुभव में तन्मयीभवन की स्थिति उसे और उसके पाठक को इष्ट नहीं है। यदि कवि का इष्ट युगसत्य का सम्यग्ज्ञान अनुभूत कराना है और भावक भी सम्यग्ज्ञान को ही यहाँ गृहीत करता है, तब यो यहाँ पर्यन्त में शांतरस मानना चाहिये, जिसका स्थायीभाव अभिनव गुप्त की दृष्टि से सम्यग्ज्ञान है।

भर्तृहरि के ऊपर उद्धृत दो पद्यों में क्रमशः कृपण व अकृतज्ञ स्वामी के प्रति असूया और स्त्रीशरीर के प्रति जुगुप्सा—दो संचारी भाव हैं, पर पर्यन्त में निर्वेद रहने से शांत रस ही रहेगा।

आधुनिक साहित्य में व्यंग्य के नाम से लिखी जाने वाली रचनाओं में इसी प्रकार असूया या जुगुप्सा संचारी के रूप में व्यक्त होते हैं। पर पर्यन्त में यदि कोई दृष्टि या सम्यग्ज्ञान का अनुभव मिलता है तो वहाँ शांत रस माना जाना चाहिये। यदि रचना तनाव से गुजर कर विचलन की स्थिति में छोड़ती है; तो ध्वनिवादियों की दृष्टि से वहाँ भाव या भावाभास ध्वनि होगी।

यह कविता आस्वाद में संविद्विश्रांति का निषेध करती है। आचार्यों की दृष्टि में वह संविद्विश्रांति आस्वाद प्रक्रिया में परमावस्था है। लोल्लट कहते हैं कि प्रेक्षक आस्वादप्रक्रिया में नट आदि में राम आदि की तद्रूपता का अनुसंधान करता है। शंकुक इसे अनुमिति कहते हैं और भट्टनायक भावकत्व। अभिनव कहते हैं कि इस भावकत्व में 'सम्बन्धविशेष स्वीकारपरिहारनियमानध्यवसाय' हो जाता है, जिससे प्रमाता का व्यक्तित्व अपरिमित हो जाता है। इसके पश्चात् ही रस की 'व्यक्ति' या भोगीकरण की स्थिति आती है। इसका स्वरूप विश्वनाथ के अनुसार 'सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय' किंवा पंडितराज के अनुसार 'रत्यादिविशिष्टभग्नावरण चैतन्य' या 'भग्नावरणचिद्विशिष्टरत्यादि' इसका स्वरूप है।

आधुनिक कविता हमें सत्त्वोद्रेकजन्य अखण्डप्रकाशानन्दमय संविद् में विश्रांति तक नहीं ले जाती। यह उसकी अक्षमता नहीं है। वह जानबूझ कर ही हमें वहाँ रोके रखना चाहती है, जिसे पुराने आचार्य 'सम्बन्धविशेषस्वीकार–परिहारनियमानध्यवसाय' की स्थिति कहते हैं और आधुनिक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'रसदशा की मध्यमावस्था' कहते हैं। इस अवस्था में भी आनन्द या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आस्वाद का अनुभव होता है; पर प्रमाता प्रेक्षकवत् तटस्थ रहता है। आचार्य शुक्ल ने दूसरे शब्दों में इसे प्रमाता द्वारा 'शीलदर्शन' की स्थिति कहा है। इसमें भावक काव्य या नाटक में निरूपित विभावादि प्रकृति (पात्रों) के शील को समझने में प्रवृत्त रहता है। शीलदर्शन की प्रकृति के कारण इस स्थिति में काव्य में निरूपित विभावादि तथा व्यक्त स्थायीभाव से उसका ताटस्थ्य स्थापित होता है। प्रेक्षकवत् समस्त काव्यसृष्टि का अवलोकन करने के कारण उसे आनन्द का अनुभव होता है, जिसे आचार्य शुक्ल 'आनन्द की साधनावस्था' कहते हैं। पश्चिम में ब्रेश्त ने इसी को पार्थक्यप्रभाव के द्वारा पुनः परिभाषित किया है। 'रचनाकार अपनी रचना के भाव में प्रमाता को तल्लीन होने से रोकता है–' यह पार्थक्यप्रभाव है, जिसमें आचार्य शुक्ल द्वारा निरूपित 'शीलदर्शन' की स्थिति समाहित है। काव्यानुभूति में प्रमाता के व्यक्तित्व को अपरिमिति समग्र विश्व से उसकी संपृक्ति–को दोनों ने स्वीकार किया है। इस प्रक्रिया में प्रमाता इस तथ्य के प्रति सचेत रहता है कि लौकिक दृष्टि से कला की उपादान सामग्री मिथ्या है, उससे जनित अनुभव भी भ्रम है। शंकुक के मत में भी कलानुभव भ्रम ही है। मिथ्याज्ञान होते हुए भी इससे अनुभूति हो जाती है, इसके प्रमाण के लिये धर्मकीर्ति की यह कारिका शंकुक उद्धृत करते हैं –

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥
अभि भा, भा. १, २७३ पुनरुद्धृत)

कोलेरिज ने इसी तर्क पर नाट्यानुभ को अविश्वास का स्वैच्छिक निलंबन (Voluntary Suspension of Disbelief) कहा है। जे. बी. प्रीस्टले कोलेरिज तथा ब्रेश्त दोनों की स्थापनाओं में संशोधन करते हुए कहते हैं कि "रंगमंच के सभी व्यक्तियों एवं बातों का दुहरा व्यक्तित्व, दुहरी परिभाषा होती है।" विश्वास –अविश्वास के अनोखे अंधेरे प्रकाश की सीमा रेखा पर उनका अस्तित्व होता है। असत्य होते हुए भी वे हमें किसी उच्च यथार्थ की प्रतीति कराते हैं। (जे. बी. प्रीस्टले-नाटककार की कला, पृ. १४–१५) ब्रेश्त और कोलेरिज के मत में नाट्यानुभूति अन्यथाख्याति ठहरती है, जबकि प्रीस्टले के मत में "अनिर्वचनीयताख्याति"।

पंडितराज जगन्नाथ; अभिनवगुप्त तथा मम्मट के सुप्रतिष्ठापित सिद्धांत में नव्यमत और परमत के द्वारा संशोधन उपस्थित करते हुए कहते हैं कि साधारणीकरण या भावना–व्यापार की प्रक्रिया भी दोषविशेष (भ्रम) की कल्पना के बिना दुरुपपाद है। अतएव अवश्यकल्पितव्य दोषविशेष के द्वारा ही रस की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याख्या की जानी चाहिये। अस्तु; कलानुभूति को चाहे सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीयता-ख्याति कहा जाय या भ्रमरूप अन्यथाख्याति, अभिनव से लगाकर पंडितराज के परमत तक जो रसप्रक्रिया विचारित है, उसमें प्रमाता प्रक्रिया के प्रति आद्यंत सचेत नहीं रहता। शुक्ल जी की मध्यमावस्था या ब्रेख्त के पार्थक्य-प्रभाव में प्रमाता इस पूरी प्रक्रिया को तटस्थ होकर देखता भी है और आस्वाद भी ग्रहण करता है।

ताटस्थ्य और आस्वाद का साथ कैसे संभव है? इसे ऋग्वेद के "द्वासुपर्णा" के दृष्टांत से समझा जा सकता है। एक ही चैतन्य के दो रूप एक साथ अवस्थित हो जाते हैं – एक द्रष्टा रहता है, एक भोक्ता। अभिनवगुप्त या विश्वनाथ तक रसप्रक्रिया की परिणति भोक्तृत्व में ही है, आधुनिक काव्यधारा और तत्संबद्ध विचार इस प्रक्रिया की परिणति में भोक्तृत्व और द्रष्टृत्व दोनों का सहभाव हो जाता है – यह विशेष है। यहाँ दो प्रश्न उपस्थित होते हैं – एक "सत्वोद्रेक-प्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिस्तत्त्व भोग" के स्थान पर इस मध्यमावस्था में ही रसास्वाद को पर्यवसित करने का प्रमाण क्या है? दूसरा – रचना का आस्वाद उसकी पूर्णता में काव्यार्थ या वर्णनीय से पूर्ण तन्मयीभवन के स्थान पर इस अपूर्णता की दशा में कलानुभूति को स्थगित करने का औचित्य क्या है?

पहले प्रश्न के उत्तर में एक तो यह कहा जा सकता है कि "सचेतसा-मनुभवः प्रमाण तत्र केवलम्" – यदि कुछ सचेतस् जनों की रसप्रतीति संविद-विश्रान्तिबन्ध्या रह कर द्रष्टृत्व और भोक्तृत्व दोनों का एक साथ अनुभव करती है, तो इस स्थिति को प्रमाण मानना होगा। काव्यनाट्यगतविभावादि का साक्षात्कार सहृदय के भीतर रत्यादि भावों को उद्बुद्ध करता है। ये रत्यादि भाव अंतःकरण के धर्म साविभास्य हुआ करते हैं। साक्षी चैतन्य अपने स्वरूप में अवस्थित होकर इन्हें भासित करता है।

चिच्छायापत्ति के सिद्धांत से साक्षी चैतन्य इन अंतःकरण धर्मों तथा तज्जन्य आस्वाद का अनुभव भी करता है, पर प्रकृत रूप में वह द्रष्टा है, अतः द्रष्टृत्व का बाध मानना उसके स्वभाव के विरुद्ध है। इसलिये रसानुभूति में तटस्थ-दृष्टि और आस्वाद दोनों का यौगपद्य स्वीकार्य है।

यदि कहा जाय कि तब फिर इस स्थिति को रस-प्रतीति की मध्यमावस्था क्यों कहते हो? यह पर्यन्त की स्थिति है। तो उत्तर है कि रस-प्रक्रिया में चैतन्य चिच्छायापत्ति के संपर्क से ताटस्थ्यरूप मूल स्वभाव को भूलकर अंतःकरण-धर्मभूत उन्मिषित रत्यादि को ही अपना स्वरूप समझ कर उनमें रम जाता है – यदि इस स्थिति को ही रसास्वाद की पूर्ण दशा माना जाय, तो उसकी अपेक्षा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से हमारी दृष्टि से रसप्रक्रिया की स्वारस्यभूत स्थिति को मध्यमावस्था कहा है। अन्यथा यह अपूर्ण और अविकसित स्थिति नहीं है।

विभावादिजन्य काव्यार्थ या रस को अभिनवादि समस्त आचार्यों ने साक्षात्कारकल्प कहा है। साक्षात्कार में द्रष्टा और दृश्य का विवेक रहता है। पुरुष प्रकृति को प्रेक्षकवत् देखता है, दोनों का पार्थक्य रहता है। पुरुष के समक्ष उसके अपने मन, बुद्धि और अहंकार नाटक रच देते हैं।

प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्

तथा –

प्रकृति पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवद्वस्थितः स्वच्छः

– सांख्यकारिका ४२,६५.

उसी प्रकार नाट्य आदि के प्रेक्षण में भी प्रेक्षक पुरुष के सम्मुख विभावादिव्यापार होते हैं। वे व्यापार रंगमंच पर होते हैं और उनसे प्रेक्षक के अंतःकरण में भावों को उद्बुद्ध करते हैं। प्रेक्षक पुरुष इस व्यापार का द्रष्टा रहता है और तत्संपर्क से आस्वाद का अनुभव करता है।

रस प्रक्रिया में यह आस्वाद अपने आप में साध्य नहीं है। यह साधन है और साध्य प्रेक्षक पुरुष को अपने सहज स्वरूप की उपलब्धि तथा तदीयचिच्छायापत्ति से अंतःकरणधर्मों का अधिकाधिक परिष्कार है, जिसकी सिद्धि रसप्रतीति का पूर्वप्रतिपादित स्वरूप मानने पर ही सम्यक् हो सकती है। पुरुष के सहज स्वरूप की उपलब्धि साक्षीभाव में है। मध्वाचार्य के द्वैतदर्शन में इसीलिये साक्षी को सप्तम इंद्रिय कह कर उसका चैतन्य, विषय तथा अंतःकरण के धर्मों से पृथक् अस्तित्व माना है। यह साक्षी द्रष्टा और दृश्य के बीच पार्थक्य स्थापित करता है। रस भावक के द्वारा काव्यविश्व के साक्षात्कार के समय साक्षी इंद्रिय के प्रामाण्य से साक्ष्य की स्थिति कही जा सकती है।

संस्कृत विभाग
सागर विश्वविद्यालय
सागर – ४७३००१
(म. प्र.)

राधावल्लभ त्रिपाठी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'भगवान्' तथा 'ईश्वर' पदों का विश्लेषण

ईश्वर के स्वरूप, अस्तित्व तथा गुणों की चर्चा दर्शन तथा उसकी शाखा–धर्मदर्शन की प्रमुख समस्या रही है। दर्शनिकों में इस प्रसंग में काफी मतभेद दृष्टिगोचर होते हैं। ईश्वरवादी दार्शनिक जहां श्रुतियों, धर्मशास्त्रों, सिद्ध पुरुषों की अनुभूति आदि श्रद्धामूलक तर्क तथा सृष्टि रचियता–पालक–संहार-कर्ता, न्यायकारी प्रशासक, निष्पक्ष स्रष्टा, सर्वज्ञ–सर्वशक्तिमान्–सर्वद्रष्टा, करुणावरुणालय आदि तर्कमूलक युक्तियां प्रतिपादित करते नहीं अघाते वहीं अनीश्वरवादी इन सभी तर्कों–युक्तियों की धज्जियां उड़ाने में कटिबद्ध हैं।

'भगवान्' तथा 'ईश्वर' पदों की समुचित व्युपत्ति, व्याख्या तथा विश्लेषण किये बिना इन पदों के स्वारस्य का अवगम करना दुष्कर है। अतः इन पदों की शास्त्रीय व्याख्या करना आवश्यक है। 'भगवान्' शब्द दो पदों 'भग' तथा 'वान्' द्वारा निष्पन्न होता है। इन पदों की विवेचना द्वारा 'ईश्वर' पद भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है।

> ऐश्वर्यञ्च समग्रञ्च वीर्यञ्च यशसः श्रियः।
> ज्ञान विरागतैश्वर्यं यन्नाम भग इति उत्तम ॥
> उत्पत्ति प्रलयं चैव भूतानामार्गति गतिम्।
> वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥

— विष्णुपुराण ६।५।७४, ७८

अर्थात् 'जिसमें अणिमा आदि सम्पूर्ण ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य आदि छः गुणों का समाहार हो उसे भगवान् कहते हैं'। 'जो समस्त प्राणियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के उत्पत्ति–प्रलय, आवागमन एवं विद्या–अविद्या को जानता है उसका नाम भगवान् है। 'ईशनशील: ईश्वर:' इस व्युत्पत्ति के आधार पर जो अणिमा आदि आठ ऐश्वर्यों का स्वामी हो उसे ईश्वर कहा जाता है।

'भग' शब्द के उत्तर में 'मतुप्' प्रत्यय लगाने पर 'भगवत्' शब्द निष्पन्न होता है। व्याकरण की दृष्टि से 'भगवत्' शब्द की प्रथमा विभक्ति के एक वचन में भगवान् होता है। आध्यात्मिक विवेचना के अंतर्गत 'भग' शब्द दो वर्णों 'भ' और 'ग' के मिलने से बनता है। 'भ' का अर्थ है ज्योति या ज्योतिर्मय, तथा 'ग' का तात्पर्य (उक्त) छ: गुणों का समाहार।

'भासयते लोकान्' अर्थात् जो अपनी ज्योति से, प्राण–स्पन्दन से, अपनी गरिमा से एवं वैदूष्य की समुज्वल द्युति से समस्त लोकों को उद्भासित, प्रकाशित करते हैं, उन्हीं के लिए 'भ' का प्रयोग होता है। तंत्र में 'भ' वर्ण–विशेष गुणवाचक बीज मंत्र माना गया है। सभी प्राणी उसी शक्ति–पुंज, प्रकाश–निर्झर से प्रकाश पाते हैं। पृथ्वी अपना प्रकाश सूर्य से ग्रहण करती है, सूर्य नक्षत्र–मण्डल से उद्भासित होता है और नक्षत्र–मण्डल उनसे यानी परम पुरुष से द्युतिमान् होते हैं। श्रुति और स्मृति में इसीलिए उद्घोष किया गया है :

'ज्योतिषां ज्योति: ' मुण्डक. २।२।९);

" न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भाति कुतोऽयमग्नि:
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ "

— वही २।२।१० श्वेताश्वतर. ६।१०;
गीता १५।६

' यदादित्य गत तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ '
' ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमस: परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ '

— गीता १५।१२; १३।१७

अर्थात् 'वह ज्योतियों का ज्योति है'। 'वहां न सूर्य प्रकाशित होता है न चांद और तारे तथा न बिजलियां ही चमकती हैं तो अग्नि कहां से चमक सकती है ? ये सब उसी परमात्मा की ज्योति से प्रकाशित होते हैं।' 'हे अर्जुन जो तेज सूर्य में स्थित होता हुआ सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमा में स्थित है उसको तू मेरा ही जान। वह परमात्मा ज्योतियों का परम ज्योति एवं अविद्या से अत्यन्त परे है। वही बोध–स्वरूप, जानने योग्य तथा तत्त्वज्ञान से उपलब्ध होने वाला सब के हृदय में स्थित है।' इस प्रकार उसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्योति से ही सभी ज्योतिमान् ज्योतिर्मय हैं। मनुष्य में जो वैदुष्य है, पाण्डित्य है, ज्ञान का प्रखर प्रकाश है, कहां से आता है ? सब उन्हीं से आता है। मानव मात्र सुन कर, समझ कर, पढ़ कर जो भी शास्त्रीय या वैज्ञानिक ज्ञान पुस्तकों से, शिक्षकों से, गुरुओं से सीखता है वह सभी ज्ञानोपलब्धि उसकी व्यक्तिगत निर्मिति नहीं है। चैतन्य ही नहीं समस्त जड़ जगत् भी उसी परम पुरुष परमात्मा से उत्सरित है। सभी उस विराट् पुरुष के स्पन्दन का ही अवरोह है। छोटी से छोटी तथा विराट् से विराट् वस्तु का अपना कुछ भी नहीं है, सभी उन्हीं से प्राप्त होता है। जड़ वस्तु उसी से विस्तार पाती है। समस्त जीव उन्हीं से आहार पा कर पोषित होते हैं। उनके द्वारा दी गयी वायु में श्वास-प्रश्वास लेते हैं। इसीलिए 'भ' शब्द के वे सार्थक 'प्रतिभू' हैं।

'ग' 'इत्यागच्छत्यजस्रं गच्छति यस्मिन् आगच्छति यस्मात्' अर्थात् 'गच्छति यस्मिन्' जीव अन्ततः जिसमें चला जाता है, विलीन हो जाता है तथा 'आगच्छति यस्मात्' समस्त चराचर विश्व, जीव आदि जिससे उद्भूत होते हैं वही 'भग' परमात्मा है।

'भग' पद की व्याख्या के उपरान्त अब 'वान्' अर्थात् छः गुणों से विशिष्ट विभूतिमय पुरुषोत्तम की विवेचना अधिक सुकर होगी।

'भगवान्' शब्द की व्याख्या में आये हुए प्रथम पद ऐश्वर्य की संक्षिप्त विवेचना इस प्रकार की जा सकती है। ईश्वर उसे ही कहा जा सकता है जिसमें अणिमा, लघिमा, गरिमा (महिमा), प्राप्ति, ईशित्व, वशित्व, प्राकाम्य एवं अन्तर्यामित्व ये आठ ऐश्वर्य पाये जाते हैं।

१) अणिमा – अणिमा का अर्थ है बहुत छोटा हो जाना। परम पुरुष परमेश्वर है अत्यन्त विराट्, विशाल किन्तु वह हर व्यक्ति के अन्तस्थल में, मन के हर कोण में, हृदय तथा हृदयवृत्ति की प्रत्येक संवेदना में उसी प्रकार अनुप्रविष्ट है जिस प्रकार लवण घुले लोटे के जल की हर छोटी सी बूंद में लवणीय आस्वाद का रसास्वादन होता है। इसी प्रकार ईश्वर कण कण में व्याप्त है। मन में सोची गई प्रत्येक बात की जानकारी उसको रहती है। इसीलिए उसको सर्वज्ञाता या सर्वज्ञ कहा जाता है। भक्त सर्वदा उसी का विचार अपने मन में संजोये रहते हैं, उसी की भावना में लीन रहने का अधिक से अधिक प्रयास करते हैं। उक्ति भी प्रसिद्ध है:

'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' अर्थात् जैसी जिसकी भावना होती है उसी प्रकार की उसे सिद्धि मिलती है। जो-जो व्यक्ति चोरी अथवा किसी कुत्सित विचार को अपनी भावना में, विचारों में अधिककाल तक धारण करते रहते हैं वे आगे जा कर उसी प्रकार की प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होते दिखाई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ते हैं। उदार-चेता सन्त पुरुष पर-कल्याण की दृष्टि से हृदय की रंध्र-रंध्र में उदात्त विचारों, भावनाओं को संजोने का आग्रह करते हैं।

लघिमा – लघिमा का अर्थ है हलका होना। हलका होने पर ही ऊर्ध्वगमन संभव है। जीव अपने बंधन और मलों का क्षरण करने के उपरान्त ऊर्ध्वगमन का पात्र बन ईश्वर साक्षात्कार करता है। अतः ईश्वर को लघिमा की पराकाष्ठा कहा गया है।

३) महिमा (गरिमा) – महिमा का अर्थ है बृहत् होना, बड़ा होना या गुरु (भारी) होना। परमेश्वर को परम-व्यापक माना गया है। उपनिषदों में उसे 'भूमा' कहा गया है। उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम, ऊर्ध्व-अधर, ईशान-वायव्य; अग्नि-नैऋत्य आदि दशों दिशाओं में वही व्याप्त है। फिर भी उसका अस्तित्व बचा रहता है।

४) प्राप्ति – उसे समस्त वस्तुएं इच्छा करते ही प्राप्त हो जाती हैं। इसीलिये शास्त्रों में उसकी इच्छा, संकल्प और कृति को नित्य कहा जाता है। किन्तु हमारी इच्छाओं की भांति उसमें किसी प्रकार की कोई कमी या न्यूनता प्रतिलक्षित नहीं होती। वह पूर्ण काम है। मानव जो चाहता है वह उसे नहीं मिलता, किन्तु उसे वही प्राप्त होता है जो ईश्वर प्रदान करता है। जिस वस्तु को वे मनुष्य के लिए प्रयोजनशील समझते हैं वही उसको नियोजित करते हैं।

५) ईशित्व – ईशित्व का अर्थ है शासन करना। परमेश्वर कठोर शासन-कर्ता कहा जाता है। भले व्यक्तियों को वे उनके कल्याणकारी कार्यों के लिए पुरस्कृत करते हैं तथा दुष्ट-दुराचारियों को सन्मार्ग पर लाने के लिए कठोर दण्ड व भीषण यातना भी देते हैं। इसीलिए उन्हें सच्चा न्यायकारी कहा जाता है। उनका न्याय सर्वदा सही और निष्पक्ष होता है।

६) वशित्व – सबको वश में रखने की क्षमता का नाम वशित्व है। वह संयम की प्रतिमूर्ति है। अश्व पर यदि लगाम द्वारा नियन्त्रण नहीं किया जाता तो वह इधर-उधर भटक कर भीति और विपदा ढो सकता है। इसी प्रकार मानव मन भी चंचल है। इसे नियन्त्रण में लाने के लिए ध्यान और एकाग्रता की लगाम लगाना आवश्यक है। परमेश्वर संयम शक्ति द्वारा सभी को उद्धत और उद्दण्ड होने से अवरुद्ध करते हैं।

७) प्राकाम्य – जैसा चाहा उसी रूप में रूपांतरित करना प्राकाम्य है। वह जैसा चाहता है वैसी ही सृष्टि बनती जाती है। बाइबल का सृष्टि-विवेचन इसी ईश्वर – शक्ति का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है। वह राजा है। वह राजा से रंक और रंक से राजा बना सकता है। तिल को ताड़ रूप में परिणत करने की क्षमता उसी में है। संकल्प-सिद्ध ईश्वर ही में प्राकाम्य शक्ति रहती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

८) अन्तर्यामित्व–घट-घट में वास करने के कारण ही उसे अन्तर्यामी कहा जाता है। यह बात अणिमा गुण द्वारा सिद्ध नहीं होती। उसमें तो उसका सूक्ष्म-भूत होना ही परिलक्षित होता है। वह मन में घटित होनेवाली प्रक्रियाओं का ही ज्ञाता नहीं है, वरन् शरीर के अंग-प्रत्यंग में प्रविष्ट हो कर सब कुछ पहचान लेता है। किसको क्या कष्ट हैं, किसको कहां पीड़ा-कसक हो रही है, अन्तःस्थल में कौन सा वेदनाशूल व्यथा बेध रहा है, क्लेश कहां घनीभूत हो कर पुंजीभूत हो रहें, इन सबका ज्ञान उसे हस्तामलकवत् होता है। तभी तो वह उनकी पीड़ा का निवारण करने के लिए भांति-भांति के कल्याणकारी आयोजनों का उपक्रम करता है। सर्वतोमुखी भाव से परहित में रत हो जाना उसका स्वभाव है। तभी तो वह अन्तःद्रष्टा, अन्तर्यामी कहा जाता है।

वीर्य – वीर्य का अर्थ है अपरिमित शक्ति, प्रताप या पराक्रम-क्षमता। जो शासन करना जानता हो तथा आदेश दे कर अपना योजनानुसार कार्य कराना जानता हो। सात्त्विक क्रोध का प्रदर्शन करने में कुशल कलाकार हो। जैन दर्शन जो ईश्वर की सृष्टि-रचना-पालन-संहार शक्ति से सहमत नहीं है वह भी सिद्ध पुरुष और तीर्थंकर में अनन्त वीर्य अवश्य मानता है।

यशसः –किसी के सद्व्यवहार की प्रशंसा करने में जो शब्दावली प्रयुक्त की जाती है उसे यश कहा जाता है। स्वयं परमेश्वर मानव रूप में या अन्य स्वरूप में अवतरित होकर दूसरों की भलाई में जो कार्य करते हैं उनसे उपकृत होनेवाले भक्तगण उनका यशोगान करते हैं। भगवान् कृष्ण को सोलह विद्या-और चौसठ कला पूर्ण परम पुरुषोत्तम-अवतार कहा गया है, जिन्होंने अपनी बाल क्रीडाओं से ले कर बड़ा होने तक अपना समस्त जीवन कल्याणकारी कार्यों में ही लगाया है। यशोगाथा में भक्तिरस में परिप्लावित मीरा, सूर और रसखान की काव्यांजली इसके ज्वलन्त प्रतीक के रूप में आज भी विद्यमान है।

इतना होने पर भी अनेक लोग आज भी विद्यमान ऐसे हैं, श्रीकृष्णकाल में भी थे और संभवतः आनेवाले दिनों भी रहेंगे जो उनकी यशोगाथा गाने की अपेक्षा उन्हें अपने निन्दा-शरों से विव्हल बनाते हैं। यश-अपयश दोनों साथ ही चलते हैं। अतः ईश्वर के निर्मल चरित्र-गान गाने वालों के साथ ही साथ उनके बारे में घृणा उगलने वालों की कमी नहीं रहती।

श्री – 'श्र' शब्द 'श' और 'र' वर्णों से मिल कर बना है। तंत्र में दोनों रजोगुण और अग्नि के बीज मंत्र के रूप में जाने जाते हैं। रजोगुण चंचलता, क्रियाशीलता का तथा अग्नि प्रकाश तथा ऊष्मा शक्ति का परिचायक है। रजोगुणी वृत्ति ले कर जब क्रियाशीलता की भावना से मानव कर्म-यज्ञ की वेदी में आहुति देता है तब उसे सहायता पहुंचाती है 'र' बीजात्मक अग्नि शक्ति। आशय यह कि जब मनुष्य शक्ति और पौरुष से कर्मयज्ञ में महान् कार्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादन हेतु कूद पड़ता है तब उसमें मणि–काञ्चन योग का समन्वय हो जाता है और हर क्षेत्र में सफलता उसका पादचुम्बन करती है। बीज-मन्त्रों 'स' और 'र' का संयोग हो जाने पर अदम्य साहस, अकूत शक्ति का संसरण होने लगता है। 'श्र' शब्द स्त्रीलिंगवाची है। 'श्र' शब्द में 'स्त्रियाम् ङीप्' प्रत्यय से 'श्री' शब्द निष्पन्न होता है अर्थात्, जिसमें आकर्षणी शक्ति है। रजोगुणी दीप्त आत्मा के साथ आत्मिक अग्नि तत्त्व 'र' का सम्मिलन होने पर आकर्षण और शक्ति के स्त्रोत ठाहें मारने लगते हैं। परमेश्वर को इसी कारण 'श्री–युक्त', 'श्री–वान्' या 'श्री-सम्पन्न' अथवा 'श्री–स्वामी' कहा जाता है।

ज्ञान - हमने 'भग' शब्द की व्याख्या के प्रसंग में ज्ञान और वैदूष्य की चर्चा भी ऊपर की है। ज्ञान दो प्रकार का है जिसे प्राचीन वाङ्मय में पराविद्या और अपराविद्या में विभाजित किया गया है। 'भारतवर्ष के उत्तर में हिमालय पर्वत है', 'आक्सीजन और हाइड्रोजन को निश्चित मात्रा में मिलाने पर पानी बनता है', 'स्वर्ग लोक में अप्सराएं नृत्य व्दारा आमोद–प्रमोद करती हैं', आदि वाक्यों से जागतिक तथा परलोक पदार्थों का ज्ञान होता है वह शास्त्रीय या वैज्ञानिक ज्ञान है जो अपराविद्या है। छान्दोग्य–उपनिषद् के सप्तम प्रपाठक में महर्षि सनत् कुमार देवर्षि नारद को चौसठ प्रकार की ज्ञान–विज्ञान सम्बन्धी विद्या और कलाओं में पारंगत हो जाने के उपरान्त भी 'आत्मवित्' न होने तथा केवल 'मंत्रवित्' होने के कारण पराविद्या अर्थात् आत्मसाक्षात्कार का दिव्य उपदेश देते हैं। कठ–उपनिषद् में भी बालक नचिकेता इसी आत्मविद्या का अवगम करने का आग्रह यमराज से करता है। यह पराज्ञान जिस क्षण जीव को हो जाता है उसी क्षण उसका जीवभाव भूमा हो कर ब्रह्म हो जाता है। उसको जान लेने पर सभी ज्ञान या अपराविद्या हस्तामलकवत् जान ली जाती है। कहा भी गया है।

आत्मज्ञानं विदुर्ज्ञानं ज्ञानान्यन्यानि यानि तु।
तानि ज्ञानावभासानि सारस्यनैव बोधनात्॥
आत्मज्ञानमिदं देवीपरंमोक्षैक साधनम्।
सुकृतेर्मानवी भूत्वा ज्ञानी चेन्मोक्षमाप्नुयात्॥

शिवपुराण अध्याय ८

अर्थात्, आत्मज्ञान ही वास्तव में पराविद्या या सच्चाज्ञान है। अन्य सभी ज्ञान उसी के अवभास हैं। इसीलिए अपराविद्याओं द्वारा उस अक्षर–तत्त्व आत्मा या परमब्रह्म का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता है। भगवती, पार्वती, शिव से पूछती हैं: मानव आत्मसाक्षात्कार या मोक्षावस्था को प्राप्त करने के लिए कब योग्यता अर्जित करता है? भगवान् शिव कहते हैं: आत्मा का ज्ञान ज्यों ही हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है त्योंहि मनुष्य को मोक्ष मिल जाता है। अनेक जन्म-जन्मान्तरों की अनवरत साधना, कठोर तपस्या, योग, उपासना आदि के मध्य असंख्य घात प्रतिघात सहता हुआ जीव जब मानव देह धारण करता है तभी आत्म-ज्ञान अर्जन में समर्थ होता है। गुरु को सावधान करते हुए मुण्डक उपनिषद् उद्घोष करता है –

येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं
प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् (१-२-१३)

अर्थात्, जिस विद्या के द्वारा उस अक्षर; सत्य परम पुरुष परमात्मा को जाना जाता है उस ब्रह्मविद्या का गुरु ठीक-ठीक उपदेश करें।

श्रीमद्भागवत में यही बात और भी स्पष्ट रूप से अंकित की गई है :

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्वं यज्ज्ञानं अव्दयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते ।। १।२।११।।

अर्थात्, उस अद्वितीय चैतन्य-सत्त्व को तत्त्वज्ञानी गण तत्त्व-ज्ञान अव्दय कहते हैं। वही ब्रह्म है। वही परमात्मा और वही भगवान् है।

वैराग्य – 'वि' उपसर्गपूर्वक 'रञ्ज्' धातु में 'घञ' प्रत्यय करने पर वैराग्य शब्द निष्पन्न होता है। तात्पर्य यह, वासना-सुख की सौरभ, कामना क्रीड़ा की केशर, भोग सुविधा की रंग-विरंगी फुहारों से असम्पृक्त रहना ही वैराग्य है। इसमें अतीत में भोगी हुई सुखद स्मृतियों तथा भविष्य में भोगने की चाहत के स्वप्न और वर्तमान की लिप्सायें नहीं रहतीं। भगवान् बुद्ध के ये वचन सर्वदा स्मरणीय रहेंगे –

यस स पुरे च पच्छेच मज्जे च नेत्थि किंचनः।
अकिंचनं अनादानम् तमहं ब्रूमि ब्राह्मणः ।।

अर्थात्, 'जो सामने किसी रंग की कल्पना में विभोर होकर नहीं रहता, वर्तमान में किसी रंग-विशेष के आकर्षण में प्रेरित-प्रेषित नहीं होता उन्हें मैं ब्राह्मण कहता हूँ। वस्तु सुख-सुविधाओं के अंबार लगाने वाले रंगों से जो किंचित् भी प्रभावित नहीं होते वैराग्य उन्हीं में है। सच्चा वैराग्य जिस क्षण उदित हो जाता है उस क्षण ही मानव संन्यास धारण कर मोह-माया-ममता से मुक्त हो जाता है। इसके लिए वन-अरण्य-कांतार का एकांत या हिमालय की ठण्डी गुफाओं में जाकर भस्म रमाने की आवश्यकता नहीं है। यहां रह कर भी रंग-सिक्त होने से परहेज किया जा सकता है। भगवान् शिव अथवा सर्वस्व दान कर औढरदानी बन वैराग्य की साक्षात् मिसाल हैं। यही कारण है कि महर्षि पतंजलि ने अपने योग-सूत्र में उत्कृष्ट योगियों के लिए अभ्यास और वैराग्य इन दोनों साधनों को ही पर्याप्त बताया है। परमेश्वर स्वयं के पास कुछ भी न रख कर दोनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हाथों से प्राणियों के सुख और कल्याण हेतु वस्तु-राशि मुक्त लुटा रहे हैं। भक्त कवि के रससिक्त विश्वासपूर्ण उद्गार सहज ही निष्ठा और आस्था जगाते हैं -

संत न मण्डली मांगते, सिंह न फिरे जमात ।
हरी दोनों हाथ लुटा रहे, जगत् पसारे हाथ ॥

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि जिसमें समग्र ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री; ज्ञान और वैराग्य सभी का सम्मिलन हो उसे भगवान् कहा जा सकता है। यहां यह आशंका की जा सकती है कि बड़े धनसम्पन्न व्यक्ति में ये सभी पाये जा सकते हैं जैसा कि आधुनिक युग में आचार्य रजनीश आदि ने अपने आपको भगवान् घोषित करने में कोई कसर नहीं छोडी है। इन्हीं के साथ ही लगभग ८०-८५ व्यक्तियों ने अपने आपको इस भारतभूमि में भगवान् घोषित कर जनता को गुमराह करने और अपना स्वार्थ सिद्ध करने का उपक्रम किया है। पर ये तथाकथित भगवान् ईश्वर नहीं हो सकते, क्योंकि उनमें अणिमा आदि अष्ट ऐश्वर्य अनन्त हैं; वे अनन्त शक्ति-सामर्थ्य से विभूषित हैं; भक्तगण उनके यशः गीत गाते हुए उनके अनन्त गुणों का अर्चन-भजन-कीर्तन करते हैं तथा नास्तिक लोग जिनके दोषों को भी अनन्त ही बताते हैं। धनात्मक और ऋणात्मक दोनों प्रकार की भक्ति प्रस्तुत करते हैं। मानव तथा सम्पूर्ण प्राणी जगत् या जड़ वस्तुओं का पूर्णरूपेण संचालन कर्ता और स्वामी निर्बल मानव कदापि नहीं हो सकता। अचेतन-जड-सम्पदा स्वयं अपनी स्वामिनी नहीं हो सकती; यह तो परार्थ-हेतु ही निर्मित होती है। इसी प्रकार अज्ञान तिमिर से आच्छन्न व्यक्ति सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञानों, परा-अपरा विद्या का निष्णात् ज्ञाता कदापि नहीं हो सकता। पल-पल पर उसको अज्ञान छलता रहता है। इसी प्रकार भय-प्रलोभन लोभ और लालच से मानव सर्वदा मुक्त नहीं होता। उसकी लालसाएं दिन दूनी रात-चौगनी सुरसासी मुँह फाड़ती रहती हैं। पूर्णवीतराग-वीतकाम मानव जगत् के तथाकथित भगवान् नहीं बन सकते। अत: अनन्त ऐश्वर्य, वीर्य, यश, ज्ञान और वैराग्य का समाहार जिसमें होता है वही दिव्य, असीम, अलौकिक शक्तिसम्पन्न भगवान् ही ईश्वर कहला सकता है, अन्य कोई सीमित व्यक्ति नहीं।

ब्रजनारायण शर्मा

दर्शन विभाग
सागर विशवविद्यालय
सागर-४७३००३
(म. प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैन दर्शन में जीव द्रव्य की विशिष्टता

जीव द्रव्य प्रारंभ से ही दार्शनिकों के लिए एक महत्त्वपूर्ण चिंतनीय विषय रहा है। उनका उत्थान और विकास एक 'आत्म तत्त्व' या 'जीव तत्त्व' केन्द्र में ही रखकर हुआ है। इस विषय में उन्होंने परस्पर विरोधी मतों की प्रतिस्थापना भी की है। उदाहरणस्वरूप कुछ दार्शनिकों ने आत्मा को नित्य माना तो कुछ ने अनित्य, किसी ने इसे एक माना तो किसी ने अनेक। किसी ने देह को ही आत्मा मान लिया, किसी ने प्राण को, तो किसी ने इन्द्रिय को ही आत्मा मान लिया। उन सबका यह विचार एकांगी था जिस कारण इनमें इतना अधिक विरोधाभास था। परंतु जैन दार्शनिकों ने समन्वयात्मक दृष्टिकोण को अपनाया और इस विरोधाभास को दूर करने का प्रयास किया। यही इसकी विशिष्टता है। उदाहरणस्वरूप उन्होंने आत्मा को नित्यानित्य, अनेकानेक आदि माना। इन दार्शनिक विश्लेषणों के अतिरिक्त भी उन्होंने जीव-तत्त्व की व्याख्या प्राण, पर्याप्ति, जन्म, शरीर, इन्द्रिय आदि के आधार पर भी की है।

जैन दर्शन में आत्मा या जीव का विवेचन तत्त्व-विचार के रूप में आरंभ होता है। जैन दर्शन में सात तत्त्व माने गए हैं, जिनमें प्रथम जीव है। शेष छह अजीव या जड़ हैं। इसे प्रथम इसलिए माना गया है क्योंकि यही एक ऐसा द्रव्य है जो सभी कर्मों का कर्ता और भोक्ता है।[1] जैन दर्शन में वर्णित सात तत्त्व हैं[2] – १. जीव, २. अजीव, ३. आस्रव, ४. बन्ध, ५. संवर, ६. निर्जरा और ७. मोक्ष।। संक्षेप में तत्त्व (द्रव्य) दो प्रकार के हैं – जीव और अजीव[3], क्योंकि सात तत्त्वों में जीव और अजीव ये दो ही प्रधान तत्त्व हैं। शेष तत्त्व जीव और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अजीव के ही पर्याय है।[४] जीव और अजीव को संबद्ध करने वाले आस्रव और बंध हैं तथा उन्हें पृथक् करने वाले संवर और निर्जरा हैं। मोक्ष जीव की शुद्धतम एवं स्वतंत्र अवस्था है। इस प्रकार जीव-तत्त्व या जीवद्रव्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि जीव पुद्गल से भिन्न है। यही तत्त्व है, इसके अतिरिक्त जो कुछ भी कहा जाता है वह सब इसीका विस्तार है।[५]

जैन दार्शनिकों ने जीव का लक्षण उपयोग या चेतना माना है। 'अर्थ-वैशिष्टय की दृष्टि से दोनों का अर्थ एक ही है। चैतन्य अर्थात् जिसमें देखने व जानने की शक्ति हो। अर्थात्, यह उपयोग जीव का आत्मभूत लक्षण है जो अन्य किसी द्रव्य में नहीं पाया जाता है। यद्यपि यह जीव अनंत गुण-पर्यायों का पिण्ड रूप है फिर भी इन गुणों में उपयोग ही प्रथम है। वस्तु का स्वरूप जानने के लिए जीव का जो भाव प्रवृत्त होता है वही भाव उपयोग कहलाता है। उपयोग का अर्थ चेतना-शक्ति है। यह उपयोग मुख्य रूप से दो प्रकार का होता है[७] - १. दर्शनोपयोग एवं २. ज्ञानोपयोग। दर्शन शब्द का अर्थ है किसी वस्तु का अवलोकन करना एवं ज्ञान शब्द का तात्पर्य है किसी वस्तु की विशेष जानकारी प्राप्त करना। दर्शनोपयोग से 'स्व' का निराकरण एवं संवेदन होता है जबकि ज्ञानोपयोग से 'स्व' और 'पर' दोनों का साकार बोध होता है। जिसमें ज्ञान दर्शन रूप चेतना का अभाव है वह अजीव है तथा जिसमें इसका सद्भाव है वह चेतन अर्थात् जीव है।

प्राणी तथा प्राणवान् को जीव कहा जाता है। जिसके पास प्राण हो, वह प्राणी है। प्राण के दो भेद हैं - द्रव्य-प्राण और भाव-प्राण। निश्चय नय से एकमात्र चेतना ही प्राण है परंतु व्यवहार नय से जीव के कम से कम चार प्राण होते है - इंद्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास। इन्द्रिय के पाँच भेद हैं (घ्राण, चक्षु, श्रोत्रादि) तथा बल तीन हैं - कायबल, वचनबल और मनोबल। अगर इन्हें संयुक्त रूप में साथ मिलाया जाए तो सब मिल कर दस प्राण होते हैं। ये दसों द्रव्य प्राण हैं। चेतना भाव-प्राण है। संसारी प्राणी इन द्रव्य और भाव दोनों प्राणों से युक्त होते हैं। परंतु मुक्त या सिद्ध जीव में मात्र भाव-प्राण ही होता है। संसारी जीवों में कम-से-कम चार प्राण और अधिक से अधिक दस प्राण हो सकते हैं। ' निश्चय नय एवं व्यावहारिक नय जैन परंपरा की अपनी विशेषता है। निश्चय नय द्वारा किसी भी वस्तु के तात्त्विक स्वरूप का अध्ययन किया जाता है, जब कि व्यवहार नय द्वारा वस्तु के विभिन्न पर्यायों का ज्ञान होता है। उदाहरण स्वरूप, सोने की विभिन्न वस्तुओं यथा अँगूठी, हार आदि को व्यवहार नय के द्वारा जाना जाता है। इसी प्रकार के सोने के आभूषणों को मात्र स्वर्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही मानना निश्चय नय है । निश्चय नय द्वारा अनेकता को एकता में बदला जाता है, जबकि व्यवहार नय के द्वार एक वस्तु को विभिन्न रूपों बदल कर देखा जाता है ।

जीवों में एक विशेष प्रकार की शक्ति होती है जिसे पर्याप्ति कहा जाता है । इसी शक्ति के फलस्वरूप जीव आहार आदि योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है और उनके परिणमन के रूप उसके शरीर, इन्द्रियादि का निर्माण होता है । जैन ग्रंथों में कुल छह प्रकार की पर्याप्तियों का उल्लेख किया गया है – १. आहार २. शरीर, ३. इन्द्रिय, ४. श्वासोच्छ्वास, ५. भाषा और ६. मन । पर्याप्ति के आधार पर जीव के दो भेद किए हैं, पर्याप्त एवं अपर्याप्त । जिन जीवों की पर्याप्तियाँ पूर्ण हो चुकी हैं उन्हें पर्याप्त और जिनकी अभी पूर्ण नहीं हुई है उन्हें अपर्याप्त जीव कहा जाता है । इसके साथ-साथ जीवों को लब्धि-पर्याप्त और करण-पर्याप्त भी कहा गया है । जो जीव जिस कर्म के उदय से प्रारब्ध स्वयोग्य पर्याप्ति अभी पूर्ण नहीं कर पाया है, लेकिन भविष्य में करेगा उसे लब्धि-पर्याप्त जीव कहते हैं । जिसने स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण कर ली है, वह जीव करण पर्याप्त है और उसकी पर्याप्ति करण-पर्याप्ति कहलाती है।[९] स्थावर, एकेन्द्रिय जीव को मात्र चार पर्याप्तियां होती हैं । उनमें भाषा और मन-पर्याप्ति का अभाव होता है। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव को छह पर्याप्तियां होती हैं तथा असंज्ञि पंचेन्द्रिय को मात्र पाँच पर्याप्तियां ही होती हैं । क्यों कि असंज्ञि पंचेन्द्रिय में मन-पर्याप्ति का अभाव होता है ।

जैन परंपरा में जन्म के आधार पर भी जीवों का वर्गीकरण किया गया है। जन्म लेना जीव का आवश्यक गुण है । जन्म लेने के पश्चात् ही जीव जीवन का प्रारंभ करता है । अतः जन्म को जीवन का प्रारंभ भी कहा गया है । जैनों के अनुसार जीवों का जन्म तीन प्रकार से होता । है [१०] – १. संमूर्च्छन २. गर्भज और ३. औपपातिक ।

१. संमूर्च्छन – माता और पिता के रज तथा वीर्य के बिना ही योग्य पुद्गल परमाणुओं से जिन जीवों का शरीर निर्मित होता है या उत्पन्न होता है उन्हें संमूर्च्छन जीव कहा जाता है ।[११] कीट-पतंगों को संमूर्च्छन जीव कहा जाता है । क्योंकि ये माता-पिता के रजवीर्य के बिना ही उत्पन्न होते हैं ।

२. गर्भज – पुरुष-नारी के संयोग के फलस्वरूप उनके रजोवीर्य कणों के मिलने से जिन जीवों का जन्म होता है उन्हें गर्भज कहा जाता है ।[१२] मनुष्य, पशु, पक्षी आदि का जन्म इसी प्रकार से होता है । अतः ये सभी गर्भज जीव कहलाते हैं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३. औपपातिक – संयोग एवं सहवास के बिना ही देव शय्या और नारक कुम्भी में शरीर की रचना हो जाने पर जो जन्म होता है वह औपपातिक जन्म कहलाता है। देव तथा नारकों का जन्म इसी प्रकार है।[१३]

गर्भ जन्म तीन प्रकार का होता है– (क) जरायुज, (ख) अंडज और (ग) पोतज। जन्म के समय प्राणी के शरीर से जाल, रुधिर और मांस की जो खोल चिपकी रहती है उसे जरायु अथवा जेर कहते हैं। इससे जो उत्पन्न होता है उसे जरायुज कहा जाता है। जैसे मनुष्य, गाय भैंस इत्यादि।[१४] जो अण्ड से उत्पन्न होता है उसे अंडज जीव कहते हैं। जैसे पक्षी, कोक, कोयल आदि। उत्पन्न होते समय जिस जीव पर किसी प्रकार का आवरण नहीं होता और जो योनि मार्ग से बाहर निकलते ही चलने फिरने लगता है, उसे पोतज कहा जाता है। सिंह, बाघ, मृग आदि प्राणी पोतज कहलाते हैं।[१५] देवों और नारकों का जन्म उपपात होता है। गर्भ और औपपातिक जन्म वालों से भिन्न जीवों का जन्म संमूर्च्छन होता है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तिर्यंचों का जन्म नियम से संमूर्च्छन होता है। शेष तिर्यंयों का गर्भ और संमूर्च्छन दोनों प्रकार से जन्म होता है। लब्धि अपर्याप्त मनुष्यों का भी जन्म संमूर्च्छन ही होता है।[१६] जैन परंपरा में चार प्रकार के जीवों का उल्लेख मिलता है[१७]– नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव। नरक में निवास करने वाले जीवों को नारक कहा जाता है। राक्षस, दानव आदि नारकी जीव हैं। ऐकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञि पंचेन्द्रिय तक के जीव तिर्यंच हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय को मनुष्य कहा जाता है तथा तारे, ज्योतिष, नक्षत्र आदि को देव कहा जाता है।

संसार में जीव बिना शरीर के नहीं रह सकता है। सभी जीवों के लिए शरीर आधार का काम करता है। इसीके आश्रय से जीव अपने सम्पूर्ण कार्यों का सम्पादन करता है। व्रत तपादि जितने भी सद्गुण हैं उन सबका परिपालन शरीर के निमित्त से ही होता है। शरीर के आधार पर भी जीवों का वर्गीकरण किया गया है। जैन दर्शन में शरीर के पांच भेद बताए गए हैं–[१८] औदारिक, २. वैक्रियक, ३ आहारक, ४. तैजस और ५. कार्मण।

१. औदारिक – स्थूल शरीर, जिसका छेदन-भेदन किया जा सके, जो दूसरे को रोके अथवा दूसरे द्वारा रोका जा सके उसे औदारिक शरीर कहते हैं। औदारिक 'उदार' शब्द से बना है और उदार का अर्थ होता है स्थूल द्रव्य और उस स्थूल द्रव्य से जो शरीर निर्मित होता है उसे औदारिक शरीर कहते हैं।[१९] औदारिक शरीरी जीव आहारवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करता है और उन्हें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रस, रुधिर, मांस, अस्थि, मज्जा आदि स्थूल द्रव्यों में परिणत कर देता है।[२०] इसी कारण इन्हें स्थूल शरीर वाला जीव भी कहा जाता है। यह शरीर मनुष्यों और तिर्यंचों को होता है।

२. वैक्रियक– वैक्रियक शरीर वह है जो एक–अनेक, सूक्ष्म–स्थूल; हल्का–भारी आदि अनेक प्रकार का किया जा सकता है। वैक्रियक शरीरवाला जीव वैक्रियक शरीरी कहलाता है। जैनदर्शन में वैक्रिय का अर्थ है विभिन्न प्रकार की क्रिया करना। आचार्य पूज्यपाद अपनी प्रसिद्ध कृति सर्वार्थसिद्धि में लिखते हैं कि अणिमा–लघिमा–महिमा आदि आठ गुणों के कारण एक–अनेक–छोटा–बड़ा आदि नाना प्रकार का शरीर बनाना विक्रिया है। जिस शरीर के प्रयोजन से यह क्रिया की जाती है वह वैक्रियक शरीरी है।[२१]

३. आहारक– आहारक शरीर, आहारक लब्धिधर एवं चौदह पूर्वधर मुनि को होता है। सूक्ष्म तत्त्व का निर्णय करने, जिन भगवान् की वंदना, प्रसिद्ध और किसी अन्य लोक में स्थित जिनालय के दर्शन आदि हेतु पूर्वधर मुनि अपनी सिद्धि के बल पर इस शरीर का निर्माण करते हैं।[२२] इस प्रक्रिया में मुनि के शरीर से एक छोटा सा पुतला बाहर निकलता है जो उनकी शंकाओं के निवारण हेतु तीर्थंकरों, सिद्धों के पास जाता है और शंका का समाधान लेकर पुनः मुनि के शरीर में समा जाता है।

४. तैजस्– तैजस् शरीर वह है जिसमें तैजस् परमाणु हों। यह औदारिक आदि शरीर में तेज अर्थात् कांति उत्पन्न करने वाला है। आचार्य हरिभद्र सूरि का कहना है कि समस्त प्राणियों के आहार का पाचक जो उष्णतारूप तेज है, उसके विकार को तैजस् शरीर कहते हैं।[२३] तेज से तात्पर्य अग्नि से है और इसीलिए तैजस् शरीर को कांतिमान् माना गया है। यह अनादि काल से जीवों के साथ संयुक्त है।

५. कार्मण– यह शरीर आठ प्रकार के कर्मों का समूहरूप है। इसमें आठों प्रकार के कर्मों के परमाणुओं का संचय होता है। यह शरीर भी जीवों के साथ अनादि काल से संयुक्त है। कार्मण शरीर के बारे में ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह जीव के साथ संसार पर्यंत विद्यमान रहता है।[२४]

पाँच प्रकार के शरीर की इस चर्चा के बाद एक स्वाभाविक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि जीव के साथ संयुक्त रूप में एक समय कितने शरीर रहते हैं? जैसा कि पहले ही यह स्पष्ट किया जा चुका है कि तैजस् और कार्मण शरीर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीव के साथ अनादि काल से साथ-साथ रहते आए हैं। ये कभी भी अलग नहीं होते हैं। अतः यह तो स्पष्ट है कि कम से कम दो शरीर एक साथ अवश्य रहते हैं। लेकिन अधिक से अधिक कितने शरीर एक साथ रह सकते हैं यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। जैनाचार्यों ने इस पर अपने मत व्यक्त किये हैं और उनके अनुसार एक साथ एक संसारी जीव को कम से कम दो और अधिक से अधिक चार शरीर तक हो सकते हैं।[२५] जब दो होते हैं तब तैजस् और कार्मण क्योंकि ये दोनों यावत् संसार-भावी हैं। ऐसी स्थिति अंतराल गति में ही पाई जाती है क्योंकि उस समय अन्य कोई शरीर नहीं होता। जब तीन होते हैं तब तैजस, कार्मण और औदारिक या तैजस्, कार्मण और वैक्रियक। प्रथम शरीर मनुष्य व तिर्यंच को होता है जबकि द्वितीय प्रकार देव व नारकों का होता है। जब चार होते हैं तब तैजस्, कार्मण, औदारिक और वैक्रियक अथवा तैजस, कार्मण, औदारिक और आहारक। प्रथम विकल्प वैक्रिय-लब्धि के प्रयोग के समय कुछ ही मनुष्यों व तिर्यंचों में पाया जाता है। दूसरा विकल्प आहारक-लब्धि के प्रयोग के समय चतुर्दशपूर्वधारीमुनि में ही होता है। पाँच शरीर एक साथ किसी के भी नहीं होते है क्योंकि वैक्रिय-लब्धि और आहारक लब्धि का प्रयोग एक साथ संभव नहीं है।

जीव बाह्य संवेदनाओं की अनुभूति इन्द्रियों की सहायता से करता है। इन्द्रियों में ऐसी शक्ति होती है कि वह बाह्य अनुभूतियों को स्पष्ट रूप में प्रत्यक्ष करता है। यही कारण है कि कुछ लोगों ने इन्द्रियों को ही जीव मान लिया है। वस्तुतः यह सत्य नहीं जान पड़ता। क्योंकि इद्रियां भौतिक तत्त्वों से निर्मित हैं और यह भौतिक तत्त्व जड़ होता है। लेकिन जीव चेतन होता है। जैनोंने जीवों का वर्गीकरण इन्द्रियों की संख्या के आधार पर किया है। यह तो मान्य तथ्य है कि इन्द्रियों के कुल पाँच प्रकार हैं। ये पाँच इन्द्रियों है-स्पर्श (त्वचा); स्वाद (जिह्व), घ्राण (नासिका), रूप (चक्षु) और ध्वनि (कर्ण)। इन्हें बाह्येन्द्रियाँ कहा जाता है। बाह्येन्द्रिय के अतिरिक्त कुछ जीवों में अंतरिन्द्रिय भी होती है। इसे मन कहा जाता है। इन्हीं इन्द्रियों के आधार पर जीवों के तीन वर्गीकरण किए गए हैं-१. एकेन्द्रिय, २. विकलेन्द्रिय और ३. पंचेन्द्रिय। एकेन्द्रिय को मात्र एक इन्द्रिय होती है। विकलेन्द्रिय जीव को दो से लेकर चार इन्द्रियाँ होती हैं तथा पंचेन्द्रिय जीवों को पाँच इन्द्रियां होती हैं।

१. एकेन्द्रिय[२६]- एकेन्द्रिय जीवों को एक इन्द्रिय स्पर्श की होती है। इसके दो भेद हैं-सूक्ष्म और बादर। सूक्ष्म-नाम-कर्म के उदय से जिन जीवों के शरीर चर्म-चक्षुओं से दृष्टिगोचर नहीं होते वे सूक्ष्म कहे जाते हैं। बादर नाम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्म के उदय से जिन जीवों के शरीर अनेकों के मिल जाने से दृष्टिगोचर होने लगते हैं, वे बादर कहलाते हैं। सूक्ष्म और बादर जीवों के एक इन्द्रिय स्पर्श की होती है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति एकेन्द्रिय जीव हैं। इन्हें स्थावर भी कहा जाता है क्योंकि ये सब स्वयं अपना स्थान परिवर्तन नहीं कर सकते हैं। तात्पर्य यह है कि इनमें चलने-फिरने की शक्ति नहीं होती है। इसके विपरीत विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव त्रस कहलाते हैं। ये सभी चल फिर सकते हैं और स्वयं अपना स्थान परिवर्तित कर सकते हैं।

२. विकलेन्द्रिय[२७]– द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव विकलेन्द्रिय कहलाते हैं। शंख, कृमि, आदि द्वीन्द्रिय जीव हैं। इन्हें दो इन्द्रियाँ स्पर्शन और रसन की होती हैं। पिपीलिका त्रीन्द्रिय जीव है। इसे स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु ये चार प्रकार की इन्द्रियाँ होती हैं और इसीलिए इसे चतुरिन्द्रिय जीव कहा जाता है।

३. पंचेन्द्रिय[२८]– मनुष्य, पशु एवं पक्षी आदि को पाँच इन्द्रियाँ होती हैं– स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते हैं– संज्ञी या समनस्क तथा असंज्ञी या असमनस्क। जो पंचेन्द्रिय जीव मन से युक्त होता है उसे संज्ञी या समनस्क कहते हैं तथा जिसे मन नहीं होता है उसे असंज्ञी या असमनस्क पंचेन्द्रिय जीव कहा जाता है। मनुष्य संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव है जबकि पशु, पक्षी आदि असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव है।

इस प्रकार जैनदर्शन में जीव की विशेषताओं का उल्लेख मिलता है।

बी. एल. इन्स्टिटयूट ऑफ इण्डोलोजी रज्जनकुमार
अलीपुर, दिल्ली–११००३६.
द्वारा–पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोधसंस्थान
आई. टी. आई. पथ
वाराणसी–२२१००५.
(उ. प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टिप्पणियाँ

१. प्राग्देश्य स जीवोऽस्ति ततोऽजीवस्ततः क्रमात्
आस्रवाद्या यतस्तेषां जीवोऽधिष्ठानमुच्यते ।। पंचाध्यायी, २।२९

२. जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ।। तत्त्वार्थसूत्र, १।४

३. प्रवचनसार, २।३५

४. जीवाजीवौ हि धर्मिणो तद्धर्मास्त्वास्रवादय इति
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १।४।४८।५६

५. इष्टोपदेश, श्लोक ५०

६. जीवो उवओगलक्खणो । उत्तराध्ययनसूत्र, २८।१०
पंचास्तिकाय, १६, २७, १०९, तत्त्वार्थसूत्र, २।८

७. उवओगो दुवियप्पो दंसणं णाणं । द्रव्यसंग्रह, ४

८. कर्मोदय जनित द्रव्य भावरूपैश्चतुर्भिः प्राणैर्जीवति, जीविष्यति, जीवित॰ पूर्वा । पंचास्तिकाय / ता. वृ. २७/५७/१७.
प्रज्ञापना मलयगिरी टीका, पद ।, सू. टी. – १, प्रवचनसार,, २/५५ पृ. १८९ स्याद्वाद मंजरी, २९/३२९/१९.

९. पज्जत्तमपज्जत्ता, उत्तराध्ययनसूत्र, ३६/७० आहारपज्जत्तीए सरीर पज्जत्तीए इंद्रिय पज्जत्तीए, आणापाण पज्जत्तीए जीवेंगिदयवज्जो तियभंगो भासा – मणपज्जत्तीए जहा सण्णी । भगवइ, शतक ६, उ. ४; गाथा ६३ प्रवचनसारोद्धार, द्वार २३१ गाथा ३१ कर्मग्रंथ, I, गाथा ४४.

१०. सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म । तत्त्वार्थसूत्र; २/३१.

११. सं समन्तात् मूर्च्छनं जायमान जीवानुग्राहकाणां ।
शरीराकारपरिणमनयोग्य पुद्गलस्कंधानां समुच्छयणं सम्मूर्छनम् ।।
गोम्मटसार, जीवकांड / जीव प्रबोधिनी, ८३/२०४/१७

१२. जायमान जीवेन शुक्र–शोणितरूपपिंडस्य गरणं शरीरतयोपादानं गर्भः ।
ततो जाता ये गर्भजाः तेषां गर्भजानां जन्म उत्पत्तिर्येषा ते गर्भजन्यः ।
कार्तिकेयानुप्रेक्षा, शुभचंद्राचार्य, टी. ११०.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१३. उपपतनमुपपातो देव–नारकाणां जन्म । स्थानांग, अभय. वृ. १–२८ पृ. १९

१४. जरायौ जाता जरायुजाः । सर्वार्थसिद्धि. २/३३
... युलोपः गो – महिषी मनुष्यादयः सावरण जन्मानः ।
तत्त्वार्थवृत्ति, श्रुतसागर सूटि, २–१४

१५. अण्डज – जरायुजवर्जिताः संजातमात्रव्यक्तागोपेताः पोताः ।
गोम्मटसार, जीवकांड मंदप्रबोधिनी टीका, ८४
श्व–मार्जार–सिंह–व्याघ्र–चितकादयोऽनावरणजन्मानः ।
तत्त्वार्थवृत्ति. श्रुतसागर सूरि, २–१४

१६. गोम्मटसार, जीवकांड / मूल, ९०–९२, २१२

१७. तत्त्वार्थसूत्र, प. सुखलाल संघवी, पृ. ६८

१८. जं तं सरीरणामकम्मं तं पंचविहं ओरालियसरीरणामं वेउव्वियसरीरणामं आहारसरीरणामं तेयासरीरणामं कम्मइसरीरणामं ।
षट्खंडागम, ३१

१९. उदारं बृहत् स्थूलद्रव्यमित्यर्थः, तन्निर्वृत्तमौदारिकम् ।
तत्त्वार्थभाष्य हरिभद्र, वृत्ति २–३८

२०. जस्स कम्मस्स उदएण आहारवग्गणाए पोग्गलखंधा जीवेणोगाहदेसट्ठिदा रस–रुहिर–मांस–मेदट्ठि–मज्ज–सुक्कसट्ठावओरालियसरीररसरूवेण परिणमंति तस्स ओरालियसरीरमिदि सण्णा ।
धवला, पुस्तक ६, पृ. ६९ एवं. मूलाचारवृत्ति, १२–१९३

२१. अष्ट गुणैश्वर्ययोगादेकानेकागुणमदृच्छ शरीरविविधकरणं विक्रिया सा प्रयोजनमस्येति वैक्रियम् । सर्वार्थसिद्धि, २/३६/१९१/६

२२. चतुर्दशपूर्वविदा तथाविधकार्योत्पत्तौ विशिष्टलब्धिवशादाह्रियते निर्वर्त्यते इत्याहारकम् (अथवा आह्रियते गृह्यन्ते तीर्थंकरादिसमीपे सूक्ष्मा जीवावयवः पदार्था अनेन इत्याहारकम् ।
शतक प्रकरणवृत्ति, मलधारी हेमचंद्र, २–३, पृ. ५; षडशीति वृत्ति, हरिभद्रीय व्याख्या, ३४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२३. इहोष्मभावलक्षणं तेजः सर्वप्राणिनामाहारपाचकम्, तस्य तेजसो विकारस्तैजसं तेजःसमावस्थान्तरापत्तिः । तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति, २–५०

२४. तत्त्वार्थसूत्र, २/४१

२५. युगपदेकस्यात्मनः । कस्यचिद् द्वे तैजसकार्मणे । अपरस्य त्रीणि औदारिकतैजसकार्मणानि वैक्रियकतैजसकार्मणानि वा । अन्यस्य चत्वारि औदारिकाहारतैजसकार्मणानि विभागः क्रियते ।

सर्वार्थसिद्धिः २/४३/१९५/३

विशेष द्रष्टव्य तत्त्वार्थसूत्र, विवेचक पं. सुखलाल संघवी, पृ. ७४

२६. आचारांग निर्युक्ति, १/१/२/७१, जीवाजीवाभिगम, १/८, प्रज्ञापना, १/१२,१३. उत्तराध्ययनसूत्र, ३६/७०, अणुओगदाराइ, ५ तिलोयपन्नत्ति, ५/२७८

२७. कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि । तत्त्वार्थसूत्र, २४

२८. संज्ञिनः समनस्काः । वही. २/२५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वल्लभ-सम्प्रदाय में ब्रम्ह-सम्बन्ध की अवधारणा

श्रीमद् वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत में ब्रह्म-सम्बन्ध एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रत्यय है। किन्तु यह केवल एक विचार ही नहीं वरन् एक प्रकार का संस्कार भी है अथवा दीक्षा भी है, जिसे सम्प्रदाय में प्रवेश करने वाले प्रत्येक शिष्य को पुष्टिमार्गी गुरु अर्थात् सम्प्रदाय के गुरु द्वारा ग्रहण करना आवश्यक होता है। वल्लभ-दर्शन में वस्तुतः यह इसी अर्थ में महत्त्वपूर्ण है। इस ब्रह्म-सम्बन्ध को समझने के लिये हमें शुद्धाद्वैत-दर्शन को समझना होगा। शुद्धाद्वैत का अर्थ ही है कि परम सत्ता अद्वैत-ब्रह्म माया की उपाधि से रहित 'शुद्ध' है।[1] जहां तक जीव और जगत् की स्थिति का प्रश्न है, उन्हें वल्लभ इसी शुद्ध ब्रह्म का वैसे हीं परिणाम कहते हैं जैसे स्फुल्लिग अग्नि का परिणाम है।[2] दोनों में अंतर इतना ही है कि जड-जगत् में ब्रह्म का केवल सदंश ही रहता है, जब कि जीव में चिदंश भी रहता है। सच्चिदानंद ब्रह्म के आनंद का दोनों में अभाव रहता है।

इस तरह वल्लभ-दर्शन में जीव, ब्रह्म का अंश ही है। ब्रह्म का अंश होने के कारण जीव ब्रह्म के समान ही सत्य है। इस ब्रह्म और जीव में अभिन्नत्व है।[3] किन्तु शंकर के समान वल्लभ यह नहीं कहते कि जीव ब्रह्म ही है। उनके अनुसार जीव की शक्ति अपनी सत्ता अनुसार सीमित है, जबकि बह्म की शक्तियां असीम एवम् अनंत हैं। जीव में ब्रह्म का आनंदांश नहीं होता, इसलिये वह इस संसार में तरह-तरह के दुःख उठाता है।

प्रश्न उठता है कि तरह-तरह के दुःखों से जीव किस प्रकार मुक्त हो सकता है ? उत्तर में वल्लभ कहते हैं कि इसका एकमात्र उपाय ब्रह्म-सम्बन्ध है। वस्तुतः अंशी-जीव ब्रह्म से अपने वास्तविक संबंध को अज्ञानवश भूल जाता है। वह भूल जाता है कि वह सच्चिदानंद ब्रह्म का ही एक अंश है। श्रुतियां, 'अहं ब्रह्मास्मि', अयमात्मा ब्रम्ह', 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों द्वारा इसी भूले हुये सम्बन्ध की याद दिलाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर जीव का ब्रह्म से सम्बन्ध हो कैसे ? वल्लभ ज्ञानमार्ग को इस हेतु अनुपयुक्त बताते हैं। यद्यपि वे कहते हैं कि दुख की जड़ ब्रह्म से अपने सम्बन्ध को भूल जाना है, किन्तु इस सम्बन्ध का ज्ञान मात्र हो जाने से जीव मुक्त नहीं हो जाता। इस हेतु वे ईश-भक्ति को ही एकमात्र साधन कहते हैं। किन्तु उनकी भक्ति भी विशेष प्रकार की है। यह मर्यादामार्गी न होकर पुष्टिमार्गी है, जहां, भक्त अपने बल-बूते पर भक्ति नहीं प्राप्त कर सकता, उसे तो बस भगवद्-अनुग्रह पर ही निर्भर रहना पड़ता है।[४] उल्लेखनीय है कि पुष्टिमार्ग में कृष्ण साक्षात् पुरुषोत्तम हैं, अतः जीव उनके ही अनुग्रह की कामना करता है। कृष्णानुग्रहरूपाहि पुष्टिः[५] अर्थात् कृष्ण का अनुग्रह ही पुष्टि है।

वल्लभ-दर्शन में कृष्ण का यह अनुग्रह वैसे तो अहेतुक[६] बताया गया है, पर जो भक्त अनुग्रह-प्राप्ति की आशा रखता हो उसके लिये सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन ईश्वर की शरण में जाना है; 'पुष्टिमार्गे शरणमेव साधनम्'। इसके लिये भगवान् को सब कुछ समर्पित कर देना आवश्यक है।[७] गीता में अर्जुन को दी गई शिक्षा कि "तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो दान देता है तथा जो तप करता है वह सब मुझे अर्पण कर दे" हर एक पुष्टिमार्गी को ध्यान में रखना आवश्यक है। वल्लभाचार्य कहते हैं, इस समर्पण से जीव की सभी चिंताएं दूर हो जाती हैं। अनुग्रह-परायण भगवान् अंगीकृत जीवों को लौकिक गति नहीं प्रदान करेंगे[८]। इस समर्पण को वल्लभ-दर्शन में आत्म-निवेदन तथा शरणागति भी कहा गया है। आचार्य कहते हैं, आत्म-निवेदन होने के पश्चात् निवेदित वस्तु के साथ प्रभु का संबंध हो जाता है, तब फल की दृष्टि से उसका अन्यथा विनियोग हो जायेगा, ऐसी चिन्ता क्यों चाहिये ?[१०] जिस प्रकार गंगाजी में आने वाले समस्त दोष और गुण मिल कर गंगामय हो जाते हैं और गंगारूप से ही उनका निरूपण किया जाता है, ठीक उसी प्रकार सब पदार्थ आत्मनिवेदन हो जाने पर ब्रह्म-भाव को प्राप्त होते हैं।[११] वल्लभ कहते हैं कि दोषों की निवृत्ति के लिये मनुष्य के पास आत्मनिवेदन के अतिरिक्त और कोई उपाय है भी नहीं, अतः उसके लिये यही उचित है कि वह असमर्पित वस्तु का त्याग करे।[१२] और अपना कार्य भगवान् को समर्पित करते हुये ही करें।[१३]

वल्लभ-सम्प्रदाय में कृष्ण की शरण के अतिरिक्त गुरु की शरण भी महत्त्वपूर्ण मानी गई है क्योंकि गुरु ही जीव का ब्रह्म से सम्बन्ध कराता है। वस्तुतः ब्रह्म-सम्बन्ध, जैसा हमने प्रारंभ में लिखा है, एक प्रकार की दीक्षा है, जो पुष्टिमार्ग में प्रवेश करने वाले प्रत्येक भक्त को पुष्टिमार्गी गुरु से ग्रहण करनी होती है। ये पुष्टिमार्गी गुरु श्री वल्लभाचार्य के वंशज होते हैं। ब्रह्म-सम्बन्ध कराने के पूर्व गुरु स्नानादि करने के पश्चात मंगल-मुहूर्त में अपने हाथ से शिष्य के गले में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुलसी की कंठी 'श्री कृष्ण शरणम् मम' इस महामंत्र का तीन बार उच्चारण करवाते हुये डालते हैं। इसे कंठी–धारण कहते हैं। इसके पश्चात् गुरु शिष्य से चौरासी अक्षरों का एक गद्य–मंत्र उच्चारित करवाते हैं, जो इस प्रकार है: 'श्री कृष्ण शरणम् मम। सहस्त्र परिवत्सरमितकालज्ञात कृष्णवियोजनिततापक्लेशानंद तिरोभावोऽहम् भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि तद्धर्मांश्च दारागारः पुत्रेहापराणि आत्मना सह समर्पयामि। दासोऽहम् कृष्ण तवास्मि।" मंत्र का अर्थ है " मैं कृष्ण की शरण में हूं। सहस्त्रों वर्षों से मेरा कृष्ण से वियोग हुआ है। वियोग–जन्य ताप और क्लेश से मेरा आनंद तिरोहित हो गया है। अतः मैं भगवान् श्रीकृष्ण को देह, इन्द्रिय, प्राण, अंतःकरण एवम् उनके धर्म, स्त्री, पुत्र चित्त और आत्मा, सब कुछ समर्पित करता हूं। हे कृष्ण मैं आपका दास हूं, मैं आपका ही हूं।" इस प्रकार की दीक्षा द्वारा भक्त भगवान् को आत्म–समर्पण करता है।

यहां उल्लेखनीय है कि स्वयम् वल्लभाचार्य ने अपने भक्तों को यह दीक्षा देना आरंभ किया था। उन्होंने लिखा है कि स्वयम् भगवान् कृष्ण ने उन्हें यह दीक्षा देने अर्थात् जीवों का ब्रह्म-सम्बन्ध कराने की आज्ञा दी थी। चौरासी बैष्णव की वार्ता में उल्लेख है कि जब आचार्यजी को चिन्ता हुई कि दोषरहित जीव का सम्बन्ध ब्रह्म से कैसे हो, तब ठाकुरजी ने प्रगट होकर कहा कि तुम जिन जीवों का ब्रह्म-सम्बन्ध करवाओगे, उन्हें मैं अंगीकार करूंगा और तब उनके सकल दोष निवृत्त हो जायेंगे।'[४] सिद्धान्त रहस्य में आचार्य वल्लभ ने ब्रह्म-संबंध होने से जीव के निवृत्त होने वाले पांच प्रकार के दोषों—सहज, देशज, कालज संयोगज और स्पर्शज दोष—का उल्लेख किया है। सहज दोष वे हैं जो जीव के साथ ही उत्पन्न होते हैं। देशज दोष उन्हें कहते हैं जो देश के कारण उत्पन्न होते हैं। कालज दोष काल से उत्पन्न होने वाले, संयोगज दोष संयोगवश उत्पन्न होने वाले होते हैं तथा स्पर्शज दोष स्पर्श से उत्पन्न होते हैं। आचार्य जी यहां कहते हैं : अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथंचन' अर्थात् ब्रह्म-संबंध के बिना और किसी उपाय से समस्त दोषों की निवृत्ति संभव नहीं है।'[५]

सिद्धांत-रहस्य में उल्लेख है कि स्वयम् भगवान् ने श्रावणमास के शुक्ल पक्ष की एकादशी को प्रगट होकर आचार्य जी से ब्रह्म-सम्बन्ध से होने वाले लाभ तथा ब्रह्म-सम्बन्ध के पश्चात् जीव का कैसा व्यवहार होना चाहिये; इसका वर्णन किया था।'[६]

पुष्टिमार्ग में कंठीधारण करने तथा ब्रह्म-सम्बन्ध स्थापित होने के बाद प्रत्येक दीक्षित बालक अपना धर्म समझता है कि 'मैं कभी असत्य भाषण न करूं, किसी की निन्दा न करूं, किसी प्रकार का कायिक, मानसिक एवम् वाचिक दुष्कृत न करूं। अपना खान पान, रहन-सहन, जीविका-वृत्ति सबका सद्वृत्ति के साथ निर्वाह करूं और जो कुछ करूं, भगवान् को अर्पण कर दूं।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित भक्त लिये 'श्रीकृष्ण शरणम् मम' इस अष्टाक्षर मंत्र का बड़ा महत्त्व है। इसका वह नित्यप्रति जाप करता है। इसकी महिमा के विषय में कहा गया है कि

'य स्मरेत्तु सदा मंत्रम्, श्री कृष्ण शरणम् मम।
अष्टाक्षरं जपेन्नित्यं यमो दृष्ट्वा हि शंकते॥'

अर्थात्, जो प्राणी सदैव 'श्री कृष्णम् शरणम् मम' इस प्रकार स्मरण करता है, जो इस अष्टाक्षर मंत्र का नित्य प्रति जप कीर्तन करता है, उसको देख कर यम भी निश्चय ही शंकित होते हैं।

दर्शन विभाग शोभा निगम
शासकीय छत्तीसगढ़ महाविद्यालय
रायपुर–४९२००१
(म. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. शुद्धाद्वैत मार्तण्ड, २६
२. अणुभाष्य, २–३–४३
तुलनीय, मुंडकोपनिषद्, २–१–१
बृहदारण्यक उपनिषद्, २–१–२०
३. शुद्धाद्वैत मार्तण्ड, १५; १६
४. अणुभाष्य, २–३–४२; ४–४–९
५. तत्त्वदीप निबंध, भागवत प्रकरण
६. कृष्णानुग्रहरूपाहि पुष्टिः कालादिबाधिका। तत्त्वदीप निबंध विवेक–धैर्याश्रयनिरूपणम्, २
७. प्रमेयरत्नार्णव, ४–१९
८. भगवद् गीता, ६–२७
९. नवरत्नम्, १
१०. वही, ३
११. सिद्धांत–रहस्यम्, ८
१२. वही, ४
१३. वही, ५
१४. चौरासी वैष्णव की वार्ता, पृ. १
१५. सिद्धांत–रहस्यम् – २, ३, ४
१६. वही, १

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बौद्ध-धर्म : मानवीय मूल्यों का धर्म

आंतरिक सद्वृत्तियों की अक्षय पूंजी ही मनुष्यता; है जिसके कारण सृष्टिखंड का एक प्राणी-विशेष मनुष्य कहलाता है। चेतना, विवेक और ज्ञान से उद्भूत निःस्वार्थ-निर्व्याज सत्कर्मों का अशेष व कालजयी परिवृत्त ही वे मानवीय मूल्य हैं, जिसके कारण सन्दिग्ध जीवन अर्थवान् हो पाता है। अथवा समूह के जीवन को गरिमा दे पाता है।

बौद्ध धर्म का इतिहास इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि इस धर्म का विकास ही मानवीय मूल्यों की रक्षा के लिए हुआ। इसका उत्थान किसी आकस्मिक घटना के कारण नहीं, अपितु उस विचारधारा के परिणामस्वरूप हुआ, जिसमें कर्मकाण्ड, हिंसा, युद्ध, यज्ञ और पुरोहितवाद के आडम्बर सन्निहित थे। यह विचारधारा समाज को एक बडे वर्ग को वेद व उपनिषद् के अध्ययन तथा यज्ञ आदि करके अपना लोक-परलोक सुधारने के अधिकार से भी वंचित करती थी। अर्थात्, अध्ययन, मनन एवं अपने संस्कारों के परिष्कार का अधिकार भी व्यक्ति को स्वयं नहीं था, क्योंकि वह जन्म से एक छोटे तबके में पैदा हुआ था। यह पराधीनता समाज के अन्य वर्ग पर भी अप्रत्यक्षः आरोपित थी। जन्म से मरण तक वह पुरोहितों का गुलाम था। समग्र समाज बौद्धिक संक्रमण की दौर से गुजर रहा था। कर्मकांड पूर्णतः ज्ञानकांड पर हावी हो चुका था। साधारण जन ज्ञान तक पहुंच पाना चाहता था लेकिन उपनिषदों की कैद में पड़ा ज्ञान उसकी सामर्थ्य-सीमा से बाहर था। वह धर्म के बिना जी नहीं सकता था। लेकिन धर्म का एकमात्र रास्ता यज्ञ और बाह्याडम्बर के पड़ाव से गुजरता था

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और इस पड़ाव से वह मुक्ति चाहता था। उसे ऐसे धर्म की आवश्यकता महसूस हो रही थी जो सुगम व सुबोध हो, जिसमें पशुबलि की क्रूरता व व्यर्थ का आडम्बर नहीं हो, जो मनुष्य को अतिभोग से दूर रखे, उसे सद्धर्म की ओर प्रयाण करने की प्रेरणा दे, लेकिन तपस्या व यति-वृत्ति की कठोरता और नाना प्रकार के द्वन्द्व या ऊहापोह की विधियों में न उलझाये। व्यवहारिक धर्म की जन-आकांक्षा को भगवान् बुद्ध ने पहचाना और उसे एक सरल-सुगम, सुबोध, व्यवहारिक, बौद्धिकतायुक्त, व्यर्थ की उलझनों से परे और हृदय तथा मस्तिष्क को संतृप्त कर सकने वाला एक सार्थक धर्म प्रदान किया। इस धर्म-दर्शन की भाषा संस्कृत जैसी देवभाषा नहीं, अपितु जन-साधारण के बीच लोकप्रिय और बोल-चाल की भाषा पालि थी। तथागत ने उपदेशों को दार्शनिक रहस्यवाद की खाई से निकाल कर एक समतल उर्वर जमीन में बोया और साधारण जन को समझाया ......मनुष्य दुखी हैं। यह दुख अकारण नहीं है। इस दुःख का निरोध संभव है और इस निरोध का मार्ग भी है। ये चार आर्यसत्य हैं। इनको मानना, इनके अनुसार चलना ही धर्म है। यही धर्ममार्ग है और मुक्तिमार्ग भी यही है।

पूर्व के धर्मों के विपरीत बौद्ध धर्म के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त अथवा निष्कर्ष जीवन की वास्तविक आधार-भित्ति पर अवस्थित थे। इनमें की गुत्थियों को सुलझाने का अपूर्व सामर्थ्य सन्निहित था। फलतः ये उपदेश ग्रन्थों तक ही निहित न रहकर जीवन के वास्तविक कार्यक्षेत्र में फलदायी होते थे। भ्रम या मिथ्या दृष्टि का इन सिद्धान्तों पर कोई दुष्प्रभाव संभव नहीं था, क्योंकि इनका स्वरूप पूर्णतः ठोस था। स्वव्याख्यायित ये सिद्धान्त चार विभिन्न श्रेणियों में विभक्त थे — १ – दुख, २ – दुख समुदय, ३ – दुख निरोध, तथा ४ – दुख – निरोध – गामिनी प्रतिपदा।

स्वयं में अन्तर्निहित है दुःख का हेतु

बौद्ध-चिन्तन के अन्तर्गत मुख्य रूप से दुःख एवं दुःख से निवृत्त को ही प्रधान स्थान दिया गया है। यही दुख आर्य सत्य है। इसके अनुसार जन्म दुख है, रोग दुःख है, बुढ़ापा दुःख है, मृत्यु दुःख है, इसके अतिरिक्त मनस्ताप, अष्टम वेदना आदि दुःख हैं। संक्षिप्ततः समस्त पंच स्कन्ध दुःख हैं। पर इस दुःख से निवृत्ति का मार्ग भी बड़ा ही सुस्पष्ट, सत्य एवं अविरोधात्मक रूप में व्यक्त किया गया है। बुद्ध के अनुसार अगर इस जगत् में दुःखऔर दौर्मनस्य नहीं होते, और सारा वातावरण इच्छानुकूल होता तो हमें किसी भी धर्म को मानने की आवश्यकता हीं नहीं होती। मनुष्य भौतिकवादी सुखों का उपभोग करते हुए चावार्क के आदर्शों का पालन करता। दुःख संसार में विद्यमान है – यह सत्य है, इसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभी दार्शनिक, वैज्ञानिक, छोटे-बड़े तथा गरीब-अमीर मनुष्यों ने स्वीकार किया है।

पुनः जीवन की सबसे बडी समस्या दुःख है, इससे बड़ा और कोई कष्ट नहीं। भगवान् बुद्ध ने इसे महाव्याधि की संज्ञा दी है। इस महाव्याधि के उमड़ते समुन्द्र में जन-समुदाय की हर इकाई अहर्निश विद्ध है। परन्तु दैहिक आवश्यकता की पूर्ति उसे ऐश्वर्याकांक्षा के अन्य दायरों में खींच ले जाती है। फलतः उसकी आवश्यकताओं का कहीं अन्त नहीं होता। अन्ततः उस मरणान्तक संग्राम का मूल कारण क्या है? वह है मानवीय जिजीविषा अथवा तृष्णा जिसे बुद्ध ने 'तण्हा' के नाम से विभूषित किया है। यही है मानवीयता पर अत्याचार का मूल स्रोत, धन-वैभव के लिए तृष्णा, क्रोध, घृणा, द्रोह, शत्रुता, ईर्ष्या, पाखण्ड, प्रवंचना का मूल आधार तथा महान् व्यक्तित्वों और राष्ट्रों का विनाशक तत्त्व। यहीं से संसारव्यापी अशान्ति का सूत्रपात होता है, जो वर्तमान समय में सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहा है।

मानव-मात्र के सम्पूर्ण दुःखों का हेतु मानव में ही अन्तर्निहित है। बुद्ध के अनुसार यह मनुष्य के वश में है, और इसका विनाश कर वह आत्मिक शान्ति को प्राप्त कर सकता है। लेकिन अज्ञानता के कारण ही मानव इसे नहीं स्वीकारता। यदि सच्चाई के साथ वह अपने अन्तर को टटोले, तो पायेगा कि सारे दुःखों का मूल आधार 'तण्हा' है, जो उसके हृदय में वर्तमान है। भगवान् बुद्ध का जीवन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

चितशुद्धि है 'तण्हा' से मुक्ति का मार्ग

दुःख के कारण का विनाश प्रार्थना, किसी दैवी सिद्धान्त में विश्वास या किसी बाहरी शक्ति के व्दारा संभव नहीं है। इसे सहानुभूति और आत्मसिद्धि के द्वारा ही विनष्ट किया जा सकता है। इसी चित्तशुद्धि के लिए भगवान् बुद्ध ने आठ सोपानों से युक्त मार्ग का प्रतिपादन किया, जिसे अष्टांगिक मार्ग के नाम से जाना जाता है। बुद्ध के अनुसार चित्तशुद्धि तक पहुंचना असम्भव नहीं, चाहे वह कठिन भले ही हो। उन्होंने कहा कि मानव में ऐसी क्षमता है कि यदि वह अपने को विशेष रूप से शिक्षित करें तो सर्वग्रासिनी 'तण्हा' से मुक्ति पा सकता है। इस दृष्टि से बौद्ध धर्म अन्य धर्मों से अधिक आशावादी, प्रतीत होता है। यह समस्त मानव के समक्ष एक आशापूर्ण और सुलभ भविष्य की कल्पना प्रस्तुत करता है, जो मृत्यु के पश्चात् नहीं बल्कि इसी धरती पर संभव है।

जीवन, सम्पत्ति, नैतिकता एवं धर्म के सम्बन्ध में विचार एवं धारणाएं व्यक्ति को अपने वातावरण से प्राप्त होती है। अतः वह उस वासना या इच्छा का शिकार हो जाता है जो उसने अपने पूर्वजों में देखी है। यदि वह अपने आपको

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रचलित अंधविश्वासों से मुक्त कर ले तो वह जीवन और जगत् को अन्य दृष्टि से देखने लगेगा। तब वह प्रखर शक्ति का सामना करेगा। अतः जीवन के प्रति बौद्ध दृष्टि एक प्रकार की शिक्षा है जिसका अनुपालन जीवन के चरम उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। इस मार्ग के निम्नरूपेण वर्णित आठ आयाम हैं—

सम्यक् दृष्टि के माध्यम से बुद्ध यह बतलाने का प्रयास करते हैं कि सम्यक् दृष्टि के द्वारा ही मानव अपने कार्य-सम्पादन समुचित रीति से कर सकता है। यदि मिथ्या दृष्टि के कारण मानव लोभ, क्रोध, मोह और द्वेष में फंसता है तो अपने पथ से विलग होता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि धार्मिक; सामाजिक और राजनीतिक मामलों में सम्यक् दृष्टि का अभाव इस संसार में सर्वदा वैमनस्य और कष्ट का कारण रहा है। यदि सम्यक् दृष्टि का आधार बना कर उसके अनुरूप व्यवहार किया जाय, तो आज के समाज में व्याप्त धार्मिक अंधविश्वास के नाम पर उठे विवादों से पूर्णतः छुटकारा मिल सकता है। इतिहास के पृष्ठ धार्मिक उत्पीड़न की घटनाओं से भरे पड़े हैं। धार्मिक क्षेत्र की हिंसात्मक घटनाएं इन मिथ्या धारणाओं के परिणाम हैं, जो वस्तुतः सम्यक् दृष्टि के अभाव के कारण घटित हो रही हैं। बौद्ध धर्म यह शिक्षा देता है कि शस्त्र नहीं अपितु ज्ञान के द्वारा मिथ्या धारणाओं का निवारण परम श्रेयस्कर है। यही कारण है कि इस धर्म के अनुयायियों ने कभी धार्मिक अत्याचार नहीं किया। सम्राट् अशोक का उदाहरण ही इसका यथेष्ट साक्ष्य है, जिसने बौद्ध धर्म को स्वीकारते ही हिंसात्मक विजय के रास्ते का त्याग कर दिया।

पुनः बुद्ध सम्यक् संकल्प का निर्देश करते हुए यह कहना चाहते हैं कि सर्वदा अपने उद्देश्य को सम्मुख रख कर सत्यपथ पर अग्रसर होना चाहिए; तभी सफलता की प्राप्ति संम्भव है।

सम्यक् वाक् से बुद्ध का तात्पर्य है, सत्य भाषण करना, दूसरे के अपमान, कटु वचन और व्यर्थ प्रलाप से दूर रहना। वस्तुतः सामूहिक मिथ्यालाप ही वह कारण है, जिसने दो विश्व युद्धों को जन्म दिया है और अनेक राष्ट्रों में आन्तरिक कलह का वातावरण पैदा किया। आज भी हर राष्ट्र अपने निजी स्वार्थों की सम्पूर्ति के लिए दूसरे राष्ट्रों के विरुद्ध दुष्प्रचार करते हैं। इस राजनैनिक चाल की आड़ में वे पूंजी संग्रहण हेतु शस्त्रास्त्रों की बिक्री और दूसरे राष्ट्रों के आर्थिक दोहन में संलग्न हैं। भारतीय परिप्रेक्ष्य पर ध्यान दें तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन्हीं दशकों में जो धर्म के नाम पर हुआ विद्रोह भी इसी सामूहिक मिथ्यालाप और मिथ्या दृष्टि का परिणाम था। जो मिथ्यालाप करने वाले लोग हैं उन्हें युद्धजनित नरसंहार की कोई चिन्ता नहीं है, लेकिन पीड़ित होती है सम्पूर्ण मानवीयता। उपरोक्त वर्णित तथ्यों के आलोक में मौजूदा हालात में चतुर्दिश शान्ति के निमित्त सम्यक् वचन की नितान्त आवश्यकता प्रतीत होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुद्ध के अनुसार सम्यक् कर्मान्त का तात्पर्य है हिंसा, चोरी, ठगी, और मद्यपान से विलग रहना। हिंसा मानव के निम्नतम मानसिक स्तर का द्योतक, है; क्योंकि हिंसा के अनुगामी नर-संहार के द्वारा ही मानसिक सन्तोष प्राप्त करते हैं। यह वस्तुतः आदिमयुगीन बर्बरता का परिचायक है। बुद्ध के सम्यक् कर्मान्त का अनुसरण कर मनुष्य वास्तविक लाभ का कार्य कर सकता है। उदाहरण स्वरूप-गरीबों की सहायता, रोगियों की सेवा-शुश्रुषा तथा दयाक्षमा से युक्त अन्य परोपकार के कार्य।

सम्यक् आजीव के द्वारा बुद्ध जीवन के सद्व्यवहार का वास्तविक रूप निर्धारित कर संसार की अनेक बुराइयों का मूलोच्छेदन कर देते हैं। बुद्ध के द्वारा निर्दिष्ट पांच व्यवसायों को जीविकोपार्जन के सन्दर्भ में त्याग दिया जाय तो संसार अपने वर्तमान स्वरूप की अपेक्षा अधिक सुखकर तथा शान्तिदायक आवास का रूप ले सकता है। यहां द्रष्टव्य है कि अब्राहम लिंकन से सदियों पूर्व सम्यक् आजीव आदि के उपदेशों तथा उसके व्यावहारिक उपयोग के माध्यम से बुद्ध ने भारत में दास-प्रथा का मूलोच्छेदन किया था।

सम्यक् स्मृति और सम्यक् व्यायाम के माध्यम से बुद्ध यह निर्देश देना चाहते हैं कि मन ही मानव के प्रत्येक विचार का आश्रय स्थल है, इसकी शुद्धि से मानव के सम्पूर्ण क्रिया-कलापों की शुद्धि हो जाती है। अतः सतत जागरूक होकर ही मन में उचित विचारों को प्रश्रय देना चाहिए तथा अन्य लोगों के साथ व्यवहार में अलग और सचेत रहना चाहिए। इस प्रकार मन की शुद्धि, एकाग्रता तथा ध्यान के माध्यम से मानव उच्चतम मानसिक शक्तियों के विकास की चरम अवस्था निर्वाण पद तथा बोधि की प्राप्ति और उद्भव का महानतम साधन है।

स्वयं के लिए प्रकाश बनो

तथागत स्वविवेक के आधार पर सिद्धान्तों का अनुसरण अथवा परित्याग का सन्देश देते हैं। वे कहते हैं कि हरेक अपनी सद्बुद्धि से सत्य का अन्वेषण करे। मार्ग देना मेरा कार्य था और उस पर अग्रसरित होना उनका कार्य है। एक अन्य सन्देश में वे कहते हैं, 'मेरे उपदेश पर विश्वास रखो। बुद्धि से उन्हें समझने की कोशिश करो और हर एक आदेश को अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करो। पवित्र से पवित्र जीवन बिताओ और नियमित रूप से ध्यान और समाधि करो'। यह धर्म का अत्यन्त व्यावहारिक रूप था, जिसमें सम्मिलित उपदेश मानव-मात्र की विचार-स्वतत्रता की आधार-शिला साबित हो सकते हैं और पारम्परिक अंधविश्वास से मानवता को मुक्त करने के लिए सचेष्ट प्रतीत होते हैं।

मनुष्य के धार्मिक इतिहास में यह एक नवीन मोड़ था। तथागत के सन्देश एक सुधारक के सन्देश थे, जिसके द्वारा शुभ संस्कार एवं शील-संसाधन के सतत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपयोग द्वारा सम्पन्न होने वाले हृदय के अन्तस्थलीय परिवर्तन का प्रतिपादन किया गया था। और सबसे बडी बात यह थी इस धर्म में आत्मोन्नति की प्रक्रिया बाह्य शक्ति पर निर्भर नहीं थी, बल्कि इसका उद्भवस्थल व्यक्ति का आन्तरिक जगत् था —'स्वयं के लिए प्रकाश बनो, स्वयं के लिए शरण बनो, स्वयं से परे कोई शरण नहीं है।' जाहिर है कि इस सिद्धान्त में शास्त्र आदि द्वारा आरोपित तथ्यों को गौण बना दिया और व्यक्ति-विशेष की प्राधानता प्रतिपादित की। अर्थात् यह संदेश दिया कि सक्रियता का केन्द्र-बिंदु मनुष्य है। वही सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीव आदि अष्टआयामी मार्ग के अनुसरण द्वारा इस सृष्टि खण्ड में मानव मूल्यों को सुरक्षित रख सकता है। उसके कर्म-फल का लेखा-जोखा करने वाला कोई रहस्यात्मक प्रभु नहीं है और न नैतिक के प्रेरणा के लिए किसी दैवीय शक्ति की अपेक्षा है। बाह्यप्रभुता की शरण के लिए बिना स्वप्रकाश में वह मानव स्वतंत्रता और मानवाधिकार का संरक्षण कर सकता है।

अतीत से वर्तमान तक

संभवतः किसी धर्म या जीवन-मार्ग की प्रभावशीलता और उपयोगिता की परीक्षा उन परिवर्तनों से की जानी चाहिए जो उनके अनुयायियों के जीवन में तत्संदर्भित सिध्दान्तों के पालन से की जाती है। इस दृष्टि से विश्लेषण करें तो बौध्द धर्म अन्य धर्मों से अधिक प्रभावी साबित होता है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि भगवान् बुध्द ही भारत में सर्वप्रथम सुधारक थे, जिन्होंने समाजगत जाति-भेद की विषमता एवं अस्पृश्यता के विरुद्ध प्रबल अभियान शुरू किया। समाज के निम्नतम तबके को एक नया जीवन प्रदान किया और यह सन्देश दिया कि ब्राह्मणत्व की उपलब्धि कर्म से होती है, न कि जन्म से।

धर्म के प्रभाव और उस पर आये तथा-कथित संकटों के निवारणार्थ भक्तों ने सदियों से आजतक पता नहीं कितने मनुष्यों की हत्या की। लेकिन यह उल्लेखनीय तथ्य है कि बौद्धधर्म के नाम पर आजतक रक्तपात की कोई घटना अंकित नहीं हो पायी। हां, रक्तपात-निषेध में इसने अपूर्व सफलता पाई। सम्राट् अशोक जैसे विजयाकांक्षी शासक को इसने अहिंसा से आपूर्त कर संपूर्ण प्राणियों के प्रति दया एवं करुणा के महान् लक्ष्य की ओर अग्रसर करने में उल्लेखनीय सफलता पाई।

पुनः एकबार विश्लेषण की ओर लौटें। तथागत ने कहा था कि महाव्याधि तृष्णा ही हमारे सब दुःखों का मूल है। यही तृष्णा सभी मानव मूल्यों के विनाश में संलग्न है। यह केवल नाम का अकुशल मल नहीं, बल्कि यथार्थ में मानव-मूल्यों का सबसे बड़ा विध्वंसक आयुध है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब मौजूदा हालात में व्यक्ति से विश्वतक की स्थिति का आकलन करें, संदर्भित परिप्रेक्ष्य में तथागत के सन्देश की गहरी व व्यावहारिक जांच-पड़ताल करें तो पायेंगे कि मौजूदा समय में इसी तृष्णा की लपट में व्यक्ति, समाज और विश्व जल रहा है। तथागत का संदेश अब भी प्रासंगिक है। यही तृष्णा विश्वव्यापी अशांति का मूल कारण है। व्यक्ति की जिजीविषा और भौतिक सुखों की एषणा, विश्रृंखलितता और नैतिकता-विहीन समाज की समस्या, तदनुरूप राष्ट्र और विश्व के स्तर पर युद्धोन्मत्त प्रवृत्तियां, आर्थिक दोहन और शोषण की व्यूह-आकूत वृत्तियां-सबका दमन व निराकरण बुद्ध के निर्देशों के आचरणानुगत पालन से संभव है। 'तण्हा' से मुक्ति का मार्ग उपलब्ध है। आज अष्टसोपानों से युक्त अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण अधिक अनिवार्य है क्योंकि अगर विकास का इतिहास मानव का इतिहास है तो इस इतिहास का अध्याय मूल्य-निर्माण का अध्याय है। मूल्यों का इतिहास हमारा है और यह इतिहास प्रलय-उपरान्त विनष्ट सृष्टि के पश्चात् जीवित बचे एक मात्र शिशु के लिए मां का ममत्व है, लोरी है, जो उसे पुनः एक नयी सृष्टि की संरचना में योगदान देने का सामर्थ्य दे सकता है।

कुसुम कुमारी

शैवास
क्वार्टर नं. ३
नया प्रखण्ड
चंदौती
गया – ८२३००१
(बिहार)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'संख्या' का विचार : वाक्यपदीयम् के विशेष सन्दर्भ में

द्रव्य और गुण की तरह संख्या भी दार्शनिक चिन्तन का एक महत्त्वपूर्ण विषय है। बाल से लेकर वृद्ध तक सभी संख्या का व्यवहार करते हैं। बच्चों को एक, दो के क्रम में सौ, हजार, लाख आदि संख्याओं को सिखाया जाता है और जब वे इसे सीख लेते हैं तो संख्या का खोल खोलते रहते हैं। लोक व्यवहार में वस्तुओं, विचारों को गिनने, एक वस्तु या विचार को दूसरे से पृथक् करने के लिए संख्या का प्रयोग देखा जाता है, एवं संख्या की गणना भी की जाती है।

संख्या का आश्रय क्या है? यह कब से व्यवहार में आयी? इन प्रश्नों पर सामान्यतः हम मान कर चलते हैं कि एक, दो आदि संख्याएं नित्य प्रदत्त हैं और जिस रूप में ये परम्परया प्रयुक्त होती रही हैं उसी रूप में इनका व्यवहार यथार्थ या निश्चित होता है। उदाहरण के लिए परम्परया एक, दो तीन, चार के क्रम में ही संख्याएँ प्रयोग में आती हैं और इसी क्रम को सार्वभौम और निश्चित माना जाता है। यदि क्रम में कहीं अव्यवस्था या विपर्यास कर दें तो इसे गलत माना जाता है और विपर्यस्त क्रम को सभी अस्वीकार करते हैं। जिस रूप में संख्याएं प्रयुक्त होती हैं उसी रूप में वे सर्वभौम हैं। 'सार्वभौम' कहने का तात्पर्य यह है कि सभी इसी रूप को मान कर काम करते रहे हैं और आगे भी इसे ही मान कर काम हो सकता है; अन्यथा भ्रम होगा, व्यवहार से विरोध होगा। 'दो और दो चार होते हैं-' यह सत्य है, और दो 'और दो पाँच होते हैं-'- यह असत्य है-ऐसा निर्णय किस आधार पर किया जाता है? हम इसका उत्तर इस रूप में देते हैं कि 'दो और दो मिल कर चार होते हैं' यह परम्परा-सिद्ध है और इसीलिए इसी को मान कर व्यवहार करना निश्चित तथा यथार्थ होता है; अन्यथा करना परम्परा और व्यवहार दोनों से विरुद्ध होन से असत्य होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गणितज्ञ भी कहेंगे कि दो की दो इकाई और दूसरे दो को दो इकाई को जोड़ने पर चार ही होगा, और पाँच कहना गलत हो जाएगा। इस प्रकार गणितज्ञ भी प्रसिद्धि की बात का समर्थन करते हैं। चार के बाद पाँच संख्या कही जाती है। पाँच के बाद चार को क्यों नहीं कहा जाता ?. इसके पीछे भी परम्परा-प्रसिद्धि युक्ति के रूप में दी जाती है।

यदि यह कहें कि क्या 'एक' संख्या एक द्रव्य है और दूसरी संख्या दूसरा द्रव्य है, तो प्रश्न उठता है कि वह (द्रव्य) कोई आन्तरिक चीज है अथवा बाह्य? व्यवहार में द्रव्य के रूप में संख्या का प्रयोग नहीं होता। गणितादि में पदार्थ रूप से जो संख्या का प्रयोग दीखता है वहाँ भी द्रव्य के उपाधि रूप में या द्रव्य को कहने के लिए संख्या का प्रयोग होता है। इस रूप में संख्या द्रव्यों की संज्ञा होती है। इसी आधार पर वैशेषिकों ने संख्या को द्रव्य का गुण माना है। लोक व्यवहार में पदार्थों को गिनने के लिए संख्या का प्रयोग होता है। इसी आधार पर वैयाकरणों ने संख्या को द्रव्याश्रित माना है। यदि एक, दो आदि संख्याओं को द्रव्यगत मानें तो ये पदार्थ के अवयव रूप होंगे। किन्तु किसी अवयवी के अवयव रूप में संख्या नहीं देखी जाती है। हां, अवयवी एवं अवयव को गिनने के लिए ही संख्या का प्रयोग देखा जाता है। इसी अर्थ में वैयाकरणों ने संख्या को द्रव्याश्रित कहा है। मूर्त और अमूर्त दोनों के सन्दर्भ में संख्या का व्यवहार देखा जाता है। संख्या स्वयं ही अमूर्त जैसी चीज प्रतीत होती है। इस आधार पर यदि यह कहें कि संख्या मूर्तों एवं अमूर्तों की गणना एवं उनके भेदन की मानसिक संकल्पना है—तो इसका तात्पर्य यह नहीं होता कि संख्या कोरी कल्पना है और इसका आधार नहीं है। ऐसा मानने पर तो संख्या व्यवस्थित ही नहीं हो सकती है। अतः यह मानना अनुचित नहीं होगा कि मूर्तों एवं अमूर्तों की भेदक शक्ति के रूप में संख्या की जो संकल्पना व्यवहार में परम्परा से आयी है उसके अनुसार हम जो व्यवहार करते हैं वह कोरी संकल्पना या कोई कृत्रिम कल्पना रूप न होकर यथार्थ और निश्चित होती है। उदाहरण के लिए विषुवत् रेखा किसी काल में कल्पित रही होगी किन्तु जब एक बार विषुवत् रेखा मान ली गयी और उस रूप में लोक में व्यवहृत होने लगी तो विषुवत् रेखा के पूर्व में कौन देश है? पश्चिम में कौन देश है? अथवा जिस नाव से हम विषुवत् रेखा पार करने जा रहे हैं उसने विषुवत् रेखा को पार कर लिया है अथवा नहीं? ये सारे व्यवहार काल्पनिक नहीं रह जाते, बल्कि यथार्थ हो जाते हैं, और इन प्रश्नों का उत्तर भी तथ्यात्मक हो जाता है। द्रव्य या जाति एक है, दो हैं, इस रूप में बोध कराने के हेतु के रूप में संख्या का व्यवहार-परम्परा नित्य है और इसका जिस रूप में व्यवहार होता आया है उसमें उच्छेद न होने से इसमें प्रवाह—नित्यता भी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रसिद्ध नैयायिक उदयनाचार्य ने तो संख्या (द्व्यणुकादि) के परिमाण के उत्पादक दो परमाणुओं में वर्तमान द्वित्व आदि संख्या की उत्पत्ति के निमित्त–कारण की अपेक्षा बुद्धि के आधार के रूप में ईश्वर की सत्ता को सिद्ध कर संख्या को ईश्वर द्वारा उत्पन्न मान लिया है। संख्या को चाहे ईश्वर निमित्त नित्य मानें या परम्परा नित्य मानें, दोनों में परम्परा–नित्यता का उच्छेद नहीं होता है।

इस परम्परा-नित्यता पर आधारित संख्या के रूप का लोकव्यवहार में प्रयोग होता है। इसी रूप का आश्रयण कर वैशेषिकों एवं वैयाकरणों ने संख्या की विवेचना की है। प्रस्तुत लेख का लक्ष्य सामान्य रूप से वैशेषिकों एवं वैयाकरणों के 'संख्या विवेचन' तथा विशेष रूप से भर्तृहरि द्वारा दिए गए संख्या के लक्षण एवं कार्य को स्पष्ट करना है।

भाषा एवं व्याकरण दर्शन में शब्द प्रमाण है। यहाँ व्यवहार में शब्द से जो अर्थ होता है वही अर्थ है।[1] संख्या का जिस अर्थ में प्रयोग होता है वह भी शब्द से ही जानते हैं। 'एक' शब्द का अर्थ एक संख्या है और शब्द का द्रव्य–रूप या जाति–रूप जो अर्थ है उसे संख्यावान् कहते हैं। इन संख्यावानों (द्रव्य, जाति) को गिनने के लिए ही एक, दो आदि संख्याओं का प्रयोग होता है। संख्यावान् पदार्थों की संज्ञा (एक से लेकर परार्ध तक) संख्या है। इन संख्याओं का बोध कराने या संख्याओं को कहने के लिए एक, सौ, हजार आदि संज्ञाओं का प्रयोग किया जाता है। द्रव्य या जाति एक है, दो हैं, इत्यादि ऐसा बोध संख्या के कारण होता है। इसी आधार पर वैशेषिकों ने वस्तुओं को संख्यावान् कहा है और वस्तुओं को गिनने के लिए एक, दो आदि का प्रयोग होता है – ऐसा स्वीकार किया है। सभी भेद–व्यवहार संख्या के कारण होता है। वस्तुओं में भेद–अभेद होते रहते हैं; इसीलिए यह माना जाता है कि संख्या द्रव्याश्रित है।

वैशेषिकों के अनुसार संख्या द्रव्य में रहती है और वह गुण–रूप है। चतुर्विंशति गुण में इसकी भी गणना है। अतः संख्या गुण–रूप है। वैशेषिकों के अनुसार एक, दो, तीन, आदि के व्यवहार के हेतुभूत जो सामान्य गुण है उन्हें संख्या कहते हैं।[2] संख्या दो प्रकार की होती है – एक द्रव्य में रहनेवाली 'एकत्व' संख्या और दूसरी अनेक द्रव्यों में रहनेवाली द्वित्व, त्रित्व आदि संख्याएँ। तर्कभाषाकार के अनुसार 'एकत्व' संख्या भी दो प्रकार की है– एक परमाणु, आत्मा, आदि नित्य पदार्थों में रहनेवाली 'एकत्व' संख्या जो नित्य होती है तथा दूसरी घट, पट, आदि अनित्य पदार्थों में रहनेवाली 'एकत्व' संख्या जो अनित्य ही होती है।[3] तर्कसंग्रहकार के अनुसार[4] द्वित्व, आदि संख्या यद्यपि नित्य एवं अनित्य वस्तुओं में रहती है फिर भी अनित्य है। कारण वह अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होती है। एक संदर्भ से दूसरे का ज्ञान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपेक्षाबुद्धि कहलाता है । यह विभेदक प्रत्यक्ष है जिसके द्वारा "यह एक है" ऐसा बोध होता है और द्वित्व आदि संख्याएँ उत्पन्न होती हैं । उसे तर्कसंग्रहकार ने अनेकैकत्वबुद्धि रूप में परिभाषित किया है । इसे " विनाशक–विनाश–प्रतियोगी बुद्धि " भी कहा गया है । अपेक्षा–बुद्धि के विनाश से द्वित्व आदि का भी विनाश माना जाता है । दूसरी वस्तुओं से तुलना करने की स्थिति में दो, तीन नहीं होते । संख्या का विचार उपमान से निगमित होता है । यदि दो, तीन आदि सख्याएँ नहीं हैं तो एक भी नहीं होगा; क्योंकि एक को भी अपेक्षाबुद्धि की आवश्यकता रहती है । किन्तु तर्कसंग्रहकार ने इसे नहीं माना है । तर्कसंग्रहकार के मत में इसे अपेक्षाबुद्धि की आवश्यकता नहीं होती है और यह सदैव अनित्य नहीं होती अपितु यह नित्यगतं नित्यं और अनित्यगतं अनित्यम् स्वरूप है ।

' एकत्व ' भी अनित्य है किन्तु तर्कदीपिकाकार ने इसे नहीं माना है । अपेक्षा-बुद्धिजन्य के अर्थ में ' एक ' भी अनित्य है क्योंकि यदि विश्व में केवल ' एक ' हो और उस तरह की अन्य वस्तुएँ हमारी बुद्धि में न हो तो उसे ' एक ' भी नहीं कह सकते । दूसरे के संदर्भ से ही ' एकत्व ' का बोध होता है और उस दूसरे से एक–एक करके ' दो ' उत्पन्न होता है । इस अर्थ में ' एकत्व ' भी अपेक्षा-बुद्धिजन्य है ।

हेलाराज प्रश्न उठाते हैं कि यदि यह मानें कि सहायक के न रहने की अवस्था में पदार्थ को एक तथा ससहाय अवस्था में दो, तीन, आदि संख्याओं से व्यक्त करते हैं तो इसका तात्पर्य यह है कि संख्या अलग वस्तु नहीं है । द्रव्य ही एक है और जब उसका सहायक कोई नहीं होता है तो वह ' एक ' सहायक होने की स्थिति में दो, तीन आदि हो जाता है । हेलाराज के अनुसार ऐसा मानना संगत नहीं है क्योंकि अनुभव में ऐसा नहीं होता । सहायक–रहित होना ही 'एकत्व' नहीं । क्योंकि सहायक रहित अवस्था में भी ' एकत्व ' का बोध नहीं होता और सहायक रहने पर भी द्रव्य में " एक " संख्या का बोध होता है – सहायक के रहने पर वे तीन–चार आदि नहीं होते हैं । उदाहरण के लिए " सहैवदशाभिः पुत्रैः भारं वहति गर्दभीः " अतः सहायक असहायक से होता है – ऐसा मानना ठीक नहीं है और एक, दो आदि संख्याओं को पृथक् पृथक् मानना पड़ेगा । [१]

पुनः प्रश्न उठता है कि संख्या द्रव्य से व्यतिरिक्त है या अव्यतिरिक्त ? इस संबंध में दो मत हो सकते हैं – (१) यह द्रव्य से व्यतिरिक्त चीज है (२) यह द्रव्य की आत्मा है या द्रव्य ही है । अगर यह मानें कि संख्या द्रव्य में रहने वाली है, उससे भिन्न नहीं होती है, अतः यह द्रव्य से अव्यतिरिक्त है, तो गुण आदि के संबंध में ' एक शुक्लः ' ' एकः नीलः ' जैसा व्यवहार किस आधार पर किया जाता है ? और यदि संख्या द्रव्य से पूर्णतया भिन्न है तो द्रव्य का ज्ञान संख्या–

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशिष्ट रूप या भिन्न रूप में होगा ही नहीं। वैयाकरण लोग द्रव्य की सत्ता में अधिक रुचि नहीं रखते। उनका संबंध ऐसे विचारों से होता है, जो शब्दों के स्वरूप की व्याख्या में सहायक हो सकें। भर्तृहरि के अनुसार संख्या द्रव्य से भिन्न हो या अभिन्न, व्यवहार में एक, दो आदि शब्दों से भेद किया जाता है। इस भेद का कोई हेतुत्व (हेतुभूत धर्म) होना चाहिए। इसी भेदक शक्ति की संज्ञा संख्या है।

'संचष्टे" इस विग्रह में सम्पूर्वक 'ख्या' धातु से 'संख्या' शब्द बनता है और "संख्यायते यत्" इस तरह कर्म में प्रत्यय करने पर संख्या का अर्थ संख्येय होता है। साथ ही "संख्यायते अनेन" इस प्रकार करण में प्रत्यय करने पर इसका अर्थ संख्यान भी होता है। इस प्रकार संख्या संख्येय एवं संख्यानपरक भी है। इसमें लोक-प्रसिद्धि के अनुसार एक से दस तक संख्याएँ संख्येयपरक होती हैं। इसी के सहारे एक है, दो हैं, तीन हैं, ऐसा वस्तुओं को कहा जाता है। इस प्रकार इसे जो ठीक से कहे, वहीं संख्या है। जो लोग यह मानते हैं कि 'संख्या द्रव्य में रहनेवाली है' उनके मतों के विरुद्ध हेलाराज द्वारा उठाया गया प्रश्न स्वाभाविक है। इसके उत्तर में हेलाराज का कहना है कि संख्या परिच्छेदक है और अर्थ (द्रव्य) परिच्छेद्य है। संख्या परिच्छेद्य में समवाय संबंध से रहने वाली हो या उससे अन्य में रह कर भेद का हेतु हो या गुण से अतिरिक्त किसी द्रव्य में हो (द्रव्य में गुण भी रहते हैं और संख्या भी)। इस प्रकार द्रव्य में गुण और संख्या का सामानाधिकरण्य है। यदि इसी में दोनों है तब तो संख्या समवाय संबंध से द्रव्य में ही स्थित है। अतः यदि संख्या द्रव्य में भेद करती है तो गुण में भी भेद की कल्पना (भेदबुद्धि) होती है। इसी तरह संख्या संख्या में भी भेद करती है। संख्या जब एक, दो, तीन आदि द्रव्यों से अतिरिक्त गुण, कर्म, आदि का विच्छेद करती है तो समानाधिकरण के कारण गुण-भेद-बुद्धि भी करती है। और स्पष्ट शब्दों में, द्रव्यगत संख्या 'रूप' आदि में भी देखी जाती है। गुण में भी "चतुर्विंशति गुणाः" और कर्म में भी "पंचकर्माणि", अभाव में भी 'चत्वारोऽभावः' का व्यवहार भाषीय प्रयोग में समानाधिकरण के कारण संभव हो जाता है। "दो बीस", "पाँच पचास" आदि प्रयोगों में संख्या के संख्या ही भेदक के रूप में व्यवहृत होती है, और 'सप्त पर्वत', त्रीणि "परिमाणवः" जैसे प्रयोगों में अल्प एवं महत् परिमाण के लिए भी संख्या का प्रयोग देखा जाता है। इसी आधार पर वैयाकरणों ने संख्या को सबों की भेदक शक्ति (संख्या सर्वस्य भेदिका) माना है।[७]

द्रव्यगत होते हुए भी संख्या गुणादि के भेदन में किस प्रकार सहायक होती है इसे भर्तृहरि ने एक दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट किया है।[८] देशविशेष के संबंध में द्रव्य के पहले रहने के कारण 'पर' और उसके बाद में रहने के कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अपर' शब्द का व्यवहार होता है। इसी तरह गुण; कर्म; जाति में भी पर-अपर का भेद समान रूप से सुना जाता है। इस तरह के प्रयोग भाषा में गौण माने जाते हैं। उदाहरण के लिए 'शुक्लः पटः' इस वाक्य में भाषा पट को मुख्य एवं शुक्ल को गौण (पट में निहित गुण के रूप में) प्रस्तुत करती है। परंतु जब हम 'पटस्येदमेकं चित्रं रूपम् एकम् द्वे बहूनि'[९] यह वाक्य कहते हैं तो यहाँ शब्द की शक्ति के आधार पर संख्या का स्वतंत्र रूप में प्रतिपादन किया जाता है। यहां 'एक संख्या' द्वारा एक गुण को भिन्न किया जाता है। किन्तु सामान्य मान्यता यही है कि संख्या से भिन्न करना या होना द्रव्य का धर्म है। इसे और स्पष्ट करते हुए हेलाराज लिखते हैं कि नाम धातु-गम्-प्रतिपादिक का भी धातु के रूप में प्रयोग होने लगता है। 'पुत्रं इव आचरति' में पुत्र पुत्र नहीं किन्तु पुत्र जैसा हो गया है। कुछ स्थितियों में क्रिया भी द्रव्य जैसी होती है और द्रव्य की तरह उनका भी व्यवहार होने लगता है। गुण में भेद की बात जब आती है तो गुण और द्रव्य दोनों में व्यापार आ जाने से गुण में भी द्रव्य जैसा व्यवहार होता है।

वैशेषिकों का आश्रयण करके लोक में भी गुण, संख्या, लिंग आदि को बुद्धि से अलग-अलग करके उसमें भी द्रव्य की कल्पना कर ली जाती है। द्रव्य के धर्म द्वारा बुद्धि गुण आदि की व्याख्या करती है। उदाहरण के लिए 'चित्रं रूपं' में-यदि कोई चित्र है तो अवयवी की दृष्टि से उसमें 'एकत्व' की कल्पना होती है और यदि भिन्न भिन्न रूपों में उन रूपों की गणना की जाती है तो 'अनेक' हो जाते हैं। अर्थात्, अवयवी के रूप में 'एकत्व' एवं अवयव रूप में 'अनेकत्व' की कल्पना की जाती है।[१०]

संख्या उपकारक के रूप में व्यवच्छेदन करती है।[११] उपकार का अर्थ है दूसरे से व्यवच्छेदन की क्रिया, और यह व्यवच्छेदन भी उपकार है। दूसरे के धर्म के साथ किसी द्रव्य का व्यवच्छेदन करते हैं तो ऐसे शब्द उन द्रव्यों में स्वतंत्र रूप से लक्षित होते हैं। परंतु संख्या द्रव्य के साथ गुण, कर्म का भी व्यवच्छेदक हो जाती है। वैशेषिकों के अनुसार जिस इन्द्रिय से जिस पदार्थ का ग्रहण होता है उसी इन्द्रिय से उस पदार्थ के अभाव का भी ग्रहण होता है। द्रव्यगत होने से गुण, संख्या, कर्म, अभाव आदि परस्पर सबंद्ध हैं। अतः जो द्रव्य का भेदक है वही इनका ही भेदक हो जाता है। जैसे - ज्ञान किसी चीज का ज्ञान होता है। ज्ञान स्वयं प्रकाशित नहीं है। यह उस वस्तु के साथ प्रकाशित होता है जिसे यह प्रकाशित करता है। घट के अर्थ के साथ घटज्ञान प्रकाशित होता है। उसी तरह द्रव्य भी गुण, संख्या आदि के साथ संस्पृष्ट होकर ही मिलता है, अकेले नहीं। इसीलिए दव्य की भेदक संख्या उस द्रव्य में रहने वाले अन्य गुणादि का भी भेदक हो जाती है।[१२]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न उठता है कि संसर्गवादियों की यदि यह मान्यता सही है कि सभी संस्पृष्ट ही भाषित होते है तो 'इदं सामान्यं' (घट) के भिन्न-भिन्न होने पर भी 'घटत्व सामान्य' अर्थात् सामान्य, विशेष अलग-अलग क्यों भासित होते हैं? सभी द्रव्य रूपही भासित होना चाहिए। इसके उत्तर में हेलाराज कहते हैं कि सामान्य, विशेष, गुण आदि द्रव्य की उपाधियां हैं। भेदपूर्वक 'यह द्रव्य है, यह गुण है, यह सामान्य है', ऐसे कथनों में आगम का अनुसरण करके लोग ऐसी कल्पना कर लेते हैं। ऐसी कल्पना द्वारा द्रव्य-विभाग के व्यवहार का वर्णन किया जाता है। इसीलिए संसर्गी की कल्पना बुद्धि से कही जाती है। बुद्धि के द्वारा 'इस रूप में ये गुणादि रहते हैं' ऐसी कल्पना होती है। इसलिए एक का दूसरे में अध्यारोप दुर्लभ नहीं है। द्रव्य में गुणादि का संसर्ग रहता है इसीलिए दूसरे धर्म का सत्त्व; असत्त्व इसका प्रयोजन नहीं हो सकता है। दूसरा धर्म है या नहीं है, उसकी सत्ता है या असत्ता-यह सब कल्पना की बात है।[१३] स्वतंत्र रूप से अन्य धर्म का आरोप करके उसमें भी संख्या, लिंग आदि का व्यवहार होता है। सामान्य आदि द्रव्य में रहनेवाले हैं, इसीलिए सामान्य में सामान्य, विशेष में विशेष; संख्या में संख्या, लिंग में लिंग का व्यवहार होता है-जैसे 'पुमान्, पुंस्त्वं, पुस्ता'।[१४]

भाष्यकार की पंक्ति है, 'भावोऽपिभावेनयुज्यते' अर्थात् जैसे-गोत्व 'गौ का सामान्य अर्थ है। गोत्व में 'त्व' लगाकर उसमें भी 'गोत्वत्व' बनता है। उसी तरह धर्म के आरोप के द्वारा द्रव्याश्रित होने पर भी गुण, कर्म आदि में भी संख्या का व्यवहार होता हैं। भाव में भी भाव रहता है क्योंकि द्रव्य सबका अधिकरण है।

द्रव्य भेद-अभेद से परे है किंतु संख्या के कारण द्रव्य में भेद, अभेद की बात आती है। यहां प्रश्न उठता है कि यदि द्रव्य भेदाभेद रहित है तो संख्या उसमें भेद-अभेद कैसे करती है? संसर्गवादियों के अनुसार पृथ्वी, जल आदि विभिन्न पदार्थ यथार्थ -जीवन में मिश्रित माने जाते हैं किन्तु चूंकि पदार्थों की योजना में सबका अपना नियत स्थान होता है अतः भ्रम नहीं होता। सभी पदार्थों की योजना अलग-अलग है किन्तु संसृष्ट होने पर उनमें तद्तद् अर्थ का काम होने लगता है। इसी प्रकार सत्त्व, रजस्, तमस् ये गुण (सांख्यमतानुसार) सर्वत्र होते हैं किन्तु सभी अपने अपने कार्यविशेष का सम्पादन करते हैं। अर्थात्; संसर्ग होने पर उनमें तद्तद् अर्थ मालूम पड़ने लगता है। द्रव्य में भी गुण, कर्म; संख्या मिले होते हैं तो भी उनका कार्य अलग अलग होते रहता है। इसलिए संख्या का कार्य (भेदन) होते रहता है।[१५]

प्रश्न उठता है कि संख्या कि योनि (मूल कारण) क्या है? दो या दो से अधिक संख्याएँ कैसे बनती हैं? "संख्यायतेऽनया संख्येति" व्युत्पत्ति से जिसके द्वारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संख्यान अथवा गणना होती है वह संख्या है। जिसकी गणना होती है वह संख्येय होता है। गणना को संख्यान कहते हैं। प्राचीन आचार्यों ने 'वचन' को संख्या कहा है। वचन और संख्या प्राचीन आचार्यों के पारिभाषिक शब्द हैं और एक-वचन, द्विवचन रूप में इनकी प्रसिद्धि है। द्वित्वादि संख्याओं का मूल कारण 'एक' है, अभेद है, और सभी भेद अभेदपूर्वक होते हैं। 'एक' अभेद है, द्वित्वादि भेदमूलक है। जब हम दो वस्तुओं को देखते हैं तो उनमें से हर एक में "एकत्व" को भी देखते हैं। इस प्रकार 'अयम् एक:' इस अपेक्षाबुध्दि से 'द्वित्व' बनता है। जब तक 'एक' है तब तक भेद की बात नहीं उठती है। एक है, इसके बाद भेद की बात उठती है दूसरे पदार्थ के साथ होने पर दो, तीन आदि का व्यवहार होता है। दो, तीन, पांच, दस, सौ, हजार आदि संज्ञाओं की प्रसिध्दि के अनुसार विभेदक शक्ति (संख्या) के रूप में व्यवहार होता है। द्वित्वादि संख्या की उत्पत्ति के संबंध में भर्तृहरि ने मुख्यत: तीन प्रकार के मतों का उल्लेख किया है।

१) जब दो एकत्व "अयम् एक:", अयम् एक:", इस रूप में अलग अलग होते हैं तो द्वित्वादि की बात नहीं उठती है। परंतु अपेक्षाबुध्दि सहित जब 'दो एकत्व' होते हैं तो 'द्वित्व' की उत्पत्ति के निमित्त होते हैं। अर्थात्, 'दो एकत्व' से उत्पन्न होकर 'व्दित्व' की प्रतीति होती है। और इसी प्रकार अपेक्षा-बुध्दि-पूर्वक त्रित्वादि' संख्याओं की उत्पत्ति होती है।[१६] इस अपेक्षाबुध्दि के व्दारा ही एक, दो, आदि संख्याओं की एक, दो आदि संज्ञाओं के क्रम में व्यवस्था होती है।

२) 'दो एकत्व' का काम 'व्दित्व' का बोध उत्पन्न कराना है। वे अपेक्षा-बुध्दि के बिना ही 'व्दित्व' उत्पन्न करते हैं।[१७]

३) व्दित्व 'एकत्वों' से भिन्न कोई चीज नहीं है। 'एकत्व' के समुदाय को "व्दित्व" इस नए शब्द से कहा जाता है। जैसे वृक्षों से अतिरिक्त "वन" नहीं होता, बल्कि वृक्षों के समुदाय को ही "वन" कहा जाता है, उसी तरह 'एकत्व का समुदाय' व्दित्व, त्रित्व, कहा जाता है। 'दो एकत्वों' के समूह का नाम दो है और इसी प्रकार तीन, चार आदि के बारे में कहा जाता है। समूहवादियों में से कुछ की मान्यता है कि 'दो एकत्व' निरपेक्ष रूप से एकत्व है परंतु परस्पर सापेक्ष होकर वे ही 'व्दित्व' कहे जाते हैं। इस मत में द्वित्व 'एकत्व' से अव्यतिरिक्त है। स्पष्ट है कि इस मत में "वन" की तरह 'व्दित्व' शब्द कहा जाता है। व्दित्व में व्दिवचन होता है क्योंकि उसमें दो एकत्व होते हैं। वे दो एकत्व व्दित्व के अवयव हैं और व्दित्व अवयवी। समुदाय के नाते व्दित्व एक इकाई है।[१८] इसकी व्याख्या करने के लिए पाणिनि ने 'द्व्येकयोर-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्विवचनैकवचने "२८ सूत्र का विधान किया है। व्दित्व में दो एकत्व हैं इसलिए 'व्दिवचन' हुआ। दो एकत्वों से जनित व्दित्व को उनसे व्यतिरिक्त मानना ही उचित है। अव्यतिरिक्त मानने पर व्दिवचन दो 'एकत्वों' में होगा। फलतः 'व्दयेकयोः' शब्द से 'तीन एकत्व' का ग्रहण होने लगेगा और तब बहुवचन हो जाएगा।

प्रश्न उठता है कि 'दो एकत्वों' का जो समुदाय बना है वह तो एक ही होता है तो व्दिवचन का प्रयोग क्यों होता है? 'व्दित्व' संख्या के नाते एक है तो उसमें व्दिचन या बहुवचन कैसे होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भर्तृहरि एवं हेलाराज के विचार निम्न प्रकार हैं – यद्यपि एक भी कोई संख्येय है किन्तु उसमें गुण दो हैं तो गुण के भेद से भेद होता है। आश्रय और आश्रयी में आश्रय के कारण भेद होता है। गुण आश्रय है। उसके कारण द्रव्य में भेद हो जाता है। "गुणात् प्रसादः शुक्लतरः" में जैसे गुण के कारण 'प्रसाद' भी 'शुक्लतर' हुआ। शुक्ल और शुक्ल का भेद आश्रय (गुण) के कारण होता है। इस आधार पर दो में व्दिवचन, तीन में बहुवचन होना संगत है। आश्रय-भेद से ही द्रव्य में भेद हो जाता है। इसका एक उदाहरण यह वाक्य है कि "वह पटु हो गया है" इसमें "वह" द्रव्य है जिसमें 'पटुता' गुण (आश्रय) है। वे पूर्व साल पटु थे, इस साल "पटुतर" हो गए इस प्रकार 'पटुगुण' के कारण उस व्यक्ति (द्रव्य) में भी भेद व्यवहार हो जाता है।

प्रश्न उठता है कि यदि 'व्दित्व' एक नया एकत्व है तो एकत्व होने से व्दित्वादि संख्याओं के लिए व्दिवचन या बहुवचन का प्रयोग कैसे होगा? इसके उत्तर में हेलाराज का कहना है कि यद्यपि 'व्दित्व' एक नया एकत्व है, फिर भी जिन एकत्वों से 'व्दित्व' बनता है वे बुध्दि में रहते हैं और व्दित्व, बहुत्व आदि उन्हीं के आधार पर व्यवहृत होते हैं। अतः दो एकत्व से उत्पन्न 'व्दित्व' को उनसे व्यतिरिक्त मानना उचित है। २९

दो से लेकर दस तक की संख्याओं के बारे में यही नियम लागू होता है।

भर्तृहरि के अनुसार दस तक की संख्याएं संख्येय परक होती हैं। "संख्येय का तात्पर्य संख्या का द्रव्यपरक होने से है। उदाहरण के लिए "एकः घटः" में घटः (द्रव्य) ही "एकः" है। दोनों में, अर्थात् घटः और एकः में भेद नहीं है। इसीलिए दोनों में प्रथमा विभक्ति का प्रयोग किया जाता है। दोनों में अभेद होने से संख्येयाः के साथ एक ही विभक्ति आती है। इसी कारण "आदशबः संख्या संख्येय' कहा जाता है।

दस के बाद की संख्याएँ संख्येय एवं संख्यान परक दोनों होती हैं। "विंशति मनुष्याः" वाक्य में 'मनुष्य' संख्येय है और विंशतिः संख्या। यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विंशति "सीधे संख्येय" (मनुष्य) को बताती है। अतः संख्येपरक है। परंतु "मनुष्याणां विंशतिः" वाक्य में "विंशतिः" संख्येपरक नहीं है। यह संख्यानपरक (जिससे संख्या बताई जाती है) है। इस वाक्य में "मनुष्य" संख्येय है और यही प्रधान है, विशेष्य है, और इस विशेष्य का अर्थ उसका विशेषण होता है। इस प्रकार मनुष्य और विंशति में विशेष्य–विशेषण सम्बन्ध होता है। मनुष्य और विंशति संख्यांएं संख्यानपरक हैं और इसका अर्थ है "बीस संख्यासे संख्येय मनुष्य"।

लोक में "विंशति" आदि शब्द संख्या एवं संख्येय दोनों अर्थ में व्यवहृत होते हैं। जैसे बीस गायों के लिए "गवां विंशतिः" एवं 'विंशति गावः' दोनों का व्यवहार होता है। पहले वाक्य में "बीस" संख्या के लिए और दूसरे वाक्य में संख्येय (पशु–गाय) के लिए बीस का प्रयोग होता है।[२२]

अखण्ड रूप से रहने पर ही बीस का संख्येय अथवा संख्यानरपक अर्थ निकलेगा। दस–दस या पन्द्रह–पाँच रूप में अन्वय करके बीस को समझा जा सकता है, किन्तु बीस अवयव से बनी संख्या न होकर स्वतंत्र संख्या है।

एक विंशति शब्द एकवचन है। इसमें एक और विंशति के रूप में दो पृथक्–पृथक् संख्या मानना ठीक नहीं है। विंशति की तरह "एक विंशति" शब्द भी अनवयवार्थक है। अर्थात्, एक विंशति (इक्कीस संख्या) एक संख्या और बीस संख्या के योग से बनी है–ऐसा मानना यथार्थ नहीं है, वरन् समझने के लिए है। वाक्यपदीय के अनुसार एक विंशति का विवरण दस और ग्यारह अथवा नौ और बारह आदि के रूप में दिया जा सकता है। परंतु ये सभी विभाग कृत्रिम हैं। "एक विंशति" आदि संख्याओं में कोई अवयव नहीं है। मात्र स्पष्ट करने के लिए "एकश्च विंशतिश्च द्विगुसमाहारः" जैसे कथन "एक विंशति" के लिए कहे जाते हैं। एक विंशति जैसे संख्याओं को दो संख्याओं का योग मान लेने पर और उन्हें अवयव रहित न मानने पर व्याकरण–संबंधी कठिनाई उपस्थित होती है। दस आदि संख्याओं की तरह "एक विंशति" आदि को निरपेक्ष अखण्ड एवं एक–बुद्धिग्राह्य मान कर ही संख्या से विहित कार्य (भेदन) द्वारा सम्पन्न किया जाता है। उदाहरण के लिए "एक विंशमृशतम्", 'एक विंशति तमम्" 'एकं विंशतिकृत्वा" आदि में क्रमशः 'ड', 'तमट्' और 'कृत्वसुच्' प्रत्यय हुए हैं। यदि एक–विंशति आदि संख्याओं को समूह मानें तो उनमें ये प्रत्यय नही हो सकते; जैसे स्वाङ्ग समुदाय से स्वाङ्ग कार्य नहीं होता है।[२३] फलतः "कल्याण पाणिपादाः" में स्वाङ्ग नहीं मानने से[२४] "स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्"[२५] सूत्र से असंगोपधातङीप्' प्रत्यय नहीं होता है। उसी तरह समुदाय को संख्या मान कर काम नहीं होता है। इसीलिए 'एक विंशति,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संख्या को समुदाय न मान कर स्वतंत्र संख्या मानना उचित है। अतः विंशति, एक-विंशति, आदि को भी संख्या-समुदाय न मान कर स्वतंत्र संख्या मानना ही उचित है।

भर्तृहरि के अनुसार 'द्विदशा' शब्द दो बार अर्थ में संख्यावाची शब्द द्वि से 'सुच्' प्रत्यय करने पर बनता है, किन्तु उसमें 'सुच्' होने से भेद होता है। 'द्विदश' इस तरह समस्त होने पर बना 'द्विदशा' इस समस्त पद में द्विशब्द 'दस की आवृत्ति' इस अर्थ को बताने वाला होता है। 'द्विदशा' इस प्रयोग में द्वित्व का दसादि संख्याओं के साथ अन्वय नहीं होगा, क्योंकि संख्या संख्येय के अधीन होती है। इसलिए सामर्थ्य न रहने के कारण वहाँ 'संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिक संख्या संख्येये'[२६] सूत्र से बहुव्रीहि समास नहीं होगा-ऐसा संदेह होने पर भर्तृहरि ने महाभाष्य के अनुसार निर्णय किया है कि 'व्दिदशा' में संख्या का 'दस के दो संघ के साथ' अन्वय होता है; अर्थात्, आवृत्ति के साथ अन्वय होता है। अतः उस रूप में संबंध होने के कारण 'व्दिदशा' में समास हो जाता है। और ऐसी स्थिती में 'व्दिदशा' में व्दि शब्द दस की दो बार आवृत्ति बताने वाला होता है।[२७]

प्रश्न उठता है कि व्दिदशामें दस संख्या या संख्येय व्दित्व से परिच्छेद्य क्यों नहीं है। इसके उत्तर में हेलाराज का कहना है कि अभेद होने से 'दो दस' संभव नहीं है। यहां संख्या में भेद का अभाव एवं संख्या के आश्रय संख्येय में भी अभेद है; अतः व्दित्वादि परिच्छेदक नहीं होते। इसीलिए यह कहा जाता है कि 'व्दिदशा' दस संख्या से परिच्छेद्य एक समूह का वर्ग है जिसे यह दो बार दस शब्द को बताता है। अर्थात्, दस के दो वर्ग एक साथ मिल कर या उस रूप की संख्येय की आवृत्ति करके (१० × २=२० गणना करके) माना जाता है। दस संख्येय है अर्थात्, घटादिपरक है और इसके व्दारा गणना की जाती है अतः वह संख्यान परक भी है। किन्तु वैयाकरणों का झुकाव 'व्दिदशा' रूप में दस की दो बार आवृत्ति न मान कर व्दिदशा को अव्युत्पन्न मानने की ओर है। इसकें अनुसार क्रियाभ्यांवृत्ति में संख्येय किसी क्रिया की आवृत्ति बतलाता है। संख्या या संख्येय की आवृत्ति को नहीं बतलाता है। अतः व्दिदशा में आवृत्ति का दो के साथ अन्वय है न कि दो संख्या का दस संख्या के साथ। इसलिए 'व्दि' और 'दस' में परस्पर अपेक्षा न रहने पर समास कैसे हुआ-यह शंका निराधार है।[२८]

लिंगवचनविचारकार के अनुसार एक से लेकर सौ आदि शब्द संज्ञाएं हैं जिनसे संख्या को कहा जाता है। संख्या-वाचक शब्दों में एक से चार तक तीनों लिंगों में प्रयुक्त होते हैं। एक शब्द नित्य एकवचनान्त, व्दिशब्द नित्य व्दिवचनान्त और इसी प्रकार चतुःशब्द नित्य बहुवचनान्त होते हैं। दस से पूर्व की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संख्याएं संख्येयपरक होती हैं, जैसे–अष्टौब्राह्मणाः में 'ब्राह्मणाः' संख्येय है; उसी को बताने के लिए 'अष्ट' शब्द का व्यवहार होता है। अतः दोनों में विशेष्य–विशेषण भाव होता है। लिंगवचनविचारकार के अनुसार एक से अठारह तक के संख्यावाचक शब्द संख्या–विशिष्ट संख्येयपरक होते है। अर्थात्, उन संख्याओं में संख्या विशेषण के रूप में होती है। उन्नीस से अन्त तक की संख्याओं को तीन तरह से कहा जाता है –

१) कुछ संख्या शब्द संख्या एवं संख्येय दोनों का बोध कराते हैं, दोनों परक होते हैं। वहां वे नित्य एकवचन होते हैं। 'विंशति गावः' में 'विंशतिः' शब्द संख्याबोधक होता है। यह गौ का विशेषण भी कहा जाता है। संख्येय वस्तु के विशेषणपरक होते हैं।

२) शतादि कुछ शब्द संख्या के बोधक होते हैं, वे संख्येय का बोध नहीं कराते, केवल संख्या का बोध कराते हैं और वहां एकवचन होता है। 'घटानां विंशति' में एकवचन (विंशतिः) है। 'विंशतिः' संख्या को दो बीस का समूह बनाने पर द्विवचन भी होगा (घटानां विंशत्यौ) और इसी प्रकार तीन बीस का समूह बनाने पर बहुवचन भी होगा। जब संख्याएं केवल संख्या की बोधक होती हैं, संख्येय बोधक नहीं होती हैं तब संख्येय के साथ उनका विशेष्य–विशेषण भाव नहीं होता है। इसीलिए संख्येय वस्तु (घट) में षष्ठी विभक्ती का प्रयोग होता है। इसमें वचन नियत नहीं होते।

३) शत आदि संख्येय समूह को बताते हैं। इसमें षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है–जैसे–घटानां विंशतिः से 'घट्' के 'बीस का समूह' कहा जाता है। इसमें संख्यावाचक शब्द 'विंशतिः' में एक वचन होता है।

वाक्यपदीयकार ने एक से दस तक की संख्याओं को संख्येयपरक माना है, जबकि लिंगवचनकार ने अठारह तक की संख्याओं को संख्येयपरक माना है। वाक्यपदीयकार के अनुसार दस के बाद की संख्याएं संख्येय एवं संख्यान दोनों परक होती हैं।

वास्तव में लिंगवचनकार ने 'अष्टादश ब्राह्मणाः', 'अष्टादश पुराणाः' आदि प्रसिद्धियों को लेकर अठारह तक की संख्याओं को संख्येय माना है।

इससे वाक्यपदीयकार भी असहमत नहीं होंगे। परंतु ऐसे प्रयोग प्रसिद्धियां हैं। इनका कुछ नियामक नहीं है। कुछ प्रयोगों के आधार पर ही इन्हें संख्येय मान लिया जाता है।

भर्तृहरि की मान्यता है कि संख्याशब्द एक नाम है। संख्या को संख्या इसलिए कहते हैं क्योंकि संख्यान जाति के साथ उसका योग होता है। जैसे 'रूप' (जो सभी रूपों के लिए कहा जाता है) का योग होने से 'रूप' को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'रूप' कहते हैं। किन्तु वह लाल, पीला, सफेद, आदि को ही बताने वाला है। 'रूप' कोई 'विशेष रूप' या स्वयं कोई रूप नहीं होता है।[३०]

इस प्रकार संख्या शब्द जहां प्रयुक्त किया जाएगा वहां संख्या से संख्या-विशेष का बोध नहीं होता। 'रूप' सामान्य की तरह संख्या संख्या-विशेष का बोध नहीं कराती, अपितु विभिन्न संख्याओं की संज्ञाएं हैं इसलिए 'संख्याया अवयवे तयप्'[३१] इस पाणिनि के सूत्र से 'व्दयम् व्दितयम्' 'द्वौ अवयवौ यस्य' (अवयवों के लिए) की सिद्धि होती है वहीं पर 'बहवा अवयवाः अस्या संख्याया' (अर्थात् इस संख्या के अनेक अवयव हैं) इस विग्रह में तयप् की शंका उठा कर महाभाष्यकार ने बताया है कि 'अवयव' में जो संख्या है उससे प्रत्यय होता है किन्तु संख्या वैसी नहीं है। अतः उससे प्रत्यय नहीं होता। संख्या संज्ञा मात्र है, इसके अवयव नहीं हैं।

यहां प्रश्न उठता है कि 'एकः' शब्द से 'एक' कहा गया है तो एक वचन क्यों आता है? इसके उत्तर में हेलाराज का कहना है कि 'एक' प्रकृति है उसमें 'एकत्व' को प्रकृति से बताया जाता है। अर्थात्, एकत्व निमित्त रूप रहने पर ही 'एक' को 'एक' शब्द से कहा जाता है। पुनः प्रश्न उठता है कि 'एक' से 'एक' को ही बताया जाता है और एक + सु = एकः प्रत्यय से भी 'एक' को ही कहा जाता है तो सुविभक्ति (प्रत्यय) लगाने की आवश्यकता क्या है?

इसके उत्तर में भर्तृहरि का कहना है कि 'एकः' में एक प्रकृति-निमित्त है। यह विभक्ति से नहीं बतायी जाती है। बल्कि 'एकः' में रहने वाले 'एकत्व' को बताने के लिए विभक्ति लगायी जाती हैं। सुविभक्ति से एक में रहने वाले 'एकत्व' को कहा जाता है। विभक्ति लगाने से स्पष्ट हो जाता है कि 'यह एक ही' है। इसके समर्थन में भर्तृहरि कहते हैं कि संख्यावाचक में संख्येय की प्रधानता होती है, इसलिए संख्येय के द्वारा प्रत्यय के अर्थ के साथ साथ संबंध होगा। अतः प्रत्यय के अर्थ की भी आवश्यकता है। भाष्यकार के अनुसार 'संख्यानाम् इयम् परप्रधाना"[३२] अर्थात्, संख्या परप्रधान होती है। पर-प्रधान का तात्पर्य संख्या का संख्येय रूप होना है। संख्येय एकत्व, द्वित्व आदि है और उसे एक, दो (वस्तु) घटादि के साथ कहा जाता है। अन्वयव्यतिरेक से अर्थ-निश्चय होता है। यह इस शब्द का अर्थ है, इस शब्द के रहने पर यह अर्थ होता है, उसके अभाव में यह अर्थ नहीं होता है। 'प्रकृति निमित्त' और 'विभक्ति' से भी संख्या का संख्यान एवं संख्यापरक दोनों अर्थ रहता है। यदि एक ही अर्थ होता तो अन्वयव्यतिरेक की बात नहीं उठती। दोनों होते हैं इसलिए अन्वय-व्यतिरेक पूर्वक 'एक' अर्थ का निश्चय होता ह। प्रकृति-प्रत्यय दोनों का अर्थ न होने पर अन्वयव्यतिरेक का निश्चय नहीं होगा।[३३]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'एकत्व' संख्यान परक है। विभक्ति के अर्थ से उसका संबंध होता है। इसलिए भी प्रकृति का अर्थ प्रकृति से निकल जाने पर भी उस अर्थ को बताने के लिए प्रत्यय की आवश्यकता होती है क्योंकि संख्येय प्रधान होते ही प्रत्यय से बताए गए एकत्व के साथ संख्या (संख्या के व्दारा जो संख्येय बताया जाता है) का अन्वय होगा। इसलिए भाष्यकार ने "न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न केवलः प्रत्ययः"[३४] ऐसा सिद्धांत स्थिर किया है।

'आदसतः संख्यासंख्येय' अर्थात् एक से दस तक की संख्याएँ संख्येयपरक हैं। यदि इन्हें संख्येयपरक मानें तो 'व्दयेकयोर्व्दिवचने एकवचने"[३५] सूत्र में व्दिशब्द से दो संख्येय बताए जाने चाहिए। जैसे व्दौ (घटौं) में दो संख्येय हैं (और 'एक' शब्द से एक संख्येय बताया जाएगा)। अतः तीन होने पर बहुवचन होना चाहिए। किन्तु उनके अनुसार "व्दयेकयोः" सूत्र में दो और एक संख्याएँ संख्येयपरक ही नहीं संख्यापरक भी हैं। संख्यान को मान कर 'दो' एक से अतिरिक्त एक संख्या है। 'एक' है और उससे अतिरिक्त दो, तीन, चार आदि हैं-ऐसा मानने पर संख्या संख्यानपरक है। अतः शास्त्र के निर्देशानुसार संख्यानपरक मान कर व्दिवचन होता है। यदि 'एक' आदि संख्येयपरक हैं–इस प्रसिद्धि को लेकर चलें तो तो 'दो' और 'एक' तीन होंगे। अतः बहुवचन होगा। 'दश घटाः', 'पंचपुरुषाः' आदि संख्येयपरक ही होते हैं। सूत्र में संख्या का कथन संख्या एवं संख्येय दोनों परक हुआ है। यही कारण है कि कहीं संख्यान-परक अर्थ लिया जाता है और कहीं संख्येपरक। किन्तु सूत्र में व्दिवचन निर्देश से संख्यानपरक ही समझा जाता है। अन्य स्थानों पर संख्येयपरक होने पर बहुवचन भी हो जाता है।

संख्या क्या है ? किसका अर्थ है ? इस प्रश्नों के उत्तर में वैयाकरणों ने प्रकृति एवं प्रत्यय रूप में पदों के अपोद्धार (विश्लेषण) करने पर अलग-अलग अर्थ निर्धारित किये हैं। इस तरह तिङ्न्तपदों में धातु प्रकृति है और तिङ्प्रत्यय है।[३६] धातु का सामान्य अर्थ व्यापार एवं उस व्यापार का फल है, और तिङ् के कहीं कर्ता, कहीं कर्म एवं संख्या तथा काल ये चार अर्थ होते हैं। जैसे 'भवति' में 'भू' का सामान्य रूप से अर्थ 'होने का व्यापार है' और 'उसकी सत्ता का होना' फल है। वर्तमान काल में होने वाले लट्लकार के अर्थ में यहाँ 'ति' का अर्थ वर्तमान काल है एवं एक-वचन होने के कारण उसका एकवचन (संख्या) अर्थ है। इस प्रकार संख्या भी तिङ् का अर्थ है। स्पष्ट है कि तिङ् के अर्थ के रूप में संख्या के संबंध में विचार किया जाता है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि – संख्यावाची शब्दों – एक, दो, दस, सौ, हजार आदि की प्रसिद्ध संज्ञा संख्या है। पाणिनि ने व्याकरण में इसके अति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रिक्त " बहुगणवतुडति संख्या " [१७] सूत्र से बहुगणवतुडति तद्धित के प्रत्ययों से बने शब्दों की संज्ञा संख्या की है। इसके अनुसार " गण " शब्द में संख्या मान कर व्यवहार होता है। " कति " प्रत्ययान्त लगाकर " कतिछात्राः सन्ति " में " कति " से संख्या मान कर काम होता है।

यहाँ यह उल्लेख करना महत्त्वपूर्ण है कि पाणिनि ने संज्ञाओं का व्यवहार दो तरह से किया है। (१) कृत्रिम संज्ञा; (२) अकृत्रिम संज्ञा। जो संज्ञा सूत्र से की जाती है जैसे, " बहुगुणवतुडति " आदि वह कृत्रिम है। ये संख्यावाची अर्थ में प्रसिद्ध नहीं है और उपरोक्त सूत्र से इनकी संज्ञा की जाती है। पुनः एक दो, तीन, दस, सौ, हजार आदि को जो संख्या कहा जाता है, वह उनके संज्ञारूप से है। इसे पहले से संख्या संज्ञा से बोला जाता रहा रहा है। इसीलिए ये अकृत्रिम संख्याएँ हैं।

निष्कर्षतः संख्या मूर्त, अमूर्त, भाव, अभाव, सभी पदार्थों की भेदक शक्ति है। ' रूप ' सामान्य की तरह संख्या सामान्य है और एक, दो, सौ, हजार, लाख; आदि विशेष रूपों में इसके द्वारा भेदक व्यवहार होता है। इस प्रकार संख्याएँ अनन्त हैं। संख्याएँ परस्पर सापेक्ष होकर नहीं अपितु स्वतन्त्र रूप से भेदन कार्य करती हैं। इसीलिए ' एक ' संख्या से ' दूसरी ' संख्या स्वतन्त्र मानी जाती है। यद्यपि बालकों को " दो इकाइयों का योग दो होता है " यह कर ही समझाया है किन्तु दो संख्या ' दो इकाइयों ' से भिन्न एक स्वतन्त्र संख्या के रूप में प्रयुक्त होती है। इस प्रकार एक, दो आदि संख्याओं को एक दूसरे से स्वतन्त्र माना जाता है। एक, दो, आदि शब्द एक, दो, आदि संख्याओं की प्रसिद्ध संज्ञाएँ हैं संख्याओं को भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न भिन्न रूप से बोलते और लिखते हैं। किन्तु जो बोलते या लिखते हैं उनके व्दारा संख्या को बताया जाता है। उदाहरण के लिए " एक " संख्या है। इसके लिए संस्कृत में एकः हिन्दी में एक– (अंक में – १) अंग्रेजी में वन् (अंक में – 1) आदि संकेत–प्रयोग होते हैं। इन सभी शब्दों का अर्थ " एक " ही होता है। इस प्रकार संख्या स्फोट–रूप शब्द है और इसकी अवगति इन संकेतों के व्दारा कराने की प्रसिद्धि रही है। इसी कारण इन संकेतों को भी संख्या कहा जाता है।

दर्शन विभाग देवेन्द्रनाथ तिवारी
ल. ना. मिथिला विश्वविद्यालय
दरभंगा
(बिहार)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टिप्पणियाँ

१) शब्द प्रमाणका वयम् यच्छद्वाह तद्अस्माकं प्रमाणं। देखें महाभाष्य ।; १-१२-१५
२) वै. सू. प्रशस्तपादभाष्य – संख्याप्रकरणम्
३) तर्कभाषा – केशव मिश्र – गुण प्रकरणम्
४) तर्क संग्रह – गुण प्रकरण
५) न च पदार्थ एवासहाय एकत्वम् ससहायश्च यथायोगं व्दित्यादिति सहाय विरहतद्योगयोर्धर्मान्तरत्वाभावान्न कश्चिदन्यो द्रव्यात् संख्या लक्षणो गुण इति व्यतिरिक्त संख्याभावइति वाच्यम्। वाक्यपदीय भाग – ३, संख्या समुद्देश ९ पर प्रकाश व्याख्या
६) संख्या समुद्देश २.
७) संख्या समुद्देश ३. पर प्रकाश व्याख्या
८) परत्वे चापरत्वे च भेदे तुल्या श्रुतिर्यथा।
संख्याशब्दभिद्येयत्वं भेद हेतोस्तथागुणे । सं. स. ४
९) सं. स. पर प्रकाशव्याख्या
१०) सं. स. ६ पर अम्बाकर्त्री, पृ. ६३३
११) सं. सं. ७
१२) यथैवाविषयं ज्ञानं न किंचिदवभासते ।।
तथा भावोऽप्यसंसृष्टो न कश्चिदुपलभ्यते ।। सं. सं. ८
१३) बुद्धया स्थितेषु तेष्वेवमध्यारोपो न दुर्लभः ।
परधर्मस्य न ह्यत्रसदसत्वं प्रयोजकम् ।। सं. सं १०.
१४) सं, स. ११ पर प्रकाशव्याख्या
१५) सं. स. १२
१६) सं. स. १६
१७) सं. स. १७
१८) सं. स. १८
१९) पाणिनि सूत्र १/४/२२
२०) आश्रयाश्रयीभेदोहि तदाश्रया निबंधनः। संख्या समुद्देश १८
२१) सं. स. १७ प्रकाश व्याख्या
२२) सं. स. १९ पर प्रकाश एवं अम्बाकर्त्री
२३) सं. स. २१
२३) सं. स. २१ पर प्रकाश व्याख्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२५) पाणिनि सूत्र ४/ १/ ५४
२६) पाणिनि सूत्र २/ २/ २५
२७) सं. स. २२
२८) सं. स. २३ प्रकाश व्याख्या
२९) लिंगवचनविचार – दीनबन्धु झा, वचन प्रकरण – मिथिला रिसर्च इन्स्टीट्यूट, दरभंगा
३०) संख्या नाम न संख्यास्ति संज्ञैषेति यथोच्यते
रूपं न रूपमप्येवं संज्ञा साहि सितादिषु ॥ संख्या समुद्देश २५
३१) पाणिनि सूत्र ५/२/४३
३२) स्वरूपाणां एकशेष एकविभक्तोः । पाणिनि १/२/६४ पर महाभाष्य
३३) अन्वयव्यतिरेकौ न यदि स्यादवचनान्तरम् ।
स्यातामसति तस्मिश्च प्रकृत्यर्थौ न कल्प्यते । सं. स. ३०.
३४) "परश्च" पाणिनि सूत्र ३/ १/ २ पर महाभाष्य
३५) पाणिनि सूत्र १/ ४/ २२
३६) तिप्तसृझि...पाणिनि सूत्र ३/ ४/ ७८
३७) पाणिनि सूत्र २/ २/ ३१.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (२०)
विषयता (vi)

पिछले लेख में विषयता के संसर्गता नामक भेद का विवेचन किया गया था। इस लेख में विषयता के ही एक भेद विधेयता का विवेचन अभीष्ट है। विशेषण दो प्रकार का होता है – (१) साध्य और (२) सिद्ध। सिद्ध विशेषण वह होता है जो पूर्व से अवगत होता है तथा विशेष्य को अन्य वस्तुओं से अलग करने के लिये प्रयुक्त होता है। साध्य विशेषण पूर्व-ज्ञात नहीं रहता है। उसका विधान किया जाता है। साध्य का ही दूसरा नाम विधेय है। उदाहरण के लिये – "दयादाक्षिण्यादि गुणों से युक्त भगवान् राम सब के पूज्य हैं"। यहाँ विशेष्य राम का दया, दाक्षिण्यादि गुणों से युक्त होना पूर्वज्ञात है। अत: उक्त विशेषण सिद्ध-विशेषण है, जो विशेष्य राम को इतर व्यक्तियों से भिन्न सिद्ध करने के लिये प्रयुक्त किया गया है। परन्तु राम का 'पूज्यत्व' पूर्व में सिद्ध नहीं है। उसका यहाँ विधान किया है। अत: वह विधेय है। विधेय में विधेयता नामक विषयता रहती है।

विधेय का विधान कहीं 'विशेष्यतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन' अर्थात् किसी एक विशेष्य में, तो कहीं 'विशेष्यतावच्छेदकावच्छेदेन' अर्थात् विशेष्य-मात्र में होता है। विशेष्यतावच्छेदक के समान याने एक अधिकरण में जो विधान होता है उसको विशेष्यतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन विधान कहते हैं। – 'ब्राह्मण विद्वान् होता है' इसका अर्थ यह नहीं होता है कि सभी ब्राह्मण विद्वान् होते हैं; अपितु ऐसा होता है कि जहाँ जहाँ ब्राह्मणत्व है (याने जो ब्राह्मण हैं) उनमें से कोई विद्वान् होता है। जहाँ जहाँ विशेष्यतावच्छेदक होता है वहाँ सर्वत्र जब किसी चीज का विधान होता है तब वह विधान विशेष्यतावच्छेदकावच्छेदेन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विधान होता है। जैसे – 'मनुष्य मरणशील है' यह विधान किसी एक मनुष्य की मरणशीलता को व्यक्त नहीं करता है, अपितु यहाँ सभी मनुष्यों की मरणशीलता का विधान किया जाता है, क्योंकि मनुष्य–व्याप्य सभी मनुष्यों में मरणशीलता विहित होती है।

सामान्य रूप से प्रकारता–विशेष को ही विधेयता माना जाता है।[1] आम तौर पर प्रकारता और विधेयता में कोई भेद परिलक्षित नहीं होता है। 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमान में साध्य के रूप में गृहीत अग्नि विधेय माना जाता है, जो पर्वत में होने वाली विशेष्यता से निरूपित प्रकारता का आश्रय होता है। अतः विधेयता को प्रकारता का ही एक भेद इस रूप में कुछ नैयायिक स्वीकार करते हैं। जगदीश तर्कालंकार के अनुसार विषयतावच्छेदकता से भिन्न प्रकारता या प्रकारता का ही एक प्रभेद विधेयता है।

जबकि अन्य नैयायिकों का कथन है कि विधेयता प्रकारता का प्रभेद नहीं है।[2] 'पर्वते वह्निः' यह अनुमिति पर्वत प्रकार तथा वह्नि–विशेष वाली होने पर भी विधेयता अग्नि में ही है। यहाँ विधेयता प्रकारता–रूप न हो कर विशेष्यता–रूप होती है। अतः विधेयता भी विषयता का एक स्वतन्त्र प्रभेद है।

इस पर गदाधर[3] का कथन है कि प्रकारता के समान विधेयता भी विषयता का भेद है। प्रकारता ही विधेयता नहीं है। विधेयता को प्रकारता–रूप मानने पर धर्मितावच्छेदकता-रूप प्रकारता को भी विधेयता के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा। 'पर्वतो वह्निमान्' यहा पर्वतत्व में रहने वाली विशेष्यतावच्छेदकता भी प्रकारता–रूप होती है। परन्तु पर्वतत्व को प्रकार के रूप में स्वीकार करने पर भी उसे विधेय के रूप में नहीं स्वीकार किया जाता। पर्वतत्व सिद्ध होने से साध्य नहीं है। अतः वह विधेय भी नहीं है। परन्तु विधेयता को प्रकारता माननेवालों का कहना है कि विशेष्यतावच्छेदकता से भिन्न मुख्य विशेष्यता से निरूपित प्रकारता ही विधेयता कहलाती है।[4] 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति में जो पर्वतत्व में प्रकारता (धर्मितावच्छेदकता) प्रतीत होती है वह धर्मितावच्छेकता से भिन्न नहीं है। अतः वह विधेयता–रूप प्रकारता नहीं है। यद्यपि उक्त ज्ञान में पर्वतत्व (धर्मितावच्छेदक) तथा वह्नि के अतिरिक्त वह्नित्व में भी एक प्रकारता है। परन्तु वह प्रकारता मुख्य विशेष्यता अर्थात् पर्वत में होनेवाली विशेष्यता से निरूपित नहीं है। अतः उक्त प्रकारता विधेयता–रूप प्रकारता नहीं है। वह्नि में रहनेवाली प्रकारता चूंकि पर्वत में रहनेवाली मुख्य विशेष्यता से निरूपित भी है तथा धर्मितावच्छेदकता से भिन्न भी है अतः वह विधेयता–रूप प्रकारता है।

'पर्वतो वह्निमान्' इस प्रतीति को हम इस प्रकार से विश्लेषित कर सकते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

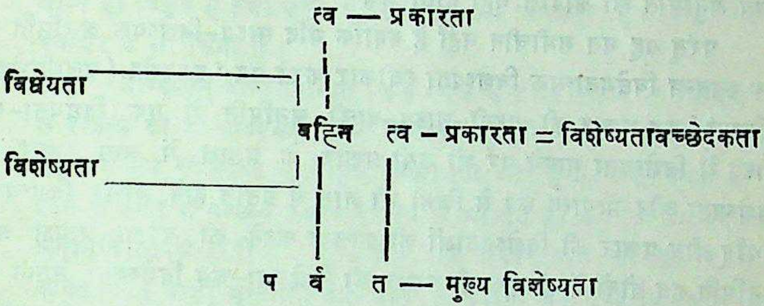

अब यहाँ यह आपत्ति उपस्थित होती है कि यदि विशेष्यतावच्छेदकता से भिन्न तथा मुख्य विशेष्यता से निरूपित प्रकारता को विधेयता मानें तो जहाँ विशेष्यतावच्छेदकता–भेद की उपस्थिति के बिना ही 'पर्वत अग्निमान् है' इस अनुमिति के बाद 'पर्वत में अग्नि का अनुमान कर रहा हूँ' इस प्रकार का अनुव्यवसाय (साक्षात्कार) उत्पन्न होने से उक्त प्रकारता को विधेयता के रूप में स्वीकार करना सम्भव नहीं है। इसका समाधान यह है कि उक्त साक्षात्कार अग्नि–प्रकार अनुमिति–विषयक ही होता है, अग्नि–विधेयक अनुमिति–विषयक नहीं होता है। जब विशेष्यतावच्छेदकता के भिन्नत्वादि ज्ञात होते हैं तभी उक्त साक्षात्कार अग्नि–विधेयक अनुमिति को विषय करता है।

परन्तु यदि उक्त प्रकारता को विधेयता के रूप में स्वीकार करें तो 'पृथ्वि में जलभेद है' या 'ह्रद में धूमाभाव है' इस प्रकार की साध्य को विशेष्य के रूप में प्रदर्शित करनेवाली अनुमितियाँ साध्य–विधेयक नहीं होंगी। क्योंकि उक्त अनुमित्यात्मक प्रतीतियों में साध्य जलभेद या धूमाभाव प्रकार के रूप में गृहीत नहीं होते हैं। अतः वे विधेय नहीं होंगे। परन्तु उनका विधान होने से वे ही विधेय हैं। इस प्रकार की अनुमितियों में विशेष्यता को ही विधेयता के रूप में स्वीकार करना चाहिये। यदि ऐसा मानें तो उसी प्रकार की अनुमिति की विशेष्यता उसी के समान प्रकार वाली और समान विशेष्य वाली पृथ्वि–साध्यक अनुमिति में भी होने से वह अनुमिति भी इतर–भेद–विधेयक अनुमिति हो जायगी। 'इतरभेदः पृथिव्यां' इस अनुमिति में पृथ्वी साध्य के रूप में प्रतीत होने पर इतर–भेद के विशेष्य के रूप में होने पर उक्त अनुमिति इतर–भेद–विधेयक होनी चाहिये। तथापि उक्त अनुमिति इतर–भेद–विधेयक नहीं है क्योंकि यहाँ इतर–भेद विधेय के रूप में प्रतिभासित नहीं होता।

संभवतः यह माना जाय कि पृथ्वी–पक्ष वाली अनुमिति और पृथ्वी साध्य वाली अनुमिति में भासित होने वाली विशेष्यताएँ भिन्न भिन्न हैं और साध्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेष्य वाली अनुमिति की विशेष्यता को विधेयता के रूप में स्वीकार करने पर उक्त अनुमिति की आपत्ति नहीं होती है।

परंतु यह मत समीचीन नहीं है क्योंकि यदि साध्य–विशेष्यक अनुमिति में एक स्वतन्त्र विधेयतात्मक विशेष्यता स्वीकार करने पर 'इतरभेदः (जलादिभेदः) पृथिव्यां' इस प्रकार की पृथ्वी–साध्य–वाली अनुमिति में एक विधेयता–रूप साध्य में विशेष्यता मानने पर भी उसी प्रकार के प्रत्यक्ष में अन्य प्रकार की विशेष्यता और सामान्य रूप से किसी भी ज्ञान में प्रतीत होने वाली विशेष्यता, अर्थात् तीन प्रकार की विशेष्यताओं की कल्पना करने की अपेक्षा प्रत्यक्ष और अनुमिति इन दोनों में ही एक ही प्रकार की विधेयता–रूप विशेष्यता मानने पर भी तीन विशेष्यताओं की कल्पना करना आवश्यक नहीं है यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि 'प्रत्यक्ष' (पर्वत पर अग्नि है) में विधेयता–रूप एक विशेष्यता तथा दूसरी उससे भिन्न विशेष्यता मानने में कोई युक्ति नहीं है।

यह भी कहा जा सकता है कि जहाँ साध्य प्रकार (विशेषण) के रूप में प्रतीत होता है उस अनुमिति में प्रकारता ही विधेयता है', तथा साध्य जहाँ विशेष्य के रूप में प्रतीत होता है वहाँ ही विशेष्यता अतिरिक्त विधेयक के रूप में प्रतीत होती है, अनन्त साध्य–विशेष्य वाली अनुमितियों में अतिरिक्त विधेयता की कल्पना करने की अपेक्षा विशेष्यता–निरूपित प्रकारताओं की ही विधेयता के रूप में कल्पना करने में लाघव है। परन्तु यह विचार भी सुसंगत नहीं है, क्योंकि प्रकारता को ही विधेयता के रूप में स्वीकार करने पर 'पर्वतो वह्निमान, पर्वतो निर्धूमस्यात्' (पर्वत अग्निमान् है, पर्वत निर्धूम है) इस प्रकार के समूह विषयक आपत्ति रूप ज्ञान में अग्नि विधेय हो जायगा। लेकिन ऐसा नहीं है क्योंकि ऐसी स्थिति में उस आपत्ति के बाद 'पर्वत में धूम के अभाव के प्रसक्ति की आपत्ति दे रहा हूँ, अग्नि की नहीं' इस प्रकार की अग्नि को विधेय के रूप में ग्रहण न करने वाली आपत्ति की प्रसक्ति नहीं हो सकेगी, जो कि अनुभवसिद्ध है।

इसी के कारण जो लोग यह मानते हैं कि साध्य–विशेष वाली अनुमिति ही अप्रामाणिक है, तथा व्यतिरेक परामर्श स्थल में भी 'विशेष्ये विशेषणम्' इस प्रक्रिया से साध्य प्रकार (विशेषण) वाली ही अनुमिति होती है, विशिष्ट–बुद्धि–मात्र में विशेषण–ज्ञान की कारणता का सिद्धान्त अप्रामाणिक है, इसलिये साध्य में रहने वाली विशेषणता (प्रकारता) ही विधेयता है – उनका यह मत भी समीचीन नहीं है।

जगदीश ने यह मत व्यक्त किया है कि जिसकी व्याप्यवता–ज्ञान से अनुमिति उत्पन्न होती है वही अनुमिति में विधेय होता है और उसी में विधेयता नामक विषयता रहती है। उदाहरण के लिये — "पर्वत अग्निमान् हैं" यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुमिति 'अग्निव्याप्यधूमवान् पर्वत' इस परामर्श से उत्पन्न होती है। अतः यहाँ अग्नि ही विधेय है तथा उसी में विधेयता–रूप विषयता है। इसी का उल्लेख गदाधर ने भी किया है।

'दण्डिमान् दण्डिसंयोगात्' इस स्थल में दीधितिकार ने परम्परा सम्बन्ध से दण्डत्व को ही साध्यतावच्छेदक अर्थात् अनुमिति–विधेयतावच्छेदक माना है। इसके आशय को स्पष्ट करते हुए जगदीश ने कहा है कि उक्त स्थल में व्याप्ति-ज्ञान से दण्डि में दण्डत्व प्रकार के रूप में भासित हो कर 'दण्डत्ववद्वान्' ऐसी अनुमिति उत्पन्न होती है, 'दण्डिमान्' इस प्रकार दण्ड को प्रकार के रूप में व्यक्त करने वाली अनुमिति नहीं होती है, क्योंकि वहाँ दण्ड व्यापकता (साध्यता) के अवच्छेदक के रूप में ज्ञात नहीं होता है। अतः दण्ड से युक्त दण्डि विधेय वाली अनुमिति नहीं होती है।[७]

परन्तु इस मत को गदाधर[८] ने तथा आगे चल कर जगदीश[९] ने भी स्वीकार नहीं किया है। गदाधर का कथन है कि यदि प्रकारता से भिन्न अतिरिक्त विधेयता न मानें तो तत् (अग्नि) व्याप्तवत्ताज्ञान से जन्य उस परामर्श के बाद उत्पन्न तत् प्रकार वाली अनुमिति ही माननी पड़ेगी। कार्यकारणभाव के प्रसंग में तद्विधेयता का निवेश संभव नहीं है। अन्यथा आत्माश्रय दोष होगा। तद्व्याप्य-वत्ता–ज्ञान से उत्पन्न होने वाली तद्विधेयक अनुमिति के लिये तद् (विधेय) व्याप्यवत्ता–ज्ञान कारण है ऐसा कहने पर तद् की विधेय के रूप में अनुमिति होने के बिना तद् को विधेय के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकेगा।

दूसरी बात इसमें यह है कि शाब्द–बोध को सविधेयक के रूप में अनुमिति के समान नहीं स्वीकार किया जा सकेगा। क्योंकि शाब्द–बोध तद्व्याप्यवत्ताज्ञान से जन्य नहीं होता है। शाब्दबोध में प्रकारता को ही विधेयता के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। अन्यथा 'पर्वते अग्निः' इस वाक्य से उत्पन्न होने वाले शाब्द–बोध को भी अग्नि–विधेयक शाब्द–बोध के रूप में अस्वीकार करना पड़ेगा। उक्त शाब्द–बोध में पर्वत प्रकार तथा अग्नि विशेष्य है। वहाँ वह्नि में रहने वाली जो पर्वत की आधेयता है उसे विधेय मानेंगे और पर्वत में अग्नि को विधेय मानेंगे ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि शाब्दबोध में चरम (अन्तिम) निर्दिष्ट पदार्थ ही विधेय होता है। यहाँ अन्तिम निर्दिष्ट अग्नि होने से अग्नि ही विधेय है। पर्वत की आधेयता विधेय नहीं है क्योंकि वह प्रथम निर्दिष्ट है।[१०] यही कारण है कि "न्यक्कारोह्ययमेव मे पदस्य" यहाँ विधेय के रूप में तात्पर्य का विषय 'न्यक्कार' प्रथम निर्दिष्ट होने से उसका शाब्दबोध में विधेय के रूप में ग्रहण नहीं होता। अतः आलंकारिक इसे 'विधेयाविमर्श' रूप काव्य-दोष के उदाहरण के रूप में उल्लिखित करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु यहां प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि शाब्दबोध में अन्तिम निर्दिष्ट पदार्थ को विधेय मानें तो कालिदास के 'वपुर्विरूपाक्ष'[११] इस पद में आँख (अक्ष) का वैरूप्य विधेय नहीं होगा। क्योंकि वह प्रथम निर्दिष्ट है। यदि वैरूप्य-विशिष्ट अक्ष को ही विधेय के रूप में स्वीकार करें तो उसी काव्य के 'अलक्ष्यजन्मता' यहाँ पर भी अलक्ष्य-जन्मता' को ही विधेय के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में 'अलक्ष्यजन्मता' विधेय न होने से उसे अविमृष्ट विधेयांश दोष के उदाहरण के रूप में जो साहित्यिक प्रस्तुत करते हैं वह गलत होगा। इसके विषय में गदाधर का कथन है कि समास से भिन्न स्थल में चरम (अन्तिम) निर्दिष्ट पदार्थ विधेय होता है। समास स्थल में प्रथम निर्दिष्ट भी विधेय हो सकता है। 'वपुर्विरूपाक्ष' यहां समास होने से 'वैरूप्य' चरम-निर्दिष्ट होने पर भी विधेय है।

उक्त प्रकारता को ही विधेयता-रूप मानने पर कालिदास 'द्वितीय-मौर्वीमिव।[१२] यहां विधेय के रूप में तात्पर्य–विषय समासान्तर्गत पूर्व पद मानने पर जो विधेयाऽविमर्श दोष होता है उसका निवारण 'मौर्वीद्वितीयमिव' इस असमस्त पद का प्रतिपादन कर के आलंकारिकों के द्वारा किया जाता है उसके साथ विरोध होगा।

विधेयता के समान उद्देश्यता भी प्रकारता और विशेष्यता आदि से भिन्न एक स्वतंत्र विषयता है। पर्वतो वह्निमान्' यहाँ पर्वत में अग्नि में होने वाली विधेयता से निरूपित उद्देश्यता होती है, जो पर्वत में रहने वाली विशेष्यता से भिन्न है। यदि विशेष्यता को ही उद्देश्यता मानेंगे तो 'पर्वते अग्निः' इस वाक्य से होने वाला शाब्दबोध और अग्नि विशेष्य वाली अनुमिति प्रामाणिक होने से वहाँ पर्वत में उद्देश्यता नहीं होगी। क्योंकि उक्त अनुमिति में पर्वत विशेष्य नहीं है, अग्नि विशेष्य है; परंतु पर्वत उद्देश्य है। अतः उद्देश्यता को विशेष्यता से भिन्न मानना आवश्यक है।

विधेयता-निरूपकत्व को ही उद्देश्यत्व-रूप मानने पर प्रश्न होता है कि क्यों नहीं उद्देश्यता-निरूपकत्व को ही विधेयत्व मानें? और क्यों नहीं विधेयता-निरूपकत्व को उद्देश्यत्व या उद्देश्यता-निरूपकत्व को विधेयत्व मानें? इसमें कोई विनिगमक युक्ति न होने से दोनों को ही स्वतंत्र पदार्थ मानना उचित है।

इस पर गदाधर[१४] का अपना मत यह है कि विधेयता और उद्देश्यता भले ही स्वतंत्र पदार्थ हों, परंतु उन्हें विषयताभेद के रूप में स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है। 'पर्वत अग्निमान्' है इस अनुमिति में पर्वत तथा अग्नि में विषयता रूप विशेष्यता और प्रकारता स्वीकार करना तो आवश्यक है। क्योंकि प्रकारता और विशेष्यता–रूप विषयताओं को न मानने पर अनुमिति में बाध–

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञान की प्रतिबध्दता का निर्वचन करना संभव नहीं होगा। अतः प्रतिबद्ध्य-प्रतिबंधक–भाव के नियामक के रूप में उनका अस्तित्व विषयता के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है। परंतु विधेयता और उद्देश्यता को विषयता के रूप में स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

अग्रिम लेख में विषयता के अवशिष्ट कुछ भेदों का विवेचन करने के पश्चात् विषयिता के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत किया जायगा।

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे – ४११००७

बलिराम शुक्ल

टिप्पणियाँ

१. गदाधर; प्रकारताविशेषस्यैव विधेयत्वात्। गादाधर्यां, सत्प्रतिपक्ष-प्रकरणे.

२. जगदीश तर्कालंकार; विधेयत्वं तु न प्रकारतानियतम्। पक्षताप्रकरणे

३ गदाधर; प्रकारतादिवत् विधेयत्वमपि विषयान्तरं नतूक्तप्रकारत्वमेव तत्। विषयतावादे

४ अथ विशेष्यतावच्छेदकताभिन्न मुख्यविशेष्यतानिरूपित प्रकारतैव विधेयता। वही

५. यत्तु साध्यविशेषणकानुमितौ क्लृप्तनिरुक्तप्रकारतैव विधेयता। वही

६. जगदीश; यद्व्याप्यवत्ताज्ञानजन्यत्वमनुमितौ तदंशे एव विधेयत्वाख्य-विषयतास्वीकारात्। पक्षताप्रकरणे

७. जगदीश; तथाचोक्तव्याप्तिज्ञानात् दण्ड्यंशे दण्डत्वप्रकारिका दण्डत्व-वत्वनित्येवानुमितिर्न तु दण्डिमान् इति दण्डप्रकारिकाऽपि, तस्य व्यापक-तावच्छेदकत्वेनाग्रहात् कारणबाधेन तदवच्छिन्न विधेयताकानुमित्य-संभवात्। सिद्धान्तलक्षणे

८. गदाधर; यतोऽतिरिक्त विधेयतानभ्युपगमे तद्व्याप्यवत्तानज्ञानस्य स्वान्तरोत्पन्न तत्प्रकारकानुमितित्वादिकमेव जन्यतावच्छेदकं वाच्यम्। विषयतावादे

९. जगदीश; किन्तु पर्वते वह्निः, पर्वतो वह्निमान् इत्याद्यनुमितौ पर्वते वह्नि अनुमिनोमि नतु वह्नौ पर्वतमित्याद्यनुभवसाक्षिको विषयता-विशेषः। पक्षताप्रकरणे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१०. गदाधर; शाब्दबोधे चरमनिर्दिष्टस्यैव विधेयत्वात् । विषयतावादे

११. वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि ! मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ।।
कालिदास; कुमारसम्भवे ५.७२

१२. स्रस्तां नितम्बादवलम्बमाना
पुनः पुनः केसरपुष्पकाञ्चीम् ।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण
द्वितीय मौर्विमिव कार्मुकस्य ।। वही, ३.५५

१३. गदाधर; विधेयतावत् तन्निरूपितोद्देश्यतापि प्रकारतादिवत् भिन्नविषयताविशेष एव । विषयतावादे

१४. इदन्त्ववधेयम् – अस्तु विधेयत्वमुद्देश्यत्वञ्चातिरिक्तं तयोर्विषयतात्वे मानाभावः । वही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श (हिन्दी) खण्ड १२ के योगदाता

अंक १; दिसम्बर, १९९०

मधु कपूर : अर्थ-एकवाक्यता : व्युत्पत्तिवाद के परिप्रेक्ष्य में १
मो. प्र. मराठे : अनुसन्धान की दिशाएँ: जैन-विद्या के सन्दर्भ में २५
हरिहरप्रसाद गुप्त : षड्ऋतु-वर्णन : पद्मावत के दो छन्द: काव्यमर्म ३५
राममूर्ति त्रिपाठी : काव्य में धर्मि-धर्म-भाव का विचार ४५
प्रभा शर्मा : सौन्दरनन्द महाकाव्य में विभावों की अभिव्यक्ति ५०
बलिराम शुक्ल : नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (१७) विषयता (iii) ५५

अंक २, मार्च, १९९१

राममूर्ति त्रिपाठी : पूर्वरंग की व्याप्ति और पाठप्रयोग ७३
चन्द्रप्रकाश श्रीवास्तव : मानवीय नियती और सत्य ८१
सीमा मुन्शी : अभिधर्मकोश (प्रथमकोशस्थान) में स्कन्ध की परिभाषा ८७
ज़रीना रहमत : हिन्दी मसनवियों में इस्लामी धर्म-दर्शन ९५
हरनामसिंह अलरेजा : सांख्य की मूल प्रकृति की संकल्पना ९९
छाया राय : प्रोफेसर देवराज का व्यक्ति-संबंधी सिद्धान्त : एक समीक्षा १०७
बलिराम शुक्ल : नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (१८) विषयता (iv) ११७

अंक ३, जून, १९९१

रामसनेहीलाल शर्मा : हिन्दी नवगीत में मिथकीय सन्दर्भ : प्रयोग और औचित्य १४५
राधावल्लभ त्रिपाठी : साहित्य का प्रामाण्य १५७
हरिहरप्रसाद गुप्त : 'पद्मावत' का उपसंहार : पाठ और अर्थ १६५
कौस्तुभानन्द पाण्डे : औद्धव-मत में प्रत्यक्ष प्रमाण का विचार १७३
मधु कपूर : व्यक्ति-वाची संज्ञायें और उनके अर्थ १८१
बलिराम शुक्ल : नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (१९) विषयता (v) २०९

अंक ४, सितम्बर, १९९१

राधावल्लभ त्रिपाठी : रसस्वरूपविचार २१७
ब्रजनारायण शर्मा : 'भगवान्' तथा 'ईश्वर' पदों का विश्लेषण २३५
रज्जन कुमार : जैन दर्शन में जीव द्रव्य की विशिष्टता २४३
शोभा निगम : वल्लभ-सम्प्रदाय में ब्रह्म-सम्बन्ध की अवधारणा २५३
कुसुम कुमारी : बौद्ध-धर्म : मानवीय मूल्यों का धर्म २५७
देवेन्द्रनाथ तिवारी : संख्या का विचार : वाक्यपदीय के सन्दर्भ में २६४
बलिराम शुक्ल : नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (२०) विषयता (vi) २८१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

२१५. प्रोफेसर विष्णुकान्त शास्त्री
२८०, चित्तरञ्जन एवेन्यू
कलकत्ता – ७००००६

111908

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१११९०८

Compiled
1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri